भूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणमहीधर-भाष्य-
शान्तिक-हिन्दी-रूपान्तर-शिनोटिप्पणी-वैदिक-
स्वर-व्याकरण पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्

(ऋ० १।१५४, ७।१८ १०।९० सूक्तानि, य० ३१,
पारस्करीयोपनयनसूत्राणि च)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (पं० रघुवर दयाल गोल्डमैडलिस्ट)
पी० एच-डी०, बी० ए० ऑनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,
[illegible]

आचार्य संस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर

भारती  मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

विस्तृतभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणमहीधर-भाष्य-
शाब्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुप्रकाशिनीटिप्पणी-वैदिक-
स्वर-व्याकरण-पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्

(ऋ० १।१५४,२,१२,१०।९० सूक्तानि, य० ३१,
पारस्करीयोपनयनसूत्राणि च)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (पं० रघुवर दयाल गोल्डमैडलिस्ट)
पी० एचडी०, बी० ए० ऑनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,
केरल कोयल वर्मा वलिया तम्पुरन स्वर्णपदकी

आचार्य, संस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर



भारती मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

प्रकाशक :—
भारती मन्दिर
अनुसन्धान शाला
४ हीरापुरी, गोरखपुर।

मूल्य रु० ८/२५ न.पै.

मुद्रक

गोरखपुर :—

१. भारत प्रेस, हांसूपुर—कोष, मुख्यपृष्ठ, विषयसूची, उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ आदि पृ० १—६०।

२. नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, गोलघर—उपनयनसूत्राणि पृ० १—२८; अवसूक्तानि —भूमिका पृ० १—२६

वाराणसी :—

३. ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काल भैरव मार्ग—विष्णु और पुरुष सूक्त, आदि पृ० १ अ से अन्त तक।

४. मास्टर प्रिंटिंग वर्क्स, ६३।३४ बुलानाला—इन्द्रसूक्त

५. भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन—उपोद्घात, उपनयनसूत्रों की भूमिका अवसूक्तों की भूमिका, पृ० २७ से ७२

विषयसूची

(तीनों परिशिष्टों की इस सूची मे दाहिनी ओर कोष्ठकों मे संदर्भसंख्या दी गई है।)

ॐ ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

उपोद्घात

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग हैं —

१—पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि २ ऋक्सूक्तानि (य० ३१ च) । दोनों भागों की भूमिकाएँ, टिप्पणियाँ और अनुक्रमणिकाएँ पृथक्-पृथक् रक्खी गई हैं । उपनयन सूत्रों की भूमिका में ऋक्सूक्तों की टिप्पणियों के निर्देश किए गए हैं और ऋक्सूक्तों की भूमिका और टिप्पणियों में उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों की ओर अनेक बार निर्देश किया है । अतः दोनों भाग स्वतन्त्र प्रतीत होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

२—इस सस्करण में पारस्करगृह्यसूत्र के दो सस्करणों का उपयोग किया गया है —

(अ) पारस्करगृह्यसूत्रम्—श्री वेदाचार्यविजयचन्द्रशर्मकृतटिप्पणिभिः समलङ्कृतम्—श्रीवेंकटेश्वर स्टीमयन्त्रालय, बम्बई स० १९८५ वि० ।

(आ) पारस्करगृह्यसूत्र पञ्चभाष्योपेत महादेवशर्मणा सस्कृतम्—गुजराती प्रेस, बम्बई, १९७२ वि० ।

३—दोनों सस्करणों में कुछ भेद है जो इस प्रकार है —

(१) आ में अधिकाश स्थलों पर ॅ के स्थान पर 'ँ' का प्रयोग किया गया है। प्रकृत मूल में ऐसे स्थल पर * चिह्न दिया गया है।

(२) कुछ स्थलों पर ॅ को आ में ॐ पढा है । ये स्थल † चिह्न से चिह्नित हैं ।

(३) सूत्र० १४, १०८, से १२४ आ में नहीं है।

(४) आ में ८९ और ९० की संख्या क्रमशः ९० और ८९ है।

४—इस संस्करण में 'अ' के पाठ को ही ग्रहण किया गया है। कोष्ठकों में रक्खे हुए पाठ दोनों संस्करणों में पाये जाते हैं, परन्तु उन को सब भाष्यकार सूत्रकार को अनभिमत मानते हैं। सूमं० १०८–१२४ भी इसी श्रेणी में हैं। छापे में उन में कोष्ठक रह गए हैं।

५—अ और आ में कण्डिकाओं की संख्या के अंकन में भी अन्तर है। अ में यह प्रकरण ३–७ कण्डिकाओं में है, और 'आ' में २–५ में। इस संस्करण में दोनों की संख्या दी गई है।

६—अ में सूत्रों पर अंक नहीं हैं। कण्डिका ३–६ में आ के अंक दाई ओर हैं। कण्डिका ७ में भी अंकन कर दिया गया है। इस संस्करण में बाई ओर प्रत्येक सूत्र और मन्त्र पर अविकल संख्या दी गई है। अनुवाद, टिप्पणियों, भूमिका आदि में सर्वत्र इस अविकल संख्या का प्रयोग सौकर्य की दृष्टि से किया गया है।

७—अनुवाद और टिप्पणियों में पं० सुखदेव शर्मा के हिन्दी अनुवाद, हरिहर आदि के पांच प्राचीन भाष्यों, संस्कारचन्द्रिका तथा संस्कारविधि से पुष्कल सहायता ली है।

८—दोनों भागों—उपनयन सूत्रों और ऋक्सूक्तों की भूमिकाओं में दोनों से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रामाणिक झनतिविस्तृत वर्णन किया गया है। अपने विचारों के लिए पादटिप्पणि में पुष्कल प्रमाण भी दिए हैं। इन विचारों में अपनी नई खोजों को समाविष्ट कर दिया है।* यहाँ वर्णित विषयों का ज्ञान विषयसूची पर दृष्टि डालने से हो सकेगा।

---

*परमपूज्यगुरुजी श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी का आदेश है कि अपनी विचारधाराओं का समावेश करते हुए वैदिक साहित्य का एक इतिहास लिखूं। वेदविषयक यह भूमिका उसी आदेशपालन का एक अंश है।

९—उपनयन सूत्रों के इस संस्करण की टिप्पणियों और अनुवाद में वेदमन्त्रों के अर्थ यावदद्य ज्ञात भाष्यकारों से अनुभूति लेते हुए भी उनसे पर्याप्त भिन्न हैं। इस में मेरा प्रयास वेंकट माधव के समान कोई नया सम्प्रदाय चालू करने का नहीं है। मैं ने केवल क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्र के अर्थ में समन्वय के प्राचीन नियम को चरितार्थ करने का प्रयास किया है। कर्मकाण्ड के ग्रन्थों के भाष्यकार बहुधा इस नियम का पालन करने में सफल नहीं हो पाए हैं। इस में मैं न तो सफलता की उद्घोषणा करता हूँ, न अर्थों की इयत्ता की। हाँ, एवंविधता का विश्वास अवश्य है। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ यदि इस प्रकार न किए जाएँ तो क्रियाएँ और मन्त्रों के अर्थ असम्बद्ध रह कर अभीष्ट फल देने से ही वञ्चित नहीं रहते, प्रत्युत अनिष्ट के कारण भी बन जाते हैं। अतः भाष्यकारों के विभिन्न दृष्टियों से कर्मकाण्ड के प्रकरण में असंगत अर्थ यहाँ अवाञ्छनीय और अप्रासंगिक हैं।

१०—उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों में अपने अनुवाद के आधारों को देने के साथ ही भाष्यकारों के मतों का निर्देश भी किया है। यथास्थल उन की आलोचना भी की है। संस्कार की क्रियाओं आदि के मूल भाव को खोलने का प्रयत्न भी किया है। दण्ड, वस्त्र, अजिन आदि पर नई दृष्टि से सप्रमाण नए विचार प्रस्तुत किए हैं। उपनयन के सांस्कृतिक महत्त्व को समझने में ये टिप्पणियाँ उपयोगी हो सकें इसी भावना से इन्हें सुविस्तृत बनाया है। अन्त में पदों और विषयों की एक अनुक्रमणिका भी दी है।

११—इस ग्रन्थ में संकलित ऋग्वेद के सूक्तों के मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद प्रायः सायण और आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों की शैली पर दिया है। बहुधा आधुनिक विद्वानों के अर्थों की अपेक्षा सायण के अर्थ अधिक स्पष्ट, संगत और बोधगम्य हैं। ऐसे स्थलों पर सायणीय व्याख्यान को अपनाया है। अनुवाद में हिन्दी के शब्दों का चुनाव टिप्पणियों में दिए

गए अपने सुझावों के अनुरूप करने का प्रयास भी किया है। अपने विचारों को टिप्पणियों में व्यक्त किया है, सामान्यतः उन्हें हिन्दी अनुवाद में समाविष्ट नहीं किया है। इस के दो लक्ष्य हैं :—

१. विद्यार्थियों को परीक्षा की दृष्टि से मन्त्र का विवादहीन ग्राह्य अनुवाद मिल जाए। २. सामान्य पाठकों को सायणीय और आधुनिक शैली के अनुवादों का साक्षात् परिचय हो जाए। टिप्पणियों में आधुनिक विद्वानों के विचारों को समाविष्ट करते हुए नैरुक्त शैली पर ब्राह्मण ग्रन्थों और वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रमुख पदों और पदसमूहों की व्याख्या की है। समस्त मन्त्रों का अर्थ पाठक स्वयं कर सकेंगे। टिप्पणियों में प्रदत्त ये व्याख्यान वैदिक विद्वानों के विचार के लिए अनेकविध सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन में अनेकों वेदविषयक मान्यताओं के स्थान पर नए और युक्ति-प्रमाण-संगत सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं। इसी कारण इस संकलन का नाम 'वेदलावण्यम्' (√लू से) रखा गया है। यह संस्करण इस दृष्टि से अन्य संस्करणों से विलक्षण और शोधभूयिष्ठ है। विद्यार्थी टिप्पणियों को समझ कर परीक्षा में दे कर अधिक अंक प्राप्त कर सकेंगे।

१२—देवताओं पर लिखी गई टिप्पणियों में प्रकरणोचित अर्थ का विवेचन करने के लिए जितनी सामग्री आवश्यक थी उतनी ही दी गई है। उन के अन्य स्वरूपों और व्युत्पत्ति आदि का विवेचन सामान्यतः छोड़ दिया गया है। उन के दार्शनिक स्वरूप का परिचय डा० फतहसिंह ने वैदिक दर्शन में बड़ी उत्तम रीति से दिया गया है। देवताओं के स्वरूप और व्युत्पत्ति का ज्ञान उन के ग्रंथ दी वैदिक ऐटिमोलोजी से प्राप्त किया जा सकता है।

१३—सामान्यतः आजकल के अधिकांश विद्वान् ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवृत्त की हुई वेदभाष्यशैली को उसे अवैज्ञानिक कह कर उपेक्षा करते हैं और उन के वेदभाष्यों तथा उन की भूमिका को साम्प्रदायिक कह कर उस से दूर रहते हैं। परन्तु दयानन्दभाष्य के प्रति उन के उपरोक्त उद्गार उन के

अपने ज्ञान, मस्तिष्क और हृदय का चित्र उपस्थित करते हैं दयानन्द-भाष्य के दोषों का नहीं। यद्यपि वेदाध्ययन के तमिस्र युग में सायण और उवट-महीधर आदि ने वेदज्ञान के दीपक को प्रज्वलित रख कर हम पर महान् उपकार किया है तथापि उन के भाष्य और शैली वैदिक ज्ञान की गरिमा को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं। यह बात विशेष रूप से कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों पर लागू होती है। इन मन्त्रों के अर्थों और उन के विनियोग की तुलना से उन में बहुधा कोई सम्बन्ध पता नहीं चलता है। ब्राह्मणों का मत है कि मन्त्र और क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति, में या तो मन्त्र के अर्थ में परिवर्तन किया जाए या क्रिया को बदला जाए तब ही ब्राह्मण का लेख सार्थक होगा। क्रिया परम्परा से चली आ रही है। उस में परिवर्तन से महान् अव्यवस्था आ जाती है। अतः मन्त्र के अर्थों को ही क्रिया के अनुसार करना आवश्यक हो जाता है। यह अर्थान्तर केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली से सम्भव है। अन्य किसी शैली से नहीं। इस तथ्य का क्रियात्मक रूप उपनयनसंस्कार में विनियुक्त मन्त्रों के इस ग्रंथ में दिए गए अनुवाद और टिप्पणियों में स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा।

१४—अतः इस संस्करण के उपनयन में विनियुक्त मन्त्रों के अनुवाद और टिप्पणियों से यह सरलता से ज्ञात हो जायगा कि ऋषि दयानन्द का वेदार्थ और वेदार्थशैली अग्राह्य और अस्पृश्य नहीं है, प्रत्युत वे प्रयोज्य अनुकरणीय, मननीय और लाभकारी हैं। इस वेदभाष्य से अनेकों वैदिक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं और वेद का प्राचीन गौरव दृष्टिपथ में आने लगता है।

१५ यह ग्रन्थ आर्यसमाज आदि धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्र में कार्य करने वाले वैदिक पण्डितों को भी कार्य करने की एक नई प्रणाली और क्षेत्र का दिग्दर्शन कराने वाला होगा। आर्यसमाज की संस्थाओं में गम्भीर वैदिक

साहित्य के सृजन की मात्रा पर्याप्त अल्प है और उस की शैली भी कुछ परिवर्तन की अपेक्षा रखती है।

१६. टिप्पणियों में पद-पद पर अनेकों ग्रन्थों के प्रमाण और उद्धरण दिए हैं। बहुत से ग्रन्थों के स्थलों को देखने का सुझाव दिया गया है। परीक्षार्थी प्रश्नपत्रों के उत्तरों में इन सब को छोड़ दें। इन प्रमाणों का याद करना अनावश्यक है। यदि इस ग्रन्थ से उन में वेदाध्ययन के लिए रुचि जागृत हो गई तो ये प्रमाण उन को सहायक होंगे। यही स्थिति ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत पदों के अनेकविध अर्थों की है। उन सब को याद करना आवश्यक नहीं। यह सब सामग्री विद्वानों के विवेचन, विषय को सप्रमाण करने और आगे अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने के लिए है।

१७. इस ग्रन्थ में मेरे दीर्घव्यापी अध्ययन और खोजों की छाप बहुधा दिखाई पड़ेगी। विद्वानों को इस की अनेकों पंक्तियों के पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए मेरे पुराने लेखों और रचनाओं के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होगी। ऐसे स्थलों पर बहुधा अपने विचारों को कुछ विस्तार से वर्णन करने और पादि० या कोष्ठकों में अपनी रचनाओं के सम्बन्धित स्थलों का निर्देश करने का प्रयास किया है।

१८. ऋग्वेद के सूक्तों में बाईं ओर मन्त्रों की अविकल क्रमिक संख्या और दाईं ओर सूक्त में मन्त्र की संख्या दी है। यजुर्वेद की संख्या जहां भिन्न है वहां मन्त्र के नीचे लिख दी है। ग्रन्थ में प्रमाणों में बहुधा और अनुक्रमणिकाओं में सर्वत्र अविकल संख्या का ही प्रयोग किया गया है।

१९. उपनयन सूत्रों के इस संस्करण में मन्त्रों पर स्वर चिह्न नहीं लगाए जा सके हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र के संस्करणों में मन्त्रों पर स्वरचिह्न दिए भी नहीं गए हैं।

२०. सूक्तों में मन्त्रपाठ, पदपाठ और टिप्पणियों के पदों में स्वर दिए

गए हैं। बी० ए० और एम० ए० दोनों ही श्रेणियों में पदपाठ पूछा जाता है। अत स्वरों के चिह्नों का परिज्ञान भी नितरां आवश्यक है। वैदिक व्याकरण पर भी प्रश्न पूछे जाते हैं। वैसे भी मन्त्रों की भाषा को समझने के लिए वैदिक व्याकरण का ज्ञान परम वाञ्छनीय है। अत इन दोनों विषयों का संक्षिप्त, समस्त, स्पष्ट और आवश्यक परिचय यहाँ सकलित मन्त्रों से उदाहरणों के साथ ऋग्वेद के सूक्तों के अन्त में दिया गया है।

२१ इस प्रकार इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण और सभी विश्वविद्यालयों में प्रयोग किए जाने योग्य बनाया है। यदि यह संस्करण विश्वविद्यालयों में आदृत हुआ तो और अधिक मन्त्रों और सूक्तों पर लिखने का साहस करना संभव हो सकता है।

२२ स्वतन्त्रता से पूर्व वैदिक और संस्कृत के विद्वानों में एक विशेष गुण या परिपाटी थी—दूसरों के लेखों और ग्रन्थों आदि का गम्भीर अध्ययन कर उन पर अपने-अपने विचार प्रकाशित करना और ऐसे विचारों की आलोचना प्रत्यालोचना। सद्भावनापूर्ण यह शैली अध्ययन और ज्ञान को विस्तृत करने का अत्युत्तम उपाय थी। परन्तु आज इस शैली का प्रचलन पर्याप्त कम हो गया है। इस में सद्भावना के ह्रास के साथ अहंभाव भी बहुत बढ़ गया है। यदि कोई देव इस रचना की एवंविध सद्भावनापूर्ण आलोचना करें तो उस की एक प्रति विचारार्थ प्राप्त कर उन का परम अनुगृहीत रहूँगा।

२३ भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में बी० ए० में वेद पढ़ाने की परिपाटी अंग्रेजों के काल से चली आ रही है। यद्यपि अंग्रेजों का लक्ष्य निर्व्याज रूप से भारतीय साहित्य और संस्कृति से न्याय करना नहीं था तथापि उन्होंने वेदाध्ययन का क्रम चालू किया जो उन के शासनकाल में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

२४ परन्तु स्थितियाँ बदली। अंग्रेज चले गए। स्वतन्त्रता आई।

देश ने अनेक क्षेत्रों में उन्नति प्रारम्भ की। शिक्षा का क्षेत्र भी अपवाद न रह सका। परन्तु इस उन्नति में भी वेदाध्ययन का ह्रास-सा लक्षित होता है। कई स्थानों पर बी० ए० स्तर पर वेद का पठनपाठन नहीं होता है। कई विश्वविद्यालयों में वेदप्रेमी विद्वानों के कार्यवाहक होने पर भी वेद का वर्ग नहीं है। कई स्थानों पर पाठ्य-प्रणाली में वेद का वर्ग होने पर भी अध्यापन की व्यवस्था नहीं है। परिणामतः आज वेद से सुपरिचित विद्यार्थी विश्वविद्यालयों से अपेक्षाकृत कम निकलते हैं।

२५. आज का विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से पढ़ना चाहता है। इस माध्यम में वेद पर ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। इस कारण भी विद्यार्थी वेदाध्ययन से घबराते हैं। उन के लिए उपयुक्त सामग्री हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करना आधुनिक अध्यापक का पवित्र कर्तव्य है।

२६. गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक संचालकों ने पिछले वर्ष का पाठ्यक्रम इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसार निर्धारित किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० में वेद का पर्याप्त अंश पढ़ाया जाता है। परन्तु वहाँ के किसी अध्यापक ने अथवा अन्य किसी ने उस भाग को हिन्दी या अंग्रेजी के माध्यम से विद्यार्थियों और जनता तक पहुँचाने का प्रयास नहीं किया। श्री रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री और डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने उपरोक्त वेदभाग को सायण और उव्वट आदि के भाष्यों और एक भूमिका के साथ प्रकाशित कर पर्याप्त उपकार किया है, परन्तु उस से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति पर्याप्त दूर रही है।

२७. इधर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इस वर्ष अपने पाठ्यक्रम में पर्याप्त परिवर्तन किया [illegible] स परिवर्तन के फलस्वरूप वेद का पाठ्यक्रम बहुत बदल गया है। इस [illegible] केवल ऋग्वेद के तीन सूक्त १।१५४, २।१२ और १०।९० रह गए हैं। [illegible] थ ही इस में पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों को भी नियत किया गया है। यह पाठ्यसामग्री पूर्व की अपेक्षा

किञ्चित् कम होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस से विद्यार्थियों का वेद के ईश्वर और सृष्टिविषयक दार्शनिक विचारों, प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक सम्प्रदायों और शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय वैदिक संस्कृति की पर्याप्त झाँकी मिल जाती है। वैसे भी थोड़े पाठ का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन लम्बे पाठ के चलते अध्ययन से कोटिश उत्तम है। अतः पाठ्यक्रम का यह परिवर्तन अवाञ्छनीय नहीं है।

२८ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इस समय तक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो विद्यार्थियों को रोचक और गम्भीर शैली में वेद के विषय में विद्वानों के विचारों को पहुँचा सके। पिछले वर्ष के पाठ्यक्रम के परिवर्तन के फलस्वरूप भी एक नए संग्रह की आवश्यकता हो गई है। इस रचना में इन दोनों ही लक्ष्यों को पूरा किया गया है। यदि विद्यार्थियों को इस से अभीष्ट सहायता मिल सकी और उन में वेदाध्ययन की प्रवृत्ति जागृत हो सकी तथा वैदिक विद्वानों और जनता को अपने अपने अनुरूप सामग्री मिल सकी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

२९ इस संस्करण के तैयार होने में पर्याप्त समय लगा है। शीघ्रता के लिए कई प्रेसों में छपाई का प्रबन्ध कराने पर भी इस के प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। मेरी अपनी व्यस्तताएँ और अध्यापनकार्य भी इस देरी में सहायक रहे हैं। इस बीच में इस ग्रन्थ में संकलित अंशों के अन्य सस्ते संस्करण भी निकले हैं। इस संस्करण की उन से तुलना ही इस की उपादेयता को हृदयंगम करा देगी। साथ ही मूल्य के अन्तर का भी समाधान कर देगी।

३० इस ग्रन्थ के मुद्रण में भारत प्रेस, ज्योतिष प्रकाश प्रेस और भार्गव-भूषण प्रेस ने बड़ी तत्परता से कार्य किया है। अन्तिम दो प्रेसों ने इस पुस्तक में उन के यहाँ छपे भाग के लिए नियमित दरों पर कागज भी दिया है। इस के लिए उन का परम अनुगृहीत हूँ।

३१. स्थानीय गीता प्रेस की दुकान से इस पुस्तक के लिए कागज देने का प्रयास किया गया। परन्तु उन्हों ने असमर्थता प्रकाशित की। श्री करमचन्द थापर के कर्मचारी से सदा कागज न होने का उत्तर मिला। अतः इस में बहुत-सा कागज पर्याप्त अधिक दामों पर ले कर लगाया गया है। विभिन्न स्थानों से विभिन्न मिलों का कागज होने से उन में अन्तर होना स्वाभाविक था।

३२. नैशनल प्रेस और मास्टर प्रेस का भी परम आभारी हूँ। उन के सहयोग के बिना पुस्तक इतनी शीघ्र छपनी संभव नहीं थी।

३३. वेदभाग की पदानुक्रमणिका की परचियाँ मेरे प्रिय विद्यार्थियों—श्री अभयनन्दन पाण्डेय, श्री रमाशंकर शुक्ल और श्री रामसुरेश पाण्डेय ने बनाईं।

३४. ग्रन्थरचना-काल में रोगग्रस्त मेरी यशस्वी पत्नी श्री शकुन्तला गुप्ता ने अपनी उपेक्षा को सहर्ष स्वीकार कर मेरी परम सहायता की है। उन्हीं ने ही इस ग्रन्थ के मुद्रण आदि की व्यवस्था की देखभाल भी की है। प्रेस से प्रूफ लाने ले जाने में मेरे पुत्र चि० सुबोधकुमार गुप्त और मेरी पुत्री चि० सुकेशीकुमारी गुप्ता ने बहुत सहायता की है।

३५. जैसा पहले संकेत किया गया है इस रूप में इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा अपने गुरु डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के आदेश से मिली और अनुभूति डा० फतहसिंह की रचनाओं से। उन्हीं प्रेरणाओं के कारण यह पुस्तक रची गई अन्यथा सर्वत्र मात्सर्य के वातावरण में ईर्ष्या और द्वेष मोल लेने और आर्थिक लाभ की मृगमरीचिका में भटकने आदि के अतिरिक्त सांसारिक दृष्टि से ऐसे ग्रन्थों की रचना से और कोई लाभ होना है यह संदेहास्पद है। श्री भैरवनाथ झा उप कुलपति गोरखपुर विश्वविद्यालय की गुणग्राहकता ने भी मुझे इस धारा में गतिशील किया है।

३६ इस ग्रन्थ के प्रणयन में मैंने अनेक ग्रन्थों से सहायता ली है। अधिकांश ग्रन्थों का निर्देश पाद टिप्पणियों और संक्षेपसूची में कर दिया गया है। फिर भी बहुत-से ग्रन्थों का नाम नहीं दिया गया है।

३७ इन सब का हृदय से परम आभारी हूँ।

३८ स्खलन मानव स्वभाव है। अतः इस में अनेक भूलें रही होंगी। उन के उत्तरोत्तर परिष्कार का प्रयास करना मेरा कर्तव्य और लक्ष्य है। शेष ईश्वराधीन है। जो विज्ञ गुणग्राही जन उन पर दृष्टिपात कर सुधार का मार्ग दिखाएँगे उन का परम ऋणी रहूँगा।

३९ अन्त में परम पिता परमात्मा को हार्दिक धन्यवाद है। उन की कृपा से ही मा ये सब विचार मिले हैं—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्,
उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

४ हीरापुरी, गोरखपुर
२३।२।५९

सुधीरकुमार गुप्त



वेदलावण्ये

पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि

भूमिका

संस्कार

१—संस्कार पद सम + कृ करना से बनता है—संवारना, शुद्ध करना, निखारना, अपने अनुरूप करना, अथवा प्रभावित करना। प्राणी जो कुछ भी करता, सुनता, देखता और अनुभव करता है उस का प्रभाव उस के मस्तिष्क में रह जाता है। शनैः शनैः यह प्रभाव जमा होते होते एक दृढ़ रूप प्राप्त कर लेता है और प्राणी को अपने वश में कर कठपुतली के समान अपनी धारा में चलाने लग जाता है। प्राणी उस कर्म से बचना चाहता हुआ भी अज्ञात रूप से उसे करता जाता है। ये अज्ञात शक्तियाँ ही संस्कार कहलाती हैं।

२—अतः संस्कार मानव की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं। मानव अकेला न विचरण करता है न सोचता है। वह सामाजिक प्राणी है। औरों से प्रभावित होता है और उन को प्रभावित करता है। इस प्रकार एक जैसी प्रवृत्तियों और विचारधारा वाले व्यक्तियों को एक समान समाज का अंग समझा जाता है और इन प्रवृत्तियों और विचारों को ही उस समाज और उन उन व्यक्तियों की संस्कृति कहते हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य के संस्कार ही उस की और उस के समाज की संस्कृति है।

३—वैदिक संस्कारों के समय कुछ क्रियाएं की जाती हैं, मन्त्र बोले जाते हैं और संस्क्रियमाण व्यक्ति के मस्तिष्क पर उन बातों का प्रभाव डाला जाता है जिन से वह संस्क्रियमाण व्यक्ति अब तक अपरिचित था। संस्कृत व्यक्ति उस अपरिचित कर्म के प्रभाव को तो ग्रहण करता ही है, साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि वह समाज के अन्य व्यक्तियों से पृथक् नहीं

है, उन के सदृश ही है। संस्कार-काल में प्राप्त सम्मान उस में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं और वह अपने को किसी कर्मविशेष के योग्य और उस के लिए अधिकृत समझने लगता है। उपस्थित जन भी संस्कार की क्रिया से प्रभावित होते हैं और उन्हें अपने समय में किए गये संस्कार की क्रियाएँ याद आ जाती हैं।

४—प्रत्येक संस्कार में अन्य विशिष्ट कर्मों के साथ यज्ञ भी किया जाता है। यज्ञ का एक प्रत्यक्ष कार्य है—अग्नि में पड़ी हुई वस्तु जिस प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो कर सर्वत्र फैल जाती है और सब का कल्याण करती है उस प्रकार संस्कृत और उपस्थित जन भी अपने को जनहित में लगाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

५—कुमारावस्था में बालक में शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। उसमें शनैः शनैः कामविकारों का उदय भी होता है। ये परिवर्तन और विकार पूर्वजों द्वारा संयमित किए जाने परम आवश्यक हैं अन्यथा इस अवस्था में बालकों में उच्छृंखलता के प्रवेश कर जाने से समाज की व्यवस्था को महान् क्षति पहुँचती है। अतः उसे आत्मसंयम के साथ अपने प्रति और समाज के प्रति कर्तव्यों की शिक्षा और उन पर आचरण कराने का अभ्यास डालना परम आवश्यक है। यह अभ्याससम्पादन उपनयन से प्रारम्भ हो कर शिक्षाकाल में सम्पादित किया जाता था।

६—पारस्कर का अभिमत उपनयन संस्कार[१] की विधियों का संक्षेप आगे दिया जायगा। इस का जो व्याख्यान टिप्पणियों में दिया गया है उस से

---

१. गृह्यसूत्रों में विद्यारम्भ संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन-काल में सम्भवतः इस की आवश्यकता नहीं थी। वहाँ माता-पिता की जागरूकता से खेल-खेल में बालक अक्षर-लिपिज्ञान आदि प्राप्त करते रहे होंगे। अतः उपनयन से ही उन की शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। जैसा

यह अनायास ही समझा जा सकता है कि उपनयन की समस्त क्रियाओं में गूढ़ भाव निहित हैं। ब्रह्मचारियों को उन सब भावों को हृदयंगम कराने से वे न केवल आत्मसंयमी और कुल के दीपक सिद्ध हो सकते हैं, प्रत्युत राष्ट्र और मानवता के परम हितकारक बन सकते हैं। उन में लघुता और क्षुद्र आत्मीयता, साम्प्रदायिकता और स्वार्थपरता की भावनाएं समाप्त हो कर उदात्त भावनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। आजकल उपनयन संस्कार तो किए जाते हैं, परन्तु उस काल में उपनयन की विधियों का भाव और उन का गम्भीर सन्देश बालकों को हृदयंगम नहीं कराया जाता है। आगे की शिक्षा में भी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में उदात्त भावों के व्याख्यान और आचरण के लिए गौणातिगौण स्थान होने से युवकों की प्रवृत्तियां बहुधा अवाञ्छनीय धाराओं में बहती हुई दिखाई पड़ती हैं।[1] उपनयन का ठीक प्रकार से सम्पादन और उस के उत्तर काल में बालकों के चरित्र-निर्माण और कर्त्तव्य-परायणता पर ध्यान देने से देश के सामने उपस्थित अनेक समस्याएं सुविधा से हल हो सकेंगी।

टिप्पणियों में लिखा गया है आयु का विधान धीरे-धीरे पांच वर्ष से आगे बढ़ता गया। कालान्तर में घरेलू शिक्षा सम्पन्न न होने पर विद्यारम्भ संस्कार भी चालू हो गया—हिन्दू-संस्कार, राजबली पाण्डेय, पृ० १३७-१४० भी देखें।

१ ऐसे व्यक्ति वेद की परिभाषा में परमातिपरम पापी होते हैं—केवलाघो भवति केवलादी। अत ये महापातकियों से भी निकृष्ट होते हैं।

२ डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि पहले उपनयन संस्कार सब के लिए अनिवार्य नहीं था। (पृ० १५७)। इस का धार्मिक महत्त्व था, सामाजिक नहीं। उन का यह लेख विचारणीय है। आगे दिए संहिताओं में उपनयन विषयक विवेचन से और ब्राह्मणों के विवरण की दृष्टि से इसे मानना सम्भव नहीं। डा० पाण्डेय का यह भी कहना है कि कालान्तर में

अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता

७—संसार की समस्त जातियों में संस्कारों का विशेष महत्त्व पाया जाता है। अविकसित सरल संस्कृति वाली जातियों में कुमारों का अपनी संस्कृति में संस्कार सार्वत्रिक है। इस से वे अपनी सामाजिक एकता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। जब उन की संस्कृति या हितों पर अन्यों के सम्पर्क आदि से आघात पहुँचता है, तब वे इस उपनयन संस्कार को परम कट्टरता से सम्पादित करते हैं। वहाँ उपनयन संस्कार न कराने वाले व्यक्तियों और बालकों का तिरस्कार होता है। इन जातियों में यह विश्वास है कि सभ्यता का विकास बालक में एकदम होता है और उपनयन से बालक का भूत समाप्त हो कर उस का नया सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। अब वह अपने से पहली और आगे आनेवाली पीढ़ियों के बीच एक कड़ी बन जाता है और अपनी समाज के हित का साधक। उन के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं—आत्म-रक्षा और अन्न का संग्रह। इसके लिए ही वे प्रमुख रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन जातियों में शिक्षाकाल में चरित्रनिर्माण, परम्परा, स्वास्थ्य और क्रिया-कलाप पर बहुत बल दिया जाता है।

८—इन जातियों में उपनयन की विधियों में कुमारों की भावनाओं को जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है—उन्हें सताया जाता है, सोने, कपड़े पहनने आदि से वञ्चित कर दिया जाता है और उन से समाज और मुखिया की रक्षा की प्रतिज्ञा कराई जाती

उपनयन को अनिवार्य बनाने से अनेकों दोष उत्पन्न हो गए। यहाँ तक कि वृक्षों आदि का भी उपनयन किया जाने लगा (पृ० १५८-१६०)। परन्तु यह अनिवार्यता का परिणाम नहीं, प्रत्युत उपनयन के सत्य स्वरूप को न जानने, अश्वत्थ आदि में अभिमानी देवता और धार्मिकता की कल्पना आदि अज्ञान-जन्य अन्धविश्वास का परिणाम था।

है। इस परीक्षा में असफल बालकों का वध कर दिया जाता है अथवा समाज में निम्न बना दिया जाता है।

९—सभ्य और विकसित जातियों में भी उपनयन का बड़ा महत्त्व दिया जाता है। ईसाइयों यहूदियों मुसलमानों और अन्य सभी हिन्दुओं से भिन्न जातियों में अपने-अपने ढंग से उपनयन कर के उन्हें अपने धर्म का ज्ञान कराया जाता है। शिक्षा के साधनों के कारण इन जातियों की उपनयन-विधियाँ अविकसित जातियों के समान उग्र नहीं होतीं, परन्तु कहीं-कहीं खतना (=अग्रच्छेदन) आदि की विधियों में उनका अवशेष पाया जाता है।[1]

उपनयन संस्कार की प्राचीनता

१० आर्यसमाज में उपनयन संस्कार प्राचीनतम काल से चला आ रहा है। इस का विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है। परम्परागत आचार का ग्रन्थ होने के कारण इन में अपनी विधियों और विनियमों के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

११ डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि यद्यपि आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में सूक्तों का सकलन कर्मकाण्ड की दृष्टि से यथाविधि नहीं है तथापि वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ धार्मिक विधिविधानों से सम्बद्ध सूक्त मिलते हैं जिन में गर्भाधान, विवाह और अन्त्येष्टि का वर्णन है।

---

१ विस्तार के लिए ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सिज़, ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स में इनिशियेशन, सोशल ऑरगेनाइज़ेशन, एडाल्सैंस, एड्यूकेशन आदि पर लेख, एन मिलर का चाइल्ड इन प्रिमिटिव सोसाइटी (अध्याय १०) और एच० वेब्स्टर, प्रिमिटिव सीक्रेट सोसाइटीज़ आदि देखें।

वहाँ धार्मिक विधिविधानों में विनियोज्य कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं। वहाँ प्रासंगिक रूप से समाविष्ट अनेक संदर्भों से संस्कारों पर प्रकाश पड़ता है।

१२. ऋग्वेद में उप + √ नी के रूपों का प्रयोग पांच बार हुआ है। एक मन्त्र[1] में यह वनस्पति के सम्बन्ध में एक आप्रीसूक्त में आया है। इस मन्त्र के भाष्यकारों के अर्थों से उपनयन पर कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इस से पहले दो मन्त्रों[2] को साथ ले कर विचार करने से इन में उपनयन और उस के परिणामस्वरूप शिक्षा का वर्णन स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक[3] अन्य मन्त्र में उपनीता-पद ब्रह्मजाया का विशेषण है। उस से अगले मन्त्र में देवों का एक अंग ब्रह्मचारी बृहस्पति ब्रह्मजाया को पत्नी रूप में प्राप्त करता है।[4] इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यदि सायण के द्वारा उद्धृत आख्यान के बिना इन मन्त्रों को पढ़ें तो यहां पर बालक और बालिकाओं के उपनयन, ब्रह्मचर्य-पालन और अध्ययन का उल्लेख मिलता[5] है। इस अध्ययनयज्ञ में देव, मनुष्य और राजा—सभी सहयोग देते हैं। स्वा० दयानन्द सरस्वती ने अनेक मन्त्रों में यम, रुद्र और आदित्य को एतत्संज्ञक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया है। इन के भाष्य से वेद में अनेक स्थलों पर शिक्षासम्बन्धी लेख मिलते हैं।

१३. अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त[6] ही ब्रह्मचर्य पर मिलता है। वहीं एक सूक्त[7] मेखलाबन्धन पर भी है। ब्रह्मचर्य सूक्त में उपनयन, उपनयन से

---

१. ऋ० २।३।१०। २. ऋ० २।३।८-९। ३. ऋ० १०।१०९।४। ४. वहीं, म० ५। ५. वहीं, म० ६। इस में राजानः सत्यं कृण्वानाः को देवाः और मनुष्याः का विशेषण लेना अनुचित न होगा क्योंकि अनेक बार दैवी और मानुषी विशों का ही युगपत् वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। इस मन्त्र में पुनः तीन बार आया है और एक बार उत (जिस का अर्थ भी पुनः हो सकता है)। इस दृष्टि से चार देव, मनुष्य, राजन् और सत्यकारी (क्रमशः-ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—?) का निर्देश भी माना जा सकता है। ६. अथर्व० ११।७। ७. अथर्व० ६।१३३।

दूसरे जन्म की प्राप्ति, पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्ष रूपी तीन समिधाओं, मेखला, कृष्ण वस्त्रों, दीर्घ श्मश्रुओं, भिक्षा, अग्नि सूर्य चन्द्रमा, मातरिश्वा और जलों में समिधादान, वनस्पति संवत्सर और ऋतुओं के ब्रह्मचारी से सम्बन्ध और स्नातक का वर्णन किया गया है। मेखलासूक्त में मेखला की विशेषताओं, गुरु से दान और ब्रह्मचारी में बन्धन का वर्णन है।

१४. गोपथ ब्राह्मण में[१] उपनयन का थोड़ा सा विवरण मिलता है और शतपथ ब्राह्मण[२] में भी। दोनों में कुछ भेद लक्षित होता है। डा० राजबली पाण्डेय ने शतपथ ब्राह्मण में अजिन या मृगचर्म का उल्लेख[३] बताया है, परन्तु यह विचारणीय है। उन के निर्दिष्ट स्थल पर अजर्षभ के अजिन को बिछाने का वर्णन है। वहीं आगे चल कर इस अजर्षभ का प्रजापति से तादात्म्य बताया गया है।[४] अत यह अजिन चर्म नहीं रहा होगा। इसी प्रकरण में औदुम्बरी होने का वर्णन है। यह उदुम्बर अन्न रूप ऊर्ज् ही है।[५] गृह्यसूत्रों में औदुम्बर दण्ड वैश्य का बताया गया है[६] जो अन्नोत्पादन का उत्तरदायी था। इस ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ में यूपारोहण का विधान है। यह क्रिया ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर के विवाह कर गृहस्थ बनना ही है। यह सब वर्णों पर चरितार्थ होती है, किसी एक वर्ण के लिए नहीं है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में व्रात्यों और व्रात्यस्तोम का वर्णन है। इस व्रात्यस्तोम से पतितसावित्रिक को शुद्ध कर के पुन आर्यसमाज में ग्रहण कर लिया जाता था।

१५ उपनिषदों में ब्रह्मचर्याश्रम की अनेक झांकियाँ मिलती हैं। यहाँ पर शतपथब्राह्मण के समान उपनयनविधि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मचारी के गुरुकुल में वास,[७] गोपालन, गुरु की सेवा, गुरुकुल में प्रवेश,

---

१ गो० १।२।१-८। २ श० ११।३।३।१। ३ श० ५।२।१।२१। ४ श० ५।२।१।२४—प्रजापतिर्वा एष यदजर्षभ। ५ श० ५।२।१।२३। ६ पार० सूत्र० ९०। ७ आगे सूक्त० १ (VII) में सुहासिनी टिप्पणियाँ देखें। इस से सुहासिनी टिप्पणियों में प्रकाशित भाव—समस्त राजा–विश् वैश्य हैं—की पुष्टि होती है।

अध्ययन और अध्यापन विषयक प्रतिबन्ध, शिष्य के गुण, ब्रह्मचर्य की अवधियों, गायत्री के उपदेश की रीति और उपदेश तथा गुरुकुल छोड़ते समय उपदेश आदि का वर्णन पाया जाता है।

१६. गृह्यसूत्रों में मानव के जीवन में होनेवाले—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि—संस्कारों का विस्तृत विधान किया गया है। पीछे के साहित्य में भी बहुत-सी पद्धतियाँ, प्रयोग और कारिकाएँ आदि लिखी गई हैं। इन में भी संस्कारों की विधियों का सविस्तार वर्णन है, परन्तु मन्त्रों और विनियोगों में समन्वय और विधियों के सांस्कृतिक महत्त्वों आदि पर प्रकाश डालने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसा प्रयास स्वा० दयानन्द सरस्वती की संस्कार-विधि में बीज रूप में और पं० आत्माराम की संस्कारचन्द्रिका में सविस्तार लक्षित होता है। स्मृतियों में सामान्यतः संस्कारविषयक विनियोगों के बिना ही विधियों का वर्णन है। पुराण आदि पिछले साहित्य में भी संस्कारों का परिचय उपलब्ध होता है। कुछ सामग्री परम्परा से प्रचलित आचारों से भी मिलती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र

१७. उपनयन संस्कार का रूप ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद के वर्णनों में यह पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में उपनयन समस्त प्रजाओं के लिए बताया गया है। वस्तुतः इन वर्णनों में समस्त मानव जाति को एक माना है। उस में कोई भेद नहीं समझा गया है।

१८. शतपथब्राह्मण में उपनयन संस्कार की विधियाँ वैदिक वर्णनों से साम्य रखती हैं। यहाँ समस्त मानवजाति को ब्राह्मण मान कर उपनयन के धर्म बताए गए हैं।

१९ पारस्कर गृह्यसूत्र ने प्रमुखतया शतपथब्राह्मण की विधियों को ही अपनाया है। दोनों की पदावली में घनिष्ट साम्य है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सूत्र० पारस्करीय पदावली	शतपथब्राह्मण की पदावली
७ ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति	ब्रह्मचर्यमागामित्याह।
२८ अथास्य दक्षिण हस्त गृहीत्वाह को नामासीति।	अथैनमाह को नामासीति। अथास्य हस्त गृह्णाति।
३१ इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति।	इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति।
३२ अथैन भूतेभ्य परिददाति।	अथैन भूतेभ्य परिददाति।
३३ प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्य परिददामि द्यावापृथिवीभ्या त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्य परिददाम्यरिष्ट्या इति।	प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य परिददामीति। द्यावापृथिवीभ्यान्त्वा परिददामीति विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्य परिददाम्यरिष्टया इति।
३६ ३८ ब्रह्मचार्यसि। अपोऽशान। कर्म कुरु।	ब्रह्मचार्यसीत्याह। अपोऽशान। कर्म कुरु।
४१ समिधमाधेहि।	समिधमाधेहीति।
३९ ४२ मा दिवा सुषुप्था। अपोऽशान। इति।	एतत्तदाह—मा सुषुप्था इति। अपोऽशानेति।

२० इसी प्रकार पारस्कर के बहुत से अन्य सूत्र शतपथब्राह्मण की पदावली ही हैं। शतपथब्राह्मण ने कतिपय विधियों का भाव या महत्त्व वर्णित किया है। पारस्कर ने इन स्थलों को निकाल दिया है। साथ ही कुछ विधियों को छोड भी दिया है। जो विधियाँ अपनाई हैं, उन के क्रम में भी कुछ आगा-पीछा कर दिया है।

२१. पारस्कर ने कुछ ऐसे विधान भी दिए हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं हैं जैसे विभिन्न वर्णों के आयु, दण्ड, वस्त्र, मेखला आदि में भेद। शतपथ-ब्राह्मण ने सावित्री के उपदेश के लिए विभिन्न अवधियों (वर्ष, छै मास आदि—सूत्र० ४६-४७) का विधान सभी ब्रह्मचारियों के लिए किया है, जब कि भाष्यकारों के अनुसार पारस्करीय विधान ब्राह्मणेतर ब्रह्मचारियों के लिए है। पारस्कर के गृह्यसूत्र में भी कतिपय ऐसे सूत्र और विधान हैं जो पारस्कर ने स्वीकार नहीं किए हैं, परन्तु पीछे के लोगों ने अन्य सूत्रों से ले कर इन में जोड़ दिए हैं। इन में से कुछ स्थल तो सर्वसम्मति से प्रक्षिप्त माने गए हैं। हो सकता है शेष में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश हों। प्रक्षिप्त स्वीकृत अंश इस संस्करण में कोष्ठकों में दिखाए गए हैं।¹

पारस्करीय उपनयन विधि

२. ब्राह्मण के गुणों के अभिलाषी बालक का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय गुणों के अभिलाषियों का ग्यारह वर्ष की अवस्था में और वैश्य गुणों के अभिलाषियों का बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए। यदि इन आयुओं पर उपनयन सम्भव न हो तो सुविधानुसार कराया जा सकता है, परन्तु इस की चरम अवधि ब्राह्मण गुणाभिलाषी के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय गुणाभिलाषी के लिए बाईस वर्ष और वैश्य गुणाभिलाषी के लिए चौबीस वर्ष की आयु है। इन के पश्चात् वे सावित्री से वञ्चित हो कर गायत्री के उपदेश और अन्य सामाजिक सम्पर्कों से बहिष्कृत कर दिए जाएँ। प्रायश्चित्त कर के ये उपनयन करा सकते हैं। जिस की तीन पीढ़ियों तक उपनयन न हुआ हो उन्हें व्रात्यस्तोम करना पड़ता है।

२३. ब्राह्मणों को भोजन कराने के पश्चात्, सिर मुण्डवा कर अलंकृत

---

१. इन में अन्तिम कण्डिका सारी प्रक्षिप्त है। मुद्रण में कोष्ठक लगने रह गए हैं।

बालक को यज्ञवेदी पर लाते हैं। वह बालक पश्चिम की ओर बैठ कर कहता है—मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ हूं। मैं ब्रह्मचारी हो जाऊं। आचार्य 'येनेन्द्राय' मन्त्र से वस्त्र-परिधान, 'इय दुरुक्त' अथवा 'युवा सुवासा' मन्त्र से अथवा चुप-चाप मेखलाबन्धन, (यज्ञोपवीत मन्त्रों से) यज्ञोपवीतपरिधान, 'मित्रस्य चक्षु' से अजिनग्रहण, 'यो मे दण्ड' मन्त्र से दण्डधारण कराते हैं। 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन मन्त्रों से जल में अपनी अजलि द्वारा बालक की अञ्जलि को भरता है। 'तच्चक्षु' मन्त्र से सूर्य को दिखाता है। 'मम व्रते' मन्त्र से दाहिने कन्धे और हृदय को छू कर अनुकूलता की भावना कर के दाहिना हाथ पकड़ कर पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है। ब्रह्मचारी नाम बताता है। आचार्य कहता है कि तुम इन्द्र, अग्नि और मेरे ब्रह्मचारी हो। अब 'प्रजापतये त्वा' आदि से भूमा से कुशलक्षेम की प्राप्ति की कामना कर के अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है। अब बालक को कुछ खिला कर ब्रह्मचर्यपालन, आचमन और कर्म करने, दिन में न सोने, प्रश्न का उत्तर देने और हवन करने का उपदेश देता है।

२४ अब आचार्य बालक को अपने सामने वेदी के उत्तर अथवा दक्षिण की ओर बिठा कर सावित्री का उपदेश करता है। ब्राह्मण्यगुणाभिलाषी को गायत्री छन्द वाली सावित्री, क्षत्रियगुणाभिलाषी को त्रिष्टुभ् छन्द वाली सावित्री और वैश्यगुणाभिलाषी को जगती छन्द वाली सावित्री का अथवा सब को ही गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश किया जाता है। गायत्री के उपदेश के पश्चात् अग्नि को समिधादान, 'अग्नेसुश्रव' मन्त्र से परिसमूहन, अग्नि की प्रदक्षिणा, खड़े हो कर 'अग्नये समिधमाहार्षम्' मन्त्र से समिधाधान कर के फिर पहले के समान परिसमूहन और पर्युक्षण करे। अब हाथ तपा कर 'तनूपा अग्नेऽसि' और 'मेधा मे देव सविता' मन्त्रों से मुख को मले। अपने-अपने के वर्ण अनुसार सम्बोधन पूर्वक पहले माता से फिर अन्य इन्कार न करनेवाली स्त्रियों से भिक्षा मांगें। उसे गुरु को दे कर दिन भर मौन रहे। सायंकाल जंगल से गिरी हुई सूखी समिधाएँ ला कर अग्नि में डाल कर ही बोले।

२५. ब्रह्मचारी पृथिवी पर सोए। अधिक खार और नमक न खाए। सदा दण्ड रक्खे, गुरु की सेवा, हवन और भिक्षावृत्ति किया करे। शराब, मांस, हानिकारक स्नान, ऊँचा बैठना, मैथुन, झूठ और चोरी—इन से बचे। यदि आचार्य लेटे हुए, बैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलते हुए को बुलाएँ तो क्रम-से बैठ कर, उठ कर, चल कर और दौड़ कर उन की बात सुने। ऐसा व्यवहार करने पर ब्रह्मचारी की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है।

२६. विभिन्न वर्णों के दण्ड आदि इस प्रकार हैं :—

	ब्राह्मण के लिए	क्षत्रिय के लिए	वैश्य के लिए	सब के लिए (वैकल्पिक)
वासस् (वस्त्र)	सन के	रेशम के	भेड़ की (ऊन) के।	
उत्तरीय अजिन	एणी की	रुरु की	अजा या गौ की।	गौ की
रशना	मूंज की अथवा कुश, अश्मन्तक वल्य की	धनुष् की	मूर्वा की	
दण्ड	पलाश का	बिल्व का	उदुम्बर का	सब ही लकड़ियाँ

२६अ. वेदाध्ययन के लिए अड़तालीस वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक वेद का अध्ययन बारह-बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर करे। यदि ऐसा भी न हो सके तो जब तक वेद को पूरा न पढ़ ले ब्रह्मचारी रहे।[1]

२७. अध्ययन समाप्त कर चुकने वाला स्नातक होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक—केवल वेद को पढ़ कर संसार में प्रवेश करने वाला २. व्रतस्नातक—ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर लेता है परन्तु

---

१. यावद्ग्रहणम् का यह अर्थ भी हो सकता है—ग्रहण तक, समझने तक। अर्थात् जब तक पढ़ सके तब तक पढ़े। जब न पढ़ सके, तो छोड़ दे।

वेदाध्ययन पूरा नही होता। ३ विद्याव्रतस्नातक—जो वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि—दोनो को पूरा कर लेता है।

२८ ब्राह्मण १६ वर्ष की आयु तक , क्षत्रिय २२ वर्ष की आयु तक और वैश्य २४ वर्ष की आयु तक उपनयन न कराने पर गायत्री के उपदेश से वञ्चित हो जाते हैं। यही नहीं। इन के साथ न व्यवहार किया जा सकता है, न इन का उपनयन। इन का अध्यापन भी बन्द कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियो की तीन पीढ़ी तक यह स्थिति बनी रहने पर चौथी पीढ़ी के उपनयन आदि निषिद्ध हैं, परन्तु व्रात्यस्तोम कर के ये पुन उपनयन और अध्यापन के पात्र हो जाते हैं।

पारस्करीय विधियो में प्रक्षेप

२९ उपरोक्त विधि में कुछ ऐसी बातें भी मिला दी गई हैं जो पारस्कर ने नही लिखी हैं। ये इस प्रकार हैं—

१ यज्ञोपवीत-परिधान के लिए यज्ञोपवीत परम पवित्रम् आदि मन्त्र।

२ मित्रस्य चक्षु आदि मन्त्र से अजिनदान।

३ अगालम्भन और त्रिपुण्ड तिलक लगाना।

४ उपनीत ब्रह्मचारी के लिए चोटिया, सावित्र व्रत—छै और तीन रात तक या तुरन्त ही सम्पन्न होने वाला—तीन बार मीठे की आहुति दे कर पाँच सावत्सरिक वेदव्रत—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौल्भ और गोदान का आचरण और व्रतो की समाप्ति पर अवगुण्ठनी का विसर्जन और गोदान।

पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद

३० ऋग्वेद के गृह्यसूत्रकार आश्वलायन की उपनयन विधि मुख्यत पारस्कराचार्य की विधि से मिलती-जुलती है। दोनो के सूत्रो में शब्दावली भी समान-सी है। दोनो में कुछ भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं —

(१) आश्वलायन लिखते हैं कि उपनयन के लिए बालक अपने-अपने वर्णों के लिए विहित रंग[1] के कोरे वस्त्र अथवा अपने-अपने वर्ण के लिए विहित अजिन पहन कर यज्ञवेदी पर आएं।

(२) आश्वलायन ने वैश्य की मेखला आवी = भेड़ के बालों की बताई है। पारस्कर मूर्वा की बताते हैं।[2]

(३) आश्वलायन ने दण्डों के माप का विधान किया है। यहाँ पर क्षत्रिय का दण्ड औदुम्बर और वैश्य का बैल्व बताया है।[3] यह पारस्कर के विधान के विपरीत है।[4]

(४) अञ्जलिपूरण में आश्वलायन ने 'तत्सवितुर्वृणीमहे' का विनियोग बताया है। अञ्जलि को खाली कर के आचार्य 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे' मन्त्र से ब्रह्मचारी के हाथ को पकड़ता है। सविता को बालक का दूसरा और अग्नि को तीसरा आचार्य बताया है। आचार्य सूर्य को दिखा कर ब्रह्मचारी के दीर्घायुष्य की कामना करता है। यहां 'तच्चक्षुः' आदि मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता है।[5]

(५) आचार्य बालक को प्राण का ब्रह्मचारी बता कर उसे प्रजापति को देता है। 'युवा सुवासाः' मन्त्र से आचार्य बालक से अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है, पारस्कर मेखलाबन्धन। हृदय और कन्धे के स्पर्श में आश्वलायन ने किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया है।[6]

(६) आश्वलायन समिदाधान को चुपचाप चाहते हैं, परन्तु कुछ तत्कालीन आचार्य 'अग्नये समिधमाहार्षम्' मन्त्र से। इस मन्त्र का पाठ—

---

१. आश्व० गृ० १।१९। ८–९। ये रंग ब्राह्मण का काषाय, क्षत्रिय का माञ्जिष्ठ और वैश्य का हारिद्र हैं। भाष्यकार ने रंगे वस्त्रों का परिधान वैकल्पिक माना है। २. वही, सू० ११। ३. वही, सू० १३। ४. पार०, सूत्र० ८९-९०। ५. आश्व० गृ० १।२०।४-६। ६. वही, सू० ७।

'अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। तया त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वय स्वाहा'—पारस्कर के पाठ से भिन्न है (देखो सूत्र० ५५)।[1]

(७) आश्वलायन 'तेजसा मा समनज्मि' से तीन बार मुख का मार्जन बताते हैं। 'मयि मेधाम्' आदि मन्त्र से उपस्थान कर के दायाँ घुटना टेक कर आचार्य के पैर छू कर बालक सावित्री के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है। आचार्य बालक के हाथ को वस्त्रसहित पकड़ कर गायत्री का उपदेश करता है और ब्रह्मचारी की योग्यता के अनुसार उस से मन्त्र का उच्चारण कराता है और उसे एकाग्र होकर सुनने तथा आचार्य के अधीन हो कर वेद पढ़ने का उपदेश देता है।[2]

(८) आश्वलायन के मत में वेदब्रह्मचर्य का काल केवल बारह वर्ष अथवा वेद पूरा पढ़ लेने तक होता है।[3] भिक्षा पुरुष या स्त्री से माँगी जा सकती है। यहाँ भिक्षा को आचार्य के समर्पण करने के पश्चात् शेष दिन में खड़े रहने का (?) विधान है। सायंकाल ब्रह्मौदन और अनुप्रवचनीय पका कर आचार्य को बताए। आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रारम्भ किए हुए हवन में 'सदसस्पतिमद्भुतम्' और गायत्री मन्त्र से दो, ऋषियों के लिए और सौविष्ट आहुतियाँ दे। ब्रह्मभोज के पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्ण वेद पढ़ाने के लिए आचार्य से प्रार्थना करे और तीन रात, बारह रात या एक वर्ष तक क्षार और लवण का प्रयोग न करे।[4]

(९) आश्वलायन दण्ड अजिन का विधान नहीं करते हैं।

---

१ वही १।२०।१०, २१।१ २ वही, १।२१।२-७। ३ वही, १।२२।२। ४ वही, सू० ३-४। भाष्यकार ने इस वर्णन में विद्या, व्रत और विद्याव्रत स्नातकों का उल्लेख माना है। यह पारस्कर की अवधियों से भिन्न है। ५ वही, सू० ९-१७।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान

३१. आस्तम्ब उपनयन काल में ही केशवपनसंस्कार चाहते हैं।[1] ये उपनयन के लिए वर्णों के लिए क्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरदृतु का विधान करते हैं।[2] ये क्षत्रिय का दण्ड न्यग्रोध का, स्कन्ध का या अवाचीन अग्रभाग वाला और वैश्य का बेर या गूलर का बताते हैं।[3] सावित्री के उपदेश के पश्चात् ब्रह्मचारी ऊपर के होंठ और कानों का स्पर्श करता है।[4]

३२. केशवपन के पश्चात् समिदाधान, पत्थर पर सीधे पैर का स्थापन और सद्योनिर्मित वस्त्र का परिधान किया जाता है।[5]

३३. आपस्तम्ब ने विभिन्न वर्णों के लिए वस्त्रों, अजिन, मेखला, दण्डों के माप आदि का कोई विधान नहीं किया है। गव्य अजिन का विधान भी नहीं है। इन के मन्त्रों में भी भेद हैं। विधि अपेक्षाकृत संक्षिप्त है।

गोभिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर

३४. यहां गव्य अजिन का विधान नहीं है।[6] परिधान के लिए क्षौम या शाण, कार्पास और ऊन के वस्त्र बताए हैं, मेखला मूंज, काश और तम्बल (= शण) की, दण्ड पलाश, बिल्व और पीपल के।[7] बालक 'अग्ने व्रतपते' आदि मन्त्रों से पांच आहुति देता है।[8] अभिवादन के लिए नया या पुराना नाम कल्पित किया जाता है।[9] आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्ध, नाभि, हृदय और बाएं कन्धे का स्पर्श करता है।[10] तीन रात के सावित्र व्रत के पश्चात् उन का चरु करे और दक्षिणा में गौ दान दे।[11]

---

१. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १०।५-८। २. वही, सू० ४। ३. वही, ११।१५। ४. वही, ११।१०-१३। ५. वही, १०।९-१०। ६. गोभिल गृह्यसूत्र, २।१०।८। ७. वही, सू० ७-१२। ८. वही, सू० १५। ९. वही, सू. २१। १०. वही, सू. २४-२८। ११. वही, सू. ४३-४५।

३५ अन्य विनियो में और मन्त्रों के विनियोग आदि में गोभिल गृह्यसूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र एक दूसरे के बहुत समीप हैं। यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् छन्द की सावित्री का उपदेश केवल पारस्कर ही कराते हैं, अन्य सूत्रकार नहीं।

पारस्कर के उपनयनसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की तालिका

३६

मन्त्रप्रतीक क्रमसंख्या	सूत्र०	विनियोग
(१) अग्नये समिधमाहार्षम्	५५	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिदाधान में।
(२) अग्ने सुश्रव	५३	सावित्री के उपदेश के पश्चात् हाथ से अग्नि के परिसमूहन में।
(३) (अगानि च म आप्यायन्ताम्)	६२	अंगालम्भन में जप।
(४) (अदृश्रमस्य)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(५) (अप्स्वन्तर्)	११०	मेखला और यज्ञोपवीत का जल में स्थापन (हि-अ० में पाटि० १ भी देखें)।
(६) (आ नो भद्रा)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में
(७) आपो हि ष्ठ	२३	जलों से अञ्जलिपूरण में।
(८) (आ ब्रह्मन्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(९) (आशुः शिशान)	११५	वही।
(१०) इन्द्रस्य ब्रह्मचारी	३१	ब्रह्मचारी को 'आप का शिष्य हूँ' कहने पर आचार्य का अपनी भावना का प्रकाश।

(११) (इमा नुकम्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(१२) इयं दुरुक्तम्	११	मेखलाबन्धन में।
(१३) (उदीरतामवर)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(१४) (उदु त्यम्)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(१५) एषा ते	५७	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में वैकल्पिक मन्त्र।
(१६) गायत्री मन्त्र (भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुः)	४७	ब्राह्मण को सावित्री के उपदेश में।
	५०	सब वर्णों को सावित्री के उपदेश में वैकल्पिक मन्त्र।
(१७) (चित्रं देवानाम्)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(१८) जगती सावित्री		
( ) युञ्जते मनः। य० ५।१४)		वैश्य को सावित्री के
(ii) विश्वा रूपाणि। य० १२।३)	४९	उपदेश में।
(१९) तच्चक्षुः	२५	सूर्यदर्शन में।
(२०) तनूपा अग्नेऽसि	६०	हाथ तपा कर मुख को मलने में।
(२१) तस्मा अरंगमाम	२३ पादि० १	जलों से अंजलिपूरण में।
(२२) त्रिष्टुभ् सावित्री	४८	क्षत्रिय को सावित्री के
(i) तं सवितुः। य. १३।७४।)		उपदेश में।
(ii) देव सवितः प्रसुव। य० ९।१)		
(२३) त्र्यायुषं जमदग्नेः	६३	राख से त्र्यायुष (तिलक) लगाने में।
(२४) (द्यौः शान्तिः)	१२०	वर्षा होने पर शान्ति (जप) में।

(२५) (नमो वरुणाय)	११०	तीन बार मीठा देने में।
(२६) प्रजापतये त्वा परिददामि	३३	ब्रह्मचारी को भूता को समर्पित करने में।
(२७) मम व्रते ते हृदयम्	२७	अभिहृदय दक्षिणाम के आलम्भन में।
(२८) (मित्रस्य चक्षुर्धरुणम्)	१७	अंजनप्रदान में।
(२९) मेधा म दव सविता	६१	हाथ तपा कर मुख का मलने में।
(३०) (यज्ञोपवीतमसि) (३१) यज्ञोपवीत परमम्)	१५	यज्ञोपवीतपरिधान में।
(३२) युवा सुवासा	१२	मेखलाबन्धन में वकल्पिक मन्त्र।
(३३) येने द्राय बृहस्पति	९	वास परिधापन में।
(३४) यो मे दण्ड परापतत्	२०	दण्डग्रहण में।
(३५) यो व शिवतम	२३पाटि०१	जला से अजलिपूरण में।

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में १६ मन्त्रा का विनियोग प्रक्षिप्त भाग में है, और १९ का प्रामाणिक भाग में है।

कन्याओं का उपनयन

३७—सस्कृतभाषा की शैली है कि जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों का वर्णन अभिप्रेत होता है वहाँ भी पुल्लिग से ही निर्देश किया जाता है। अत यदि साहित्य में स्त्रियो के उपनयन का विधान स्पष्ट, साक्षात् और सविस्तार नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं। ब्राह्मण और ब्राह्मणी का, राजन्य और राजन्या का, वैश्य और वैश्या का समास क्रमश ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ही होता है। अत ब्राह्मण आदि पुल्लिग के प्रयोगा से ब्राह्मण कन्या आदि का भी बोध होता है। इस प्रकार उन का उपनयन विहित है।

३८—इसी शैली का अवलम्बन करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में पुरुषों की शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा का भी वर्णन किया है।[१] एक मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि 'विद्वानों को अपनी (सु-) शिक्षा से कुमार और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को परमेश्वर से ले कर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिये...।'[२] उन्हों ने सत्यार्थ-प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लड़कियों के अध्ययन और ब्रह्मचर्य का विवेचन भी किया है।

३९—ऋग्वेद में देवियों की कल्पना, वाक् अपाला घोषा लोपामुद्रा आदि ऋषिकाओं की सत्ता की मान्यता से तथा वैदिक साहित्य में विदुषी नारियों और ब्रह्मवादिनियों के वर्णन से वैदिक काल में लड़कियों के उपनयन और उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति का अनुमान सुकर है।

४०—अथर्ववेद के ब्रह्मचारी-सूक्त में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का युगपत् वर्णन हुआ है :—

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति।'[३]

इस मन्त्र से उस काल में लड़के और लड़कियों के उपनयन की सत्ता सुस्पष्ट है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारिणी, आचार्या आदि पदों, 'पुरा नारीणामपि मौञ्जीबन्धनमिष्यते' आदि स्मृतिवाक्यों, स्मृतियों में स्त्रियों के मन्त्र-

१—उदाहरण के लिये य० ६।२४, २५ आदि का दयानन्दभाष्य देखें।

२—य० ६।८ का भाष्य।

३—अथ० ११।३।१८। यहां अनड्वान्-पद कामसूत्र में वर्णित वृष-पुरुष का द्योतक है, बैल का नहीं। इसी प्रकार 'अश्व' अश्वजाति के पुरुष और 'घास' नतिनुन्द के द्योतक हैं।

हीन सस्कारा' के विधान रूप ऐतिहासिक अवशेषो, रामायण मे कौशल्या के यज्ञ करने के वर्णन, शेष साहित्य में स्त्रियो की शिक्षा और आश्रमो में निवास और यज्ञोपवीतिनी आदि पदो से होती है।

शूद्रो की स्थिति और उन का उपनयन

४१—इस विषय पर कई विद्वानो ने अतिरञ्जन रूप से लिखा है।[1] डा अम्बेदकर के 'हू वर ही शूद्राज' और डा शर्मा के 'शूद्राज इन एन्शियेण्ट इण्डिया' में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। शूद्रो के विषय मे जितने अध्ययन अब तक हुए है उन मे दो दृष्टियां काम करती है —१ शूद्र श्रमिक और समाज मे नीचतम वर्ण हैं २ इस भावना की प्रतिक्रिया रूप शूद्रो को उच्च वर्ण का सिद्ध करना। किसी भी अध्ययन में शुद्ध साहित्यिक और भाषा की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह विवेचन बहुत विस्तृत है। अत यहां कतिपय विचार परम संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किए जाते है।

४२—वैदिक मन्त्रो के अध्ययन से ज्ञान होता है कि वहां मानव जाति के एक, दो, तीन, चार और पांच विभागों का बहुधा उल्लेख पाया जाता है। समान सख्या के विभागो का वर्णन भी सर्वत्र समान नहीं है। उन के मूल में विभिन्न दृष्टियां रही प्रतीत होती हैं। तो भी थोडे से व्याख्यान से उन में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

४३—ऋग्वेद के एक मन्त्र में मनुओं की समस्त प्रजाओ का अग्नि द्वारा सृष्ट बताया गया है —

---

१ यथा मनु० २।६६ देखें।

२ देखो डा शर्मा का शूद्राज इन एन्शिएण्ट इण्डिया में प्रदत्त विवरण।

'न पूर्वथा निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥'[1]

इस मन्त्र मे प्रजा के अन्य कोई विभाग नहीं बताए हैं। ये प्रजाएँ आर्य ही हैं :—'उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय'।[2] इसी मन्त्र में 'दुहन्ता मनुषाय दस्रा' तथा पुनरुक्त अंश 'ज्योतिर्जनाय चक्रथुः'[3] में आर्य, मनुष और जन को समानार्थक माना है।

४४—पं० अखिलानन्द ने लिखा है कि 'वेद के संबंध में जहां कहीं पर किसी जाति का नाम मिलता है तो ब्राह्मण जाति का ही मिलता है अन्य का नहीं, वेद और ब्राह्मण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।'[4] वस्तुस्थिति यह मालूम पड़ती है कि वैदिक काल में मानव मात्र को ब्राह्मण कहा जाता था।[5]

४५—अन्यत्र प्रजाओं के दो विभाग किए गए हैं। इन के नाम भिन्न-भिन्न हैं—

(१) आर्य और दस्यु

'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्'।[6]

दस्युओं को अनिन् बताया है।[7] ये व्रत और यज्ञ से हीन कहे गये हैं—

'अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय पर्वतः' ॥[8]

मनु के अनुसार चारों वर्णों मे बहिर्भूत आर्य और म्लेच्छ भाषा बोलने वाले सब दस्यु हैं :—

---

१. ऋ० १।९६।२. २. ऋ. १।११७।२१. ३. ऋ. १।९२।१७। ४. वेदत्रयीसमालोचन पृ० १८२। ५. आगे मंसं० ४२।५ तथा ऊपर संदर्भ १७–१८ देखें। ६. ऋ. १।५१।८। ७. ऋ. १।३३।४ ८. ऋ. ८।७०।११.

'मुखबाहूरुपज्जाना या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाच सर्वे ते दस्यव स्मृता ॥'[1]

स्वामी दयानन्द ने ये विभाग चारो वर्णों के व्यक्तियों के माने है ।[1]

(२) दास और आर्य:—

'अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासत ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम्' ॥[2]

इस वर्णन में दासों और आर्यों को सम स्तर पर रक्खा गया है। क्रम में पहले दास का उल्लेख है, फिर आर्य का।

(३) ब्रह्म और क्षत्र:—

'यत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्यञ्चौ चरत सह ।
त लोक पुण्य प्रज्ञेष यत्र देवा सहाग्निना' ॥[3]

प्रजा के ये विभाग राष्ट्र की शक्तियों के द्योतक हैं। समस्त शक्तियाँ इन के अन्तर्गत ही है। ये दोनो अगले मन्त्र के इन्द्र और वायु के अनुरूप माने जा सकते है।[4]

(४) मानुषी क्षिति और दैवी विश्

'मरुत्स्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितिनामसि मानुषीणा विशा दैवीनामुत पूर्वयावा' ॥[5]

---

१ मनु १०।४५ १ ऋभाभू० पृ० २९९—वेदरीति से इन के दो भेद हैं, एक आर्य और दूसरा दस्यु। २ ऋ० १०।१०२।३ ३ य० २०।२५। य० १८। ३८–४४ और १९।५ आदि में भी ये ही दो विभाग माने गए हैं। ४ य० २०।२६—यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरत सह। त लोक प्रज्ञेष यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ ५ ऋ० ३।३४।२.

मानुषी क्षिति मानुषी विश् ही है—'विशां कविं विश्पतिं मानुषीणाम्'।[1] वहां 'न देवेषु वनते वार्याणि' में दैवी विश् का निर्देश माना जा सकता है। इस वर्णन में दैवी विश् मानुषी विश् के अन्तर्गत ही मानी जा सकती है, उस से पृथक् नहीं।

(५) अयज्वन् और यज्वन्

'अयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।'[2]

अगले मन्त्र में यज्वानः को 'क्षितयो नवग्वाः' कहा है।[3] ये ऊपर वर्णित दस्यु और आर्य माने जा सकते हैं। 'स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः'[4] में इन्हें नहुष् और विश् से वर्णित किया है। सायण-भाष्य की योजना अस्वाभाविक है।

(६) ब्राह्मण और देव

'तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्'।[5]

अन्यत्र ब्रह्म को ब्रह्मचारियों से[6] और देवों को अमृत से[7] गतिमान् बताया है। संभवतः ऋग्वेद ने 'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः'[8] में इन विभागों को मानुष और देव कहा है।

(७) शूद्र और अर्य

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां, यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयम्'॥[9]

---

१. ऋ. ५।४३। य० ११। ५।४।१७ में दैवी प्रजा को मुख से उत्पन्न छन्द और मानुष प्रजा को प्रजनन से उत्पन्न कहा है। २. ऋ. १।३३।५ ३. ऋ. १।३३।६. ४. ऋ. ७।६।५. ५. अथ. ११।७।२३. ६. अथ० ११।१९।१८. ७. वही, मं० १०। ८. ऋ. १०।१२५।५। आगे सं० ४३।५ की टिप्पणी भी देखें। ९. य० २०।१७.

इस में मानवा के ये ही दो विभाग किये गये हैं। इन में शूद्र का उल्लेख पहले किया गया है। वर्णन की शैली से शूद्र का पूज्यत्व सुस्पष्ट है। इस में ब्रह्म और राजन्य का उल्लेख नहीं है। इन का अन्तर्भाव शूद्र और अर्य में अभिप्रेत है। यजुर्वेद में अर्य पद आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। 'शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति'[1] और 'शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यन'[2] में 'अर्यजारा' पद शूद्रा का और अर्यायै जार 'शूद्र' का विशेषण है। इन दोनो मन्त्रों में 'न' सर्वत्र ही उपमावाचक है। इस योजना से इन मन्त्रों में भी मानव जाति के शूद्र और अर्य विभागों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

(८) शूद्र और आर्य

'ता मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्य'।।[3]
'उदप्रभ परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्'।।[4]
'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये'।।[5]

अथर्ववेद की पदानुक्रमणीकार ने यहाँ सर्वत्र 'उत' और 'आर्य' की सन्धि मानी है। अथर्ववेद में 'अर्य' पद अन्तोदात्त है। अतः यहाँ 'उत' और 'अर्य' की सन्धि नहीं है। इन मन्त्रों में भी शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया है। ऋग्वेद में आर्यों को तीन प्रजाएँ बताया गया है —'त्रय कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्रा।'[6] प०अखिलानन्द लिखते हैं

---

१ य० २३।३० २ य० २३।३१ ३ अवे० ४।२०।४ ४ वही म० ८। ५ अवे० १९।६२।१ ६ ऋ ७।३३।७

कि 'वेद में द्विजों को आर्य कहा है, शूद्रादि को नहीं।'[1] सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही द्विज माना जाता है। यदि प्रकृत विभाग में 'आर्य' को इन तीनों वर्णों का द्योतक मान लें, तो शूद्र चौथे वर्ण का वाचक बन जाता है। शतपथब्राह्मण में पशुओं को पूषा[2] कहा है। साथ ही पुष्टिकारक होने से पृथिवी को पूषा=शौद्रवर्ण माना है। वहां पशुओं को पुष्टि[3] और 'वैश्यो विशः'[4] कहा गया है। ऐसी स्थिति में समस्त पोषक गुण सम्पन्न प्राण, पदार्थ, भाव और स्थितियां पूषा=शौद्रवर्ण=शूद्र हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर मानवों में परोपकार, ज्ञान और सेवा आदि द्वारा पोषण करने वाले व्यक्ति ही 'शूद्र' ठहरते हैं। ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के हो सकते हैं। निरुक्त में आर्य—का अर्थ 'ईश्वरः पुत्रः',[5] अष्टाध्यायी में स्वामी और वैश्य[6] तथा निघण्टु में ईश्वर[7] दिया गया है। इन अर्थ की पुष्टि में शूद्र का अर्थ 'जो ईश्वरपुत्र नहीं है=असमृद्ध=त्यागी, संन्यासी (?)' होगा। यजुर्वेद में एक स्थल पर इस विभाग को शूद्र और ब्राह्मण बताया है—'अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः।'[8]

४६—कई बार मानव जाति के तीन विभाग भी किये गये हैं :—

(१) देव, असुर और मनुष्य

'यथा यज्ञुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना'॥[9]

---

१. वेदसर्वीनमालोचन, पृ० २१७. २. श० ३।१।४।९. ३. वही. ४. श० ३।७।३।९। ५. नि०. ६. पा० ३।१।१०३. ७. निघं २।२२।२. ८. य० ३०।२२। यहां यह पदावली दो बार प्रयुक्त हुई है। पहली बार अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्थूल, अतिकृश, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिकुल्व और अतिलोमश को और दूसरी बार मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीब को अशूद्र और अब्राह्मण में विभक्त किया है। ९. अथ० ६।१४१।३.

यहाँ पर 'देवा' अश्विना का विशेषण है। यदि इसे मानव जाति से भिन्न माना जाये तो यहाँ दस्यु और आर्य के समान दो ही विभाग रह जायेंगे।

(२) ऋभु, असुर और ऋषि

'या मेधामृभवो विदुर्या मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥'[1]

इन तीनों विभागों का एक समान भाव से वर्णन किया गया है।

(३) ब्रह्म, सोम, राधस्

'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः' ॥[2]

इस के पूर्वार्द्ध में चार विभाग किये गये हैं, उन की दृष्टि में उत्तरार्द्ध में तीन विभाग माने जा सकते हैं।

(४) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य

'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः ।
तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥'[3]

यहाँ पर समस्त मानव जाति को पंच मानव कह कर उस के तीन ही विभाग किये हैं। इन में शूद्र का वर्णन नहीं है। उन का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में अभिप्रेत है।

(५) देव, मनुष्य, राजन्य

'पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः' ॥[4]

---

१ अथर्व० ६।१०८।३ २ ऋ० २।१२।१४ ३ अथर्व० ५।१७।९ ४ अथर्व० ५।१७।१०।

इस में देव और मनुष्य को पूर्ववर्णित विभाग के ब्राह्मण और वैश्य कहा जा सकता है। वहाँ राजन्य और वैश्य को ब्रह्मजाया का पति नहीं माना है, यहाँ उन्हें ब्रह्मजाया से सम्पन्न मान कर उस का दाता वर्णित किया है। इस प्रकरण में ब्राह्मणपद परमेश्वर के वाचक ब्राह्मणपद[1] से भिन्न है।

४७—अन्यत्र चार विभागों का उल्लेख है :—

(१) सुन्वत्, पचत्, शंसत् और शशमान

'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।'[2]

सुन्वत्—यज्ञनिष्पादक वैश्य है, पचत्—पुष्टिकर्ता शूद्र है। शंसत्—स्तोता ब्राह्मण है और शशमान को क्षत्रिय[3] कहा जा सकता है।

(२) उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा

'यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।'[4] स्वभाव के कारण उग्र क्षत्रिय है,[4अ] ब्रह्मन् ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण[5] में तप के कारण ऋषि को ऋषि माना है। ऋग्वेद में भी ऋषियों को तपस्वी कहा है—'पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः ।'[6] अग्नि तप से उग्र होती है।[7] ब्रह्मचारी भी तप करता है।[8] यजुर्वेद में शूद्र को[9] और कीलाल को[10] तप से सम्बद्ध किया है। अतः ऋषि को शूद्र का द्योतक

---

१. अथर्व० १०।८।३७–३८। २. ऋ. २।१२।१४। ३. आगे मं० २०।५ की टिप्पणी देखें। ४. ऋ. १०।१२५।५। ४अ. 'उग्र' रुद्र का एक रूप है। श० ६।१।३।१८। रुद्र घोर है—कौ० १६।७। ५. श० ६।१।१।१। ६. ऋ. १०।१०९।४। ७. ऋ. १०।१०९।१ पर साभा० देखें। ८. अथर्व० ११।७।१। ९. य० ३०।५। १०. वही, मं० ७।

माना जा सकता है। योगदर्शन में तप को क्रियायोग[1], नियम[2] और अशुद्धियों को क्षीण कर के कायेन्द्रिय को शुद्ध करने वाला[3] कहा है। शेष सुमेधा वर्णों के नामों में 'वैश्य' का द्योतक हो जाता है।

(३) रध्र, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीरि और युक्तग्रावन् सुतसोम

'यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः' ॥[4]

आगे मन्त्र १२ में की गई व्याख्या के अनुसार ये पद क्रमशः क्षत्रिय, शूद्र, ब्राह्मण और वैश्य के द्योतक माने जा सकते हैं।

(४) ब्रह्म और राजन्य; शूद्र और आर्य

'प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते' ॥[5]

यहाँ पर शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में 'अर्य' पद अन्तोदात्त है और 'आर्य' पद आद्युदात्त। मन्त्र में 'चार्याय' में 'र्या' पर स्वरित है। अतः 'चार्याय' में 'च' और 'आर्याय' की सन्धि है। आर्य पद सामान्यतः आर्यजाति का और पहले लिखे वर्णन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का द्योतक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ दो विभागों १. ब्रह्म और राजन्य तथा २. शूद्र और आर्य को इकट्ठा वर्णित किया है। यदि ऐसा मान लें तो ये पद वर्णों के द्योतक न रह कर कर्म या शक्ति विशेष के द्योतक बन जायेंगे।

---

१ योगदर्शन २।१। २ वही, २।३२। ३ वही, २।४३।
४. ऋ २।१२।६। ५ अवे० १९।३२।८।

(५) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'[५अ]

यह मन्त्र यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी आया है। चारों वर्णों का इस क्रम से उल्लेख केवल इसी मन्त्र में मिलता है। पीछे के काल में चातुर्वर्ण्य के लिए इसी मन्त्र को आधार बनाया गया है।

४८—पांच जनों–कृष्टियों–चर्षणियों का बहुधा वर्णन पाया जाता है। यथा 'अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्च जनाः';[१] 'यः पञ्च चर्षणीरभि निष-साद दमे दमे।'[२] स्तोता पंचकृष्टि के अन्तर्गत हैं—'अस्माकं द्युम्न-मधि पञ्च कृष्टिषु।'[३] प्रार्थनायें पांचों कृष्टियों के लिए की गयी हैं—'यद् वा पंच क्षितीनां द्युम्नमाभर।'[४] यहां पर उन में पारस्परिक भेद नहीं है। ये पंच जन कौन हैं, इन पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पुरु कहा है—'यदि-न्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पुरुषु स्थः।'[५] ऐतरेय ब्राह्मण[६] में ये देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरस्, सर्प और पितृ, निरुक्त में[७] गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, औपमन्यव के[८] मत में चारों वर्ण और निषाद और पं० अखिलानन्द[९] के विचार में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और यज-मान हैं। इनका परिगणन कुछ भी किया जाये वेद मन्त्रों में इन में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है।

४९—यजुर्वेद में छै विभागों का भी उल्लेख है—

५अ. ऋ. १०।९०।१२। १. ऋ. ६।११।४। २. ऋ. ७।१५।२। ३. ऋ. २।२।१०। ४. ऋ. ६।४६।७। ५ ऋ. १।१०८।८। ६. ऐ० ३।३१। ७. नि० ३।७। ८. वही। ९. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २०५।

ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य (या आर्य ?), स्व और अरण

> 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
> ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय ।
> प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप
> मादो नमतु ॥'[१]

यदि ऊपर लिखे विभागों पर सामूहिक रूप से दृष्टि डाली जाये तो यहाँ पर मानव जाति के तीन दृष्टियों से दो-दो विभाग स्पष्ट ज्ञात हो जायेंगे—१. ब्रह्मन् और राजन्य २. शूद्र और अर्य (या आर्य) ३. स्व और अरण (अपने और पराये)।

५०—वेदमन्त्रों में उपलब्ध मानव जाति के कतिपय विभागों का निर्देश किया जा चुका है। शूद्रों की स्थिति के निर्णय में अधोदत्त बातें विचारणीय हैं।

(१) वेद में मानव जाति के एक या अनेक विभाग विभिन्न दृष्टियों से किये गये हैं। यजुर्वेद के नीचे दिए गए मन्त्रों में इस प्रकार की कुछ दृष्टियों का आभास मिलता है —

> 'एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।
> तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ।
> पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् ।
> सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥
> नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ।
> एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसन् ।
> त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् ।
> पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् ।

---

१ य० २६।२।

सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥
नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् ।
एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।
त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
पञ्चविंशत्यास्तुवताऽऽरण्याः पशवोऽसृजन्त वायुरधिपतिरासीत् ।
सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्या-
यँस्त एवाधिपतय आसन् ॥
नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।
एकत्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् ।
त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति-
रासीत् ॥"[1]

इस वर्णन में ब्रह्म, ऋषि और क्षत्र की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् बतायी है, परन्तु शूद्र और आर्य (अर्य) की एक साथ।

(२) उपरोक्त वर्णनों में समस्त विभागों को एक स्तर पर रक्खा गया है, केवल दस्युओं को हिंसक बता कर उन्हें हीन माना गया है।

(३) शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है।

(४) ऊपर दी गई व्याख्या के अनुसार ऋषि और शूद्र पद को समानार्थक माना जा सकता है। वैदिक साहित्य में ऋषि की स्थिति सुविदित है।

(५) वेदमन्त्रों में चारों वर्णों का युगपत् आधुनिक क्रम से वर्णन

.१ य० १४।२८—३१। इन में मन्त्र ३० में 'शूद्रार्यौ' में 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) से शूद्र का पूर्वनिपात माना गया है। परन्तु राजदन्तादिगण में 'शूद्रार्यम्' पाठ है, 'शूद्रार्यौ' नहीं है। अपि च। वेद मन्त्रों में अधिकांश स्थलों पर समास के अभाव में शूद्र और आर्य का क्रम ही मिलता है। अतः यहाँ राजदन्तादि सूत्र लगाना अनावश्यक है।

केवल एक मन्त्र[१] में पाया जाता है। आगे मस० ३३ की व्याख्या के अनुसार ये ब्राह्मण आदि पद पुरुष के नाम माने जा सकते हैं।

(६) अथर्ववेद के 'शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। जाया-पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु॥'[२] में शूद्रकृता का सर्वप्रथम वर्णन साभिप्राय है। इस में शूद्र, राजन् और ब्रह्मन् का ही निर्देश है वैश्य का नहीं।

(७) तैत्तिरीय ब्राह्मण में वैश्य को ऋचाओं से क्षत्र को यजुषों से और ब्राह्मणों को सामनों से उत्पन्न बताया गया है। साथ ही सब कुछ को ऋचाओं से उत्पन्न बताया है।[३] शेष अथर्ववेद और शूद्र रह जाते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध अनुमानगम्य है।

(८) शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ से उत्पन्न को ब्राह्मण कहा है। इसी लिए वहाँ दीक्षित राजन्य और वैश्य को ब्राह्मण माना है।[४]

(९) शतपथ ब्राह्मण में वर्णों की उत्पत्ति का क्रम दिया है, शूद्र, क्षत्र दिया है। पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) ही था। उस से शेष वर्णों की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर चारों वर्णों का एक स्तर का माना है। यहाँ पूषा को शूद्र कहा है और पृथिवी को पूषा।[५] ब्राह्मणों में अनेक पदों के अर्थ एक ही साथ ब्रह्म, क्षत्र, विश् और पृथिवी (शूद्र भी ?) दिये गये हैं।[६]

(१०) ऐतरेय ब्राह्मण में[७] सोम को ब्राह्मणों का दधि को वैश्यों का और अपस् को शूद्रों का भक्ष बताया है। जल कल्याण और सिद्धि के प्रतीक हैं। तु० क०—'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः॥'[८] एक स्थान पर इन्हें गतिशील करने वाला भी कहा है।[९]

---

१ ऋ० १०।९०।१२। २ अवे० १०।१।३ ३ तै० ३।१२।९।१–४। ४ श० ३।२।१।४०। ५ श० १४।४।२।२४–२७। ६ वैको० में वाक्, गो आदि पद देखें। ७ ऐ० ७।२९। ८ य० ३६।१२। य० ११।५०–५१ भी देखें। ९ य० ११।५२। पाउ० में पृ० २७ पर २३ (IV–V) देखें।

(११) ऊपर दासों को आर्यों का समकक्ष बताया है। 'यथावश नयन्ति दासमार्यः'[1] में यथावशम् का अर्थ 'यथामिव' करने पर 'इन्द्र दासों का नेतृत्व करता है' भाव निकलता है। ऋग्वेद में दास नमुचि पद[2] एक शाश्वतिक दृश्य का द्योतक है, दासों के नीचत्व का द्योतक नहीं है।

(१२) अथर्ववेद के 'शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यम्'[3] में शूद्रा पद किसी स्थान विशेष का नाम प्रतीत होता है, जातिविशेष का नाम नहीं है, क्योंकि इस का प्रयोग मूजवत और बाल्हीकान् के साथ हुआ है।

(१३) ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में 'वर्णं शुक्रम्'[4] के लिए 'आर्यं वर्णम्'[5] का प्रयोग हुआ है। 'यथेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः कृण्वान-स्तन्वे स्वायै'[6] की पुष्टि में 'आर्यं वर्णम्' का अर्थ 'आरोग्य और स्वास्थ्य' भी समझा जा सकता है।

(१४) छान्दोग्य उपनिषद् में[7] श्रद्धादेय, बहुदायी, बहुपाक्य और आवसथ निर्मापक जानश्रुति पौत्रायण को शूद्र कहा गया है। स्वामी शंकराचार्य का समाधान सन्तोषजनक नहीं। वहां पर श्रेष्ठ और विद्या के लिए इच्छा प्रकट करने के कारण ही राजा को शूद्र कहा गया है।

(१५) महाभाष्यकार के लेखानुसार[8] तप करने से विश्वामित्र ऋषि हो गये। उनके तप से ही उनके पिता और पितामह भी ऋषि हो गये। पुत्र या पौत्र के तप से पिता या दादा का ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा होना बुद्धिगम्य नहीं, ऋषि-श्रेष्ठ–शूद्र होना बुद्धिगम्य है।

(१६) यजुर्वेद के पुरुषमेध में अपने-अपने कर्मों के अनुरूप ही मनुष्यों

---

१. ऋ. ५।३४।६। २. ऋ. ५।३०।७–८। ३. अथर्व० ५।२२।७. ४. ऋ. ३।३४।५. ५. ऋ. ३।३४।९। ६. ऋ. ५।४।६। ७. छा० उ० ४।२।३; ५। ८. वेदार्थसमालोचन, पृ० २२७ पर पा० ४।१।१०४—अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् पर पतञ्जलि मुनि का लेख देखें।

को विभिन्न गुणो और शक्तियो आदि से सम्बद्ध किया गया है। वहाँ ब्राह्मण को ब्रह्म से, राजन्य को क्षत्र से, वैश्य को मरुतो से और शूद्र तथा कौलाल का तप से सम्बद्ध किया है।[1] मनु ने[2] समस्त वर्णो का तप पृथक्-पृथक् बताया है। उस में शूद्र का तप सेवा बताया है। पूर्वोक्त वैदिक वर्णना मे इस की पुष्टि नही होती है। अत शूद्र के तप से सम्बन्ध के कारण 'पद्भ्या शूद्रो अजायत'[3] में पद्भ्याम्' का अर्थ 'तप श्रम' करना युक्तिसंगत मालूम पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण ने[4] 'पाद' को प्रतिष्ठा कहा भी है। षड्विंश ब्राह्मण ने पादो को अनुष्टुप् कहा है।[5] अनुस्तोभन, मित्र की पत्नी, गायत्री, वाक्, ज्यैष्ठ्य, पृथिवी प्रजापति, राजन्य, अश्व, आप, सत्यानृत आदि को अनुष्टुप् कहा गया है।[6] पृथिवी शूद्रवर्ण है क्यो कि वह पूषा है।[7] अत 'पद्भ्याम्' पाठ्य भाव का भी द्योतक माना जा सकता है।

(१७) शतपथ ब्राह्मण में तप को शूद्र कहा है—'तपो वै शूद्र'।[8]

(१८) ऋग्वेद में अग्नि और विश्वे देवा को द्विजन्मा या द्विज कहा है, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को नही।[9]

(१९) मनु ने द्विजो के तीन जन्म माने है—माता से, उपनयन से

---

१ य० ३०।५, ७। २ मनु ११।२३५। ३ ऋ० १०।९०।१२। आगे मम० ३३।४ की टिप्पणी भी देखें। ४ श० १३।८।३८। ५ षड्विंश ब्राह्मण, २।३। ६ देखो वैका० पृ० २५–२६। ७ श० १४।४।२।२५। ८ श० १३।६।२।१० ९ देखो ऋ १।६०।९, १४०।२ १४९।४–५ ६।५०।२, १०।६१।१९। यहा पर सा० ने द्विजा को पृथक् मान कर विप्र अर्थ किया है। सायणीय याजना में भी वर्णभाव नही आता। ऋ ३।२७।८ में विप्र का यज्ञ का साधन और ऋ ८।६।२८ में धी (कर्म,बुद्धि) से उत्पन्न बताया है। ऋषि भी विप्र हैं। अत इस अर्थ में द्विजपद मानव मात्र का द्योतक है।

और यज्ञदीक्षा से।[1] शतपथ ब्राह्मण ने प्रत्येक यज्ञ में दीक्षित पुरुष को ब्राह्मण कहा है।[2] महाभारत के अनुसार शूद्र भी यज्ञ में दीक्षा लेते हैं और यज्ञसमाप्ति पर 'पूर्ण पत्र' नामक दक्षिणा देते हैं।[3]

(२०) ज्योतिष शास्त्र में शूद्रों का स्वामी बुध बताया गया है—'विप्रादितः शुक्रगुरु कुजार्कौ शशी बुधश्चेत्यसितोऽन्त्यजानाम् ।'[4] वहां बुध को श्लिष्टवाक्, हास्य में रुचि रखनेवाला और विद्वान् बताया है—'श्लिष्टवाक् सततहास्यरुचिर्ज्ञः ।'[5]

(२१) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों[6] के ऋषि कवष ऐलूष को दासीपुत्र, कितव और आचारभ्रष्ट माना जाता है।[7] कवष को ऋग्वेद में आपम् से सम्बन्धित और इन्द्र से रक्षित बताया है।[8] इस के एक सूक्त[9] का देवता 'आप.' और एक सूक्त[10] का इन्द्र है। दो सूक्तों[11] के देवता *विश्वेदेवाः, इन्द्र आदि हैं। शिष्ट सूक्त[12] के ग्यारहवें मन्त्र में 'वृषल'* का प्रयोग है। संभवतः इस वर्णन को ऋषि की आपबीती मान कर ऐतरेय ब्राह्मण की कथा गढ़ ली गयी। यहाँ पर वृषल पद द्व्यर्थक प्रतीत होता है—धर्म का धारक (—वृषं धर्मं लाति गृह्णाति धारयतीति वा) होता हुआ भी आचार से धर्म का नाशक (—वृषं धर्मं लुनाति छिनत्ति)। अतः कवष अपने जन्म के कारण नीच नहीं था, प्रत्युत अपने श्रैष्ठ्य के कारण

---

१. मनु० २।१६९। २. श० ३।२।१।४०। ३. डॉ० अम्बेदकर द्वारा श्री राय के कलकत्तासंस्करण के महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय ६० में उद्धृत श्लोक ३८–४० और उन पर डॉ० अम्बेदकर का लेख—हू वर दी शूद्राज, पृ० १२१। ४. बृहज्जातक २–७। ५. वहीं। ६. ऋ. १०।३०–३४। ७. एतद्विषयक सामग्री आचार्य शिवपूजन सिंह कुशवाहा ने वैदिक धर्म, सितम्बर १९५७ के अंक में 'उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार विमर्श' में प्रकाशित की है। ८. ऋ ७।१८।१२। ९. ऋ. १०।३०। १०. ऋ. १०।३२। ११. ऋ. १०।३१;३३। १२. ऋ. १०।३४।

और उपरोक्त मन्त्र में वृषल पद का प्रयुक्त करने के कारण 'वृषल' कहलाया होगा। कक्षीवान् आदि ऋषियों की स्थिति पर इस दृष्टि से पुनः विचार की आवश्यकता है। वैसे भी मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषि उन के रचयिता नहीं हैं। वे उन के अर्थों के द्योतक पद हैं। तत्सम्बन्धी आख्यान आलंकारिक मात्र हैं।[१२अ]

(२२) श्री मोनियर विलियम्स ने अपने कोष[१] में लिखा है कि बौद्ध-साहित्य में 'शूद्र' पद ब्राह्मण का नाम है। यह नाम ईर्ष्यावश भी प्राप्त हो सकता है, और प्राचीन स्थितियों का अवशेष भी। वीरचरित में शूद्रिक एक पुरुष का नाम है। हरिवंश में शूद्रा रौद्राश्व की पुत्री का नाम है।[२]

(२३) मनु ने शूद्र को धर्म का विवेचक बताया है —

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः॥[३]

बहुश्रुत और सदाचारी व्यक्ति को ही धर्मविवेचन का अधिकार प्राप्त होता है। तु० क० कुल्लूक का व्याख्यान—धार्मिकोऽपि व्यवहारज्ञोऽपि शूद्रः।[३अ]

(२४) मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि उस के काल में शूद्र राजा भी होते थे। वहाँ पर नृपतिमात्र को क्षत्रिय कहा है।[४] अतः शूद्र राजा क्षत्रिय ही रहे होंगे।

---

१२ अ—देखो सुधीर कुमार गुप्त, सोर्सेस ऑफ दी ऋग्वेद, देअर मैसेज एण्ड फिलोसोफी, ऋक्सूक्तों की भूमिका, सन्दर्भ ३१–६५ भी देखें।
१ विलि० पृ० १०८५, कालम ३। २ वही। ३ मनु० ८।२१, श्लोक २० भी देखें। ३अ वही, श्लोक २०। ४ मनु० १०।१०

(२५) 'कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा'[1] कह कर मनुस्मृति ने शूद्र आदि को करमुक्त किया है। वेद में कारु और तक्षा आदि शिल्पियों का बड़ा सम्मान है। वृबु तक्षा वहां एक ऋषि है, ऋभवः और त्वष्टा देवता हैं।[2] अतः इन को उन की श्रेष्ठता, कलाकौशल और यज्ञमय जीवन के लिए करों से मुक्त किया गया होगा।

(२६) कभी-कभी ब्राह्मण भी शूद्रों की सेवा करते थे। परन्तु उन्हें इस सेवा के कारण पतित माना जाता था।[3] आपत्काल में वैश्य भी शूद्रवृत्ति कर सकता था।[4]

(२७) शूद्र की हत्या करने पर मनुस्मृति ने प्रायश्चित्त का विधान किया है।[5]

(२८) अमरकोष में आभीरी को महाशूद्री कहा है।[6] मनु के मत में ब्राह्मण से अम्बष्ठ कन्या में उत्पन्न स्त्री आभीरी होती है।[7] बीज की प्रधानता के कारण आभीरी ब्राह्मणी ही है। उसे महाशूद्री कहना प्राचीन इतिहास का अवशेष है।

(२९) अत्रिस्मृति में विप्रों के दस प्रकार बताये हैं जिन में शूद्र विप्र भी है :—

'देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः ।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो दशविधाः स्मृताः ॥'[8]

इस में वैदिक और पीछे के काल के मानव जाति के भागों को एकत्र कर दिया गया है।

---

१. मनु० १०।१२०। २. देखो ऋषियों और देवताओं की अनुक्रमणिकाएं। ३. मनु० ११।६९। ४. मनु० १०।९८। ५. मनु० ११।१३०; १३१; १४०। ६. अको० २।६।१३। ७. मनु० १०।१५। ८. स्मृति संदर्भ, भाग १, पृ० ३८६।

(३०) डा अम्बेदकर ने लिखा है कि महाभारत के हस्तलेखों में से छै में पैंजवन सुदास को 'शुद्र' एक में शूद्र के स्थान पर शुद्ध कहा गया है। दो मे शूद्र शुद्ध के स्थान पर पुरा का पाठ है।[१] शूद्र के स्थान पर शुद्ध का प्रयोग इन दोनो को समानार्थक बना रहा है।[१अ] पुराणो में और ऐतिहासिकों की दृष्टि में ऋग्वेद में पैंजवन सुदास क्षत्रिय है। अत क्षत्रिय शुद्ध शूद्र सिद्ध होते हैं।

(३१) यजुर्वेद में ब्राह्मण आदि के साथ शूद्रो में भी रुच के आधान की प्रार्थना की गयी है।[१आ]

(३२) सर एम मानियर विलियम्ज के कोष में संगृहीत शूद्रविषयक अवादत्त पदो में गूढ इतिहास लक्षित होता है—शूद्रप्रिय (प्याज) शूद्रभिक्षित (शूद्र से प्राप्त भिक्षा) शूद्रयाजक शूद्रप्रायश्चित्त शूद्रशासन, शूद्रसंस्कार और शूद्रीभू। उन्हो ने शूद्रो से सम्बन्धित अवादत्त १९ पुस्तको का भी नाम दिया है। इन के अध्ययन से भी शूद्रो की स्थिति पर प्रकाश मिलने की सम्भावना है —१ शूद्रकमलाकर २ शूद्रकुलदीपक ३ शूद्रकृत्य ४ शूद्रविचारण ५ शूद्रविचारणतत्त्व ६ शूद्रविचारतत्त्व ७ शूद्रजपविधान ८ शूद्रतत्त्व ९ शूद्रबोधिनी १० शूद्रपंचसंस्कारविधि ११ शूद्रपद्धति १२ शूद्रविवेक १३ शूद्रस्मृति १४ शूद्रचिन्तामणि १५ शूद्रशिरोमणि १६ शूद्राह्निक १७ शूद्राह्निकाचार तत्त्व १८ शूद्रोत्पत्ति १९ शूद्राचार।[२] इन म से कुछ तो आपातत ही नितान्त अर्वाचीन प्रतीत होती हैं। शूद्रप्रेष्य—शूद्र के सेवक ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य से भी शूद्रो के सर्वोपरि भाव का परिचय मिलता है।

---

१ डा अम्बेदकर, हू वर दी शूद्राज, पृ० १२१। १अ इस प्रकार अर्थ-ग्रहण की शैली का विद्वानो न अनेक बार ग्रहण किया है। वैदिक रीडर में ऋ १।१५४।३ पर मै० की टिप्पणियाँ देखे। वेभाप० ४ भी देखें। १आ य० १८।४८। २ विको० पृ० १०८५। ३ वही।

(३३) मनु ने शूद्रराज में निवास का निषेध किया है।[1] शूद्र-राज्य शूद्रों की दलितावस्था में कल्पनातीत है। वह तभी सम्भव है जब वे शक्तिशाली, सुसंगठित हो और क्षत्रियों की श्रेणी में आयें। ब्राह्मणों का उन से द्वेष उन के ब्राह्मणों के समान ज्ञानवान् और सम्मानित होने से हो सकता है। आधुनिक युग में भी कहीं-कहीं ऐसी परिस्थिति देखी जाती है। यथा डा० मंगल देव शास्त्री के बनारस संस्कृत कालिज का प्रिंसिपल बनाए जाने पर कतिपय ब्राह्मणों ने उन के विरुद्ध आन्दोलन किया था। दक्षिण में भी ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का संघर्ष बहुधा सुनने में आता रहा है। परतन्त्रता के काल में कतिपय अनुदार ब्राह्मण अब्राह्मणों को संस्कृत पढ़ाने में संकोच करते थे। हरिजनों--शूद्रों को वेद पढ़ाने के लिए तो सम्भवतः आज भी कम ब्राह्मण तैयार होंगे। शूद्रभूयिष्ठ राज्य के नाश की अवश्यम्भाविता[2] के मूल में भी यही भाव लक्षित होता है। सम्भवतः शूद्रों की सन्निधि में अध्ययन के निषेध[3] में निग्रह का भय और अपने ज्ञान को शूद्रों से गुप्त रखने की भावना लक्षित होती है। मनुस्मृति के शूद्रों से दान न लेने, उन को न पढ़ाने और यज्ञ न कराने आदि के विधान भी शूद्रों के उत्कर्ष के परिचायक हैं।

(३४) काश्यपसंहिता में कश्यप ने सब वर्णों को आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया है—ब्राह्मण अर्थपरिज्ञान, पुण्य और परोपकार के लिए, क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा के लिए, वैश्य वृत्ति के लिए और शूद्र सेवा के लिए आयुर्वेद पढ़े। आयुर्वेद पढ़ लेने पर वैद्य की तीसरी जाति निष्पन्न हो जाती है और वह 'त्रिज' हो जाता है।[4] शूद्रों की त्रिज संज्ञा तब ही सार्थक

---

१. मनु० ४।६१। २. मनु० ८।२२। ३. वही, ४।९९। ४. संस्कारविधि विमर्श पृ० ८८। 'त्रिज' के स्थान पर 'द्विज' पाठ पीछे का ही माना जा सकता है। यह किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया होगा जो शूद्रों के त्रिजत्व को समझने में असमर्थ रहा, अथवा उसे यह स्थिति रुचिकर नहीं थी।

हो सकती है जब उन्हें द्विज माना जाए। द्विजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही ग्रहण होता है, शूद्रों का नहीं। उन को द्विज मानने पर उन को इन तीन वर्णों का मानना आवश्यक हो जायगा।

(३५) श्री शेरिंग शूद्रों को आर्येतर जाति मानते हैं जो आर्यों के तीनों वर्णों के साथ पारस्परिक विवाह आदि सम्बन्ध के द्वारा इतने अधिक आर्य हो गये हैं कि उन में से कुछ जातियाँ तो वास्तव में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हैं।[1]

(३६) तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मणों का देवों से और शूद्रों का असुरों और असत् से[2] उत्पन्न बताया है।

(३७) ऋग्वेद के एक वर्णन में एक ही वंश में विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों का वर्णन है —

[3]कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥[3]

कारु-स्तोता-ब्राह्मण, भिषक्-वृत्त्यर्थ वैद्य वैश्य और उपलप्रक्षिणी-शूद्र (?) हो सकते हैं।

(३८) शूद्रशब्द की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं —

(१) √शद् + रक् से—शद्लृ शातने भ्वा०। शीयन इति शूद्र-वर्णान्ति।[4] कर्ता।[5]

(२) √शुच् से—शोचयतीति शूद्र। सेवको वा।[6]

---

१ डा अम्बेदकर द्वारा हू वर दी शूद्राज, उपोद्घात पृ० ।। पर शेरिंग, हिन्दू ट्राइब्ज ऐण्ट कास्ट्स, भाग १ भूमिका पृ० XXI से उद्धृत।
२ वही, पृ० २७। तथा तै० १।२।६।७ और ३।२।३।९। ३ ऋ ९।११२।३। ४ सकोपे 'वर्णं' इति पाठ। ५ दपाउ० ८।३४। ६ पपाउ० (दस०) २।१९।

(३) इसे 'स्वयति गच्छति वर्त्तते' से भी लिया जा सकता है। ऋग्वेद के 'महसा शूकृतस्य'[१] और यजुर्वेद के शूकार (=क्षिप्रकारी) और शूकृत (=क्षिप्रकृत)[२] में भी यही भाव है। यद्यपि यहाँ 'शूद्र' पद का कोई आभास नहीं मिलता तो भी अर्थ और रूप में शूद्र की शूकृत से समानता के आधार पर शूद्र को शूकृत का रूप माना जा सकता है।

(३९) व्याकरण में शूद्रीपद शूद्रपत्नी का और शूद्रापद शूद्रजाति की स्त्री का द्योतक है। हो सकता है 'आचार्या' पद के समान यह पद उस काल में शूद्रगुणयुक्त - पोषक, परोपकारपरायण स्त्री को कहता हो।

(४०) वृषल पद शूद्र का ही वाचक नहीं है, घोड़ा और गाजर का भी द्योतक है और वृषली पद केवल शूद्रा या शूद्री का द्योतक नहीं, प्रत्युत अविवाहित रजस्वला कन्या, रजस्वला, बाँझ, मृतसन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री भी वृषली है। ऐसी कन्या और स्त्रियाँ सभी वर्णों में होती हैं, शूद्रों में ही नहीं।[३] मौर्यों को बौद्ध साहित्य में क्षत्रिय कहा है, परन्तु पुराणों आदि हिन्दू साहित्य में वृषल और शूद्र।[३अ] ये पद उन के श्रेष्ठत्व के कारण उन्हें मिले होंगे जिन को कालान्तर में आधुनिक अर्थों में समझा जाने लगा।

(४१) लोक में महतर (=महत्+नर) और चूहड़ा (चतुर्धुरीण=चौधर=चौहड़) पद भी इन के प्राचीन काल में उच्च स्तर के द्योतक हैं।

(४२) ऋग्वेद में विप्रों में ऋषि को सर्वश्रेष्ठ माना है :—
'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनाम् ऋषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।

---

१. ऋ. १।१६२।१७। २. य० ३०।८; २५।४०। ३. अकों० और अन्य कोषों में इन पदों के अर्थ देखें। ३.अ. देखो डा० हेमचन्द्र राय चौधरी, पॉलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियेन्ट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण (१९३८), पृ० २९४–२९६।

श्येनो गृध्राणा स्वधितिर्वनाना सोम पवित्रमत्येति रेभन् ॥"[1]
मानवमात्र विप्र है और ऋषि शूद्र ।

(४३) वसिष्ठ धर्मसूत्र के मत में ऋचाओ के ज्ञान से हीन व्यक्ति शूद्रा का स्वामी नही हो सकता है ।[2]

५९—उपरोक्त विवेचन से ये परिणाम निकलते है —

(१) आरम्भ में आधुनिक रूप में वर्ण-व्यवस्था की कोई कल्पना नही थी ।

(२) वैदिक काल में गुण और कर्म का प्राधान्य था । जैसा गुण और कर्म जिस व्यक्ति में देखा वैसा ही उस का नाम हो जाता था ।

(३) *समाज में परोपकार, ज्ञान, श्रम, तप, गतिशीलता आदि गुणो* को बहुत महत्त्व दिया गया था । इन गुणो से युक्त व्यक्ति को ऋषि और शूद्र कहते थे । ऋषि सब में श्रेष्ठ थे । अत शूद्र सब में श्रेष्ठ थे । ऋषि सब वर्णों से निकलते थे । इस लिए उन का—शूद्रा का पृथक् वर्ण नही था ।

(४) इसी कारण शूद्रा का पृथक् यज्ञोपवीत सस्कार नही बताया गया है । जिस प्रकार त्रयी से चारो वेदा का अवबोध होता है, उसी प्रकार द्विज, आर्य और तीना वर्णों के कथन में शूद्र वर्ण का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

(५) कालान्तर मे ब्राह्मणा का और इतरवर्णों के शूद्रा का सघर्ष चला जिस में ब्राह्मण अपनी एकता और समाज में बौद्धिक कार्य के सम्पादक होने के कारण विजयी हुए और अन्य वर्णों के शूद्र पददलित हुए । जहाँ कही मिल सके वहाँ उन की गोत्रपरम्परा इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाली होगी ।

---

१ ऋ ९।९६।६। २ वसिष्ठधर्मसूत्र ३।३। वेभाप० १।१३ ।

अथ

पारस्करगृह्यसूत्रे
उपनयनसूत्राणि

(द्वितीयकाण्डे कण्डिकाः ३—७)

१-अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥१॥
२-एकादशवर्षं राजन्यम् ॥२॥
३-द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥३॥
४-यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥४॥

पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयन सम्बन्धी सूत्रों का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद

(काण्ड २, कण्डिका ३—७)

१—ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) को आठ वर्ष में अथवा (उस के) गर्भ (में आने के दिन से) आठवें (वर्ष) में (आचार्य के पास) लाए (अर्थात्—उस का यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

२—क्षत्रिय बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) का ग्यारह वर्ष के का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

३—वैश्य बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) का बारह वर्ष में का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

४—अथवा सब का शुभ परिस्थितियों में (उपनयन कराया जा सकता है)।

५-ब्राह्मणान् भोजयेत् ।

६-तं च पर्युप्तशिरसमलंकृतमानयन्ति ॥५॥

७-पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति—
ब्रह्मचार्यसानीति च ॥६॥

८-अथैनं वासः परिधापयति—

९-येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति ॥७॥

५—(उस अवसर पर गुरुकुलस्थ आचार्य आदि) ब्राह्मण (वृत्ति के लोगों) को भोजन कराए ।

६—और (अब) उस (ब्रह्मचारी) को सिर मुँडवा कर और आभूषण पहना कर (शब्दार्थ—मुण्डे हुए शिर वाले और सजे हुए को) (यज्ञवेदी पर) लाते हैं ।

७—अग्नि के पश्चिम में (आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के) बिठा कर (आचार्य उस से) कहलाता है—'(मैं) ब्रह्मचर्य व्रत को प्राप्त हुआ हूँ' तथा '(मैं) ब्रह्मचारी हो जाऊँ ।'

८—अब (आचार्य) उस (ब्रह्मचारी) को वस्त्र पहनवाता है—

९—(बृहस्पतिः) वेदवाणी के अधिकृत विद्वान् आचार्य [पूर्व काल से] (इन्द्राय) परम तेजस्वी बलवान् ब्रह्मचारियों को (येन) जिस प्रकार (अमृतम्) वेद और उस की अध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिए नियत (वासः) वस्त्र (पर्यदधात्) धारण कराते आए हैं (तेन) उसी प्रकार (आयुषे) प्राण-शक्ति (आयुत्वाय) [वज्रमय] दीर्घ जीवन (बलाय) बल [और] (वर्चसे) ब्रह्मतेज [की प्राप्ति] के लिए (त्वा) तुम्हें [इस व्रत के लिए नियत वस्त्र] (परिदधामि) धारण कराता हूँ ।

१०-मेखलां बध्नीते ।

११-इयं दुरुक्तं परिबाधमाना
वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥८॥

१२-युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति
स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥
इति वा ॥९॥

१०—(अथ आचार्य के कहने पर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों को पढ़ कर) मेखला (= तगड़ी) बाँधता है ।—

११—[दुरुक्तम्] (मेरे) दुष्ट वचनों को [परिबाधमाना] नष्ट करती हुई (और) [मे] मेरे [पवित्रम्] पावन [वर्णम्] (ब्रह्मचर्यव्रत पालन रूपी) यश को [पुनती] पवित्र करती हुई, [प्राणापानाभ्याम्] प्राण और अपान (के नियमन) द्वारा [बलम्] बल [आदधाना] देती हुई [स्वसा] (शैथिल्य को) दूर भगाने वाली (अथवा-बहन के सदृश) [देवी] द्योतनशील (=चमकती हुई) [सुभगा] सुन्दर ऐश्वर्य या धर्मांल (=भाग्य) (देने) वाली [इयम्] यह [मेखला] तगड़ी (आज से मुझे) [आगात्] प्राप्त हो गई है ।

१२—[इति वा] अथवा इस (मन्त्र) को (पढ़े)-[सुवासाः]

१३-तूष्णीं वा ॥१०॥

१४-×अत्र यज्ञोपवीतपरिधानम्—

१५-[यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥इति॥

सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए [परिवीतः] (विद्याभ्यास की भावना से) भरा हुआ (वा—आचार्य से सगत हुआ) [युवा] नया ब्रह्मचारी [आगात्] (ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए गुरु के पास) आता है । [उ] निःसन्देह [सः] वह [जायमानः] (आचार्य से तीन रातों में तप से) उत्पन्न होता हुआ [श्रेयान्] श्रेय (के ज्ञान का अधिकारी) (शब्दार्थ—श्रेष्ठ) [भवति] होता है । [धीरासः] गम्भीर बुद्धिमान् [स्वाध्यः] सुन्दर विद्याओं का आधान करने वाले [मनसा] मन में [देवयन्तः] (ब्रह्मचारी को) वेदार्थवेत्ता विद्वान् बनाने की इच्छा करते हुए [कवयः] विद्वान् आचार्य (उस को) [उन्नयन्ति] (सद्गुणयुक्त शिक्षा प्रदान आदि द्वारा) उन्नत करते हैं ।

१३—अथवा चुप-चाप (=मौन हो कर बिना मन्त्र बोले ही) (मेखला बांधे) ।

१४—यहाँ यज्ञोपवीत पहना जाता है—

१५—[यत्] जो [पुरस्तात्] पहले [प्रजापतेः] ब्रह्म के [सहजम्] साथ उत्पन्न हुआ [परमम्] परमात्मा (के ज्ञान

१६-अयाजिनं प्रयच्छति ।

१७-मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो
यशस्वि स्थविरं समिद्धम् ।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं
वाज्यजिन दधेऽहमिति ॥]

१८-दण्डं प्रयच्छति ॥११॥

के अधिकारी ज्ञान) का परिचायक अथवा परम [पवित्रम्] पावन [यज्ञोपवीतम] (ब्रह्मचर्यव्रत रूप) यश का ज्ञापक (जनेऊ) [अग्र्यम्] अत्युत्तम [आयुष्यम्] आयु [प्रतिमुञ्च] प्रदान करे। (यह) [शुभ्रम्] सफेद रङ्ग का [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [बलम्, तेज] बल और तेज [अस्तु] देने वाला हो ॥ [यज्ञस्य] (तुम) यज्ञ के [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [असि] हो । (मैं) [त्वा] तुम को [यज्ञोपवीतेन] जनेऊ [उपनह्यामि] पहनाता हूँ ॥

१६—अब (आचार्य ब्रह्मचारी को) काले मृग का चर्म देता है ।

१७—[मित्रस्य] मित्र (—दुःख से बचाने वाले) की [चक्षु] आँख के सदृश, [धरुणम्] धारक, [बलीयः] दृढ़, [तेजः] तेजस्वी [यशस्वि] (और) यशस्वी [स्थविरम्] पुरानी, [समिद्धम्] चमकीली (=धार-सुथरी), [अनाहनस्यम्] पवित्र (करने वाली), [जरिष्णु] चिरकाल में फटने वाला (अर्थात्—पक्की) [इदम] इस [वाजि] ज्ञान और शक्ति की प्रतीक [अजिनम्] काले मृग की खाल (रूप) [वसनम्] वस्त्र को [अहम्] मैं (तुम्हें) [परिदधे] पहनाता हूँ ।

१८—(अब आचार्य ब्रह्मचारी को) डण्डा देता है ।

१६-तं प्रतिगृह्णाति ।

२०-यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्याम् ।

तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥१२॥

२१-दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥१३॥

२२-अथास्याञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति –

१६—(ब्रह्मचारी) उस दण्ड को ग्रहण करता है।

२०—[यः] (वह) जो [मे] मेरे [परापतन्] गिरने वाला हुआ है, [भूम्याम् अधि] सब पदार्थों आदि के मध्य [वैहायसः] निरन्तर गति करने वाला, [दण्डः] (अनुशासन करने वाला) दण्डा (है), [तम] उस को [अहम] मैं (ब्रह्मचारी) [आयुषे] (मर्यादायुक्त) जीवन, [ब्रह्मणे] वेदाध्ययन (और) [ब्रह्मवर्चसे] ब्रह्मतेज (की प्राप्ति) के लिए [पुनः] (अपने से) पहले के (ब्रह्मचारियों के) समान [आ ददे] धारण करता हूँ।

२१—(दीर्घ काल तक चलने वाले ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षा लेने वाला बालक) लम्बे सोमयज्ञ में (दीक्षा) लेता है ऐसा (शास्त्र का) वचन होने के कारण कुछ (आचार्य सोमयज्ञ की) दीक्षा (में दण्डग्रहण) के समान (यहाँ भी 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्यादि मन्त्र से दण्डधारण मानते हैं) ॥

२२—अब जल से (भरी हुई अपनी) अञ्जलि से (पानी छोड़ कर) उस (ब्रह्मचारी) की अञ्जलि को (जल से) भरता है।

१—एतत्सूत्रे कात्यायनश्रौतसूत्रपठितो मन्त्रः—'उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योदृचः' अभिमतः।

२३-आपो हि ष्ठेति तिसृभिः ॥१४॥

२४-अथैनं᳚ सूर्यमुदीक्षयति—

२५ तच्चक्षुरिति ॥१५॥

२६-अथास्य दक्षिणां᳚ समधिहृदयमालभते—

२७-मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥
इति ॥१६॥

२३—(आचार्य बालक की अञ्जलि को) 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन (मन्त्रों) से (भरता है)।

२४—अब उस (ब्रह्मचारी) को सूर्य का दर्शन कराता है।

२५—(आचार्य की प्रेरणा पर ब्रह्मचारी) 'तच्चक्षु' आदि (मन्त्र) को बोलता हुआ सूर्य को देखता है।

२६—अब (आचार्य) उस (बालक) के दाहिने कन्धे और हृदय को छूता है।

२७—[मम] अपने (=आचार्य के) [व्रते] अनुशासन में [ते] तुम्हारे [हृदयम्] हृदय को [दधामि] व्यापृत करता हूँ।

१—आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥१॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥२॥
तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

२—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

२८ अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह—को नामासीति ॥१७॥

२९-असावहं भो३इति प्रत्याह ॥१८॥

३०-अथैनमाह—कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥१९॥

३१-भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति ॥२०॥

[ते] तुम्हारा [चित्तम्] ज्ञान [मम] मेरे [चित्तम्] ज्ञान [अनु] के समान [अस्तु] हो। [मम] मेरी [वाचम्] वाणी को [एकमनाः] एकाग्र मन से [जुषस्व] सुना करना। [बृहस्पतिः] सर्वाधिपति परमात्मा [त्वा] तुम्हें [मह्यम्] मेरे लिए (अर्थात्—मेरे से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) [नियुनक्तु] नियुक्त करते रहें।

२८—अब उस के सीधे हाथ को पकड़ कर (आचार्य) कहता है—तुम्हारा क्या नाम है [श० तुम किस (सुखद) नाम वाले हो]।

२९—वह (बालक) उत्तर देता है—हे (श्रीमन्) यह मैं—हूँ।

३०—अब (आचार्य) उस से पूछता है—[कस्य] तुम (सुखदायक) किस के ब्रह्मचारी हो।

३१—'आप का' यह कहे जाने पर (आचार्य कहे कि) तुम [इन्द्र] परमैश्वर्यशाली और शक्तिमान् परमेश्वर के ब्रह्मचारी हो। [अग्निः] अज्ञान और पाप आदि को अग्नि के समान जला देने वाला परमेश्वर वा वेदज्ञान तुम्हारा आचार्य है। यह मैं भी तुम्हारा आचार्य हूँ।

१—अथास्य। २—अथैन०

३२-अथैनं भूतेभ्यः परिददाति–

३३-प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥२१॥२॥३॥

३२—अब उस (ब्रह्मचारी) को [भूतेभ्यः] समस्त उत्पन्न पदार्थों से (उचित उपयोग लेने के लिए) करता है (शब्दार्थ— देता है)।

३३—[अरिष्ट्यै] सुरक्षा के लिए (मैं) [त्वा] तुम्हें [प्रजापतये] प्राणियों के रक्षक परमात्मा को [परिददामि] समर्पित करता हूँ। [देवाय] दीप्तिमान् [सवित्रे] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर को [त्वा] तुम्हें [परिददामि] समर्पित करता हूँ। (मैं तुम्हें) [अद्भ्यः] जलों को (और) [ओषधीभ्यः] ओषधियों को [परिददामि] देता हूँ। (मैं) [त्वा] तुम्हें [द्यावापृथिवीभ्याम्] द्युलोक और पृथिवी लोक (अथवा प्राण और उदान) को [परिददामि] देता हूँ। (मैं तुम्हें) [विश्वेभ्यः देवेभ्यः] सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों को [परिददामि] सौंपता हूँ। [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] सम्पूर्ण [देवेभ्यः] (वसु, रुद्र, और आदित्य आदि) दिव्य पदार्थों (या विद्वानों) को [परिददामि] देता हूँ, (और) [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] समस्त [भूतेभ्यः] भूतों (पृथिवी, अपस्, तेजः, वायु और आकाश रूप या प्राणीमात्र) को [परिददामि] देता हूँ।

३४-प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥१॥

३५-अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्तेऽथैनँ सँ शास्ति.

३६-ब्रह्मचार्यसि ।

३७-अपोऽशान ।

३८-कर्म कुरु ।

३९-मा दिवा सुषुप्था ।

४०-वाचं यच्छ ।

४१-समिधमाधेहि ।

४२-अपोऽशान ॥इति॥२॥

३४—अग्नि की प्रदक्षिणा कर के (आचार्य के बाईं ओर) बैठता है।

३५—पुनः (यज्ञ के) आरम्भ होने पर घृत की (१४) आहुतियां दे कर, (यज्ञशेष के) खा लेने पर अब उस (ब्रह्मचारी) को शिक्षा देता है—

३६—(अब) तुम ब्रह्मचारी हो।

३७—(सब कर्मों अथवा–सन्ध्योपासन और भोजन के आरम्भ में) पानी पिया करो (अर्थात्–आचमन किया करो)।

३८—(सदा) काम करते रहना।

३९—दिन में न सोना।

४०—(पूछे जाने पर) उत्तर देना।

४१—समिधाओं से यज्ञ किया करो (शब्दार्थ—समिधा को आग में रक्खा कर।)

४२—(अब फिर यज्ञ आदि कर्मों की समाप्ति पर) आचमन किया करो।

४३-अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥३॥

४४-दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ॥४॥

४५-पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ॥५॥

४६-संवत्सरे षाण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा ॥६॥

४७-सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥७॥

४३—अब अग्नि के उत्तर की ओर, पश्चिम की ओर मुख वाले, बैठे हुए, (सकाम और श्रद्धाभाव से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) उपस्थित हुए, (गुरु को शान्त चित्त से) देखते हुए और (गुरु द्वारा शान्त चित्त) निश्चित किए गए इस (ब्रह्मचारी) को गायत्री का उपदेश करे।

४४—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि (अग्नि के) दक्षिण की ओर खड़े हुए या बैठे हुए को (गायत्री का उपदेश करे)।

४५—(पहले) एक-एक पाद को, (फिर) आधा-आधा ऋचा को और तीसरी बार सम्पूर्ण मन्त्र को (ब्रह्मचारी के) साथ-साथ पढ़ता हुआ (आचार्य उपदेश करे)।

४६—(इस गायत्री पाठ को) एक वर्ष में (या) छै मास में, (या) चौबीस दिन में (या) बारह दिन में, (या) छै दिन में अथवा तीन दिन में (पूरा कराए)।

४७—निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है—इस श्रुति के कारण ब्राह्मण बनने के इच्छुक और योग्य (ब्रह्मचारी) को तो गायत्री तुरन्त ही सिखा सकता है।

४८-त्रिष्टुभं * राजन्यस्य ॥८॥

४९-जगतीं वैश्यस्य ॥९॥

५०-सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥१०॥३॥४॥

५१-अत्र समिदाधानम् ॥१॥

५२-पाणिनाऽग्निं परिसमूहति—

५३-अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु ।
यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवं मां † सुश्रवः सौश्रवसं कुरु ।
यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥२॥

४८—क्षत्रिय को त्रिष्टुम् (छन्द वाली) (सावित्री ऋचा (सिखाए) ।

४९—वैश्य को जगती (छन्द वाली सावित्री ऋचा सिखाए) ।

५०—अथवा सब को गायत्री (छन्द वाली ऋचा सिखाए) ।

५१—(अब ब्रह्मचारी) यहाँ (अग्नि) में समिधाओं का प्रक्षेप (करे)।

५२—(ब्रह्मचारी) हाथ से आग को (इकट्ठा कर के) तेज करे ।

५३—[सुश्रवः] हे शोभन यश वाले [अग्ने] परमात्मन्, [मा] मुझे [सुश्रवसम्] शुभ्र यश वाला [कुरु] बना दो । [सुश्रवः] हे उत्तम कीर्ति वाले [अग्ने] परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार [त्वम्] आप [सुश्रवाः] परम विश्रुत हैं, [सुश्रवः]हे यशस्वी [माम्] मुझे [सौश्रवसम्] उत्तम यश वाला [कुरु] कर दे । [अग्ने] हे परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार[त्वम्] आप [देवानाम्] (सूर्यादि भौतिक) दिव्य पदार्थों के [यज्ञस्य] (कर्मों में प्राप्त) यज्ञभाव के [निधिपाः]

५४-प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति ।

५५-अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।
यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासं स्वाहेति ॥३॥

रक्षक (= धारक) [असि] हो, [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं (भी) [मनुष्याणाम्] मनुष्यों में [वेदस्य] वेद के [निधिपः] कोष का रक्षक [भूयासम्] बन जाऊँ।

५४—प्रदक्षिणा की हुई अग्नि को (जल से) छिड़क कर खड़े हुए (ही) (अग्नि) में समिधा डालता है।

५५—(मैं ने) [बृहते] महान [जातवेदसे] (समस्त) उत्पन्न (पदार्थ आदि) को ज्ञात [अग्नये] अग्नि को [समिधम्] समिधा [आहार्षम्] दी है। [अग्ने] हे आग [यथा] जैसे [त्वम्] तुम [समिधा] समिधा से [समिध्यसे] प्रदीप्त होती हो [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं [आयुषा] आयु [मेधया] धारणावती बुद्धि (वर्चसः] तेज [प्रजया] विश्व ज्योति (या अन्न), [पशुभिः] शान्ति और कल्याण (और) [ब्रह्मवर्चसेन] वेदाध्ययन की सम्पत्ति से [समिन्धे] प्रदीप्त हो जाऊँ। [मम] मेरे [आचार्यः] आचार्य [जीवपुत्रः] दीर्घजीवी पुत्रों वाले (हों अथवा—परम गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी हैं)। [अहम्] मैं [मेधावी] बुद्धिमान् [असानि] हो जाऊँ, [अनिराकरिष्णु] (गुरु

५६-एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥४॥

५७-*एषा त इति वा समुच्चयो वा ॥५॥

५८-पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥६॥

५९-पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे—

६०-तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥७॥

के उपदेश को) न भूलने (या–ठुकराने) वाला, [यशस्वी] कीर्तिमान् (=प्रसिद्ध) [तेजस्वी] तेजस्वी [ब्रह्मवर्चसी] वेद ज्ञान के तेज से युक्त, [अन्नादः] (और) समस्त भोग्य पदार्थों का भोग करने वाला [भूयासम्] रहूँ। [इति] (मेरी) यह [स्वाहा] (वाणी) सिद्ध हो।

५६—इसी प्रकार (इस मन्त्र को पढ़ कर) दूसरी और तीसरी (समिधा) डाले।

५७—अथवा 'एषा ते'–(मन्त्र से समिधा डाले।) अथवा ('अग्नये समिधम्' और 'एषा ते'—इन दोनों मन्त्रों को) मिला कर (समिधा डाले)।

५८—पहले के समान ही (अग्नि को) एकत्र कर के प्रदीप्त करने और जल छिड़कने की (क्रियाएँ करे) ॥६॥

५९—दोनों हाथ तपा कर (उन से) मुख को मलता है।

---

* एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयसा च प्याशिषीमहि ॥ अग्ने वाजजिद्वाजन्त्वा ससृवाँ सं वाजजितँ सम्मार्ज्मि ॥"—. य० २।१४॥

६१-मेधां मे देवः सविता आदधातु, मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु, मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति॥८१॥

६०--(अग्ने) हे (प्राण और रेतस् के प्रतीक) अग्नि, (तनूपाः असि) (तुम) शरीर के रक्षक हो (मे) मेरे [तन्वम्] शरीर को [पाहि] रक्षा करो। [अग्ने] हे अग्नि [आयुर्दा असि] तुम जीवन के देने वाले हो, [मे] मुझे [आयुः] (यशमय गतिशील) जीवन [देहि] प्रदान करो। [अग्ने] हे अग्नि, [वर्चोदा असि] तुम तेज के देने वाले हो [मे] मुझे [वर्चः] तेज [देहि] दो। [अग्ने] हे अग्नि [मे] मेरे [तन्वाः] शरीर में [यत्] जो कुछ [ऊनम्] कमी हो [तत्] उसे [मे] मेरे (शरीर) में [आ पृण] पूरा कर दो ॥७॥

६१--[देवः सविता] दिव्य गुण युक्त सर्वोत्पादक परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] दें। [दिव्य] अलौकिक स्वरूप वाले [सरस्वती] ज्ञान-रूप परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] प्रदान करें। [पुष्करस्रजौ] वाक् और प्रतिष्ठा रूपी कमल की माला पहनने वाले [देवौ] दिव्य गुणों वाले [अश्विनौ] अध्यापक और उपदेशक विद्वान् (अथवा, प्राण और अपान)[मे] मुझे][मेधाम्] मेधा [आधत्ताम्] दें।

१—गुजरातीप्रेससंस्करणे कण्डिकासमाप्तिद्योतकोऽङ्कः—
४ इति अत्रापि प्रदर्शितः।

६२-(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति ।

६३-त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणे ँ ्से हृदि च-त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम्) ॥४।५ ॥

६४-अत्र भिक्षाचर्यचरणम् ॥१॥

६५-भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥२॥

६६-भवन्मध्यां ँ्राजन्यः ॥३॥

६७-भवदन्त्यां वैश्यः ॥४॥

६२—[अङ्गों को छू कर (मन-मन में उच्चारण करते हुए) भावना करता है (कि)—मेरे (शरीर के) अङ्ग, वाणी, प्राण, दर्शन और श्रवण शक्तियाँ यश और बल बढ़ते रहें।

६३—'त्र्यायुषम्'—इन (तीन मन्त्रों में से) प्रत्येक से राख से मस्तक, गरदन, दाहिने कन्धे और हृदय पर त्र्यायुष (-त्रिपुण्ड्रक नाम का तिलक) बनाए] ॥४।५॥

६४—अब भिक्षा माँगने की वृत्ति की जाती है।

६५—ब्राह्मण गुणों का इच्छुक (वाक्य के) आरम्भ में 'भवत्' का उच्चारण कर के भिक्षा माँगे।

६६—क्षत्रिय गुणों का इच्छुक 'भवत्' का बीच में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे)।

६७—वैश्य गुणों का इच्छुक 'भवत्' का अन्त में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे।)

१—त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ य० ३।६२॥

६८-तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥५॥

६९-षड् द्वादशापरिमिता वा ॥६॥

७०-मातरं प्रथमामेके ॥७॥

७१-आचार्याय मैवं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेष तिष्ठेदित्येके ॥८॥

७२-अहिं[१]सन्नरण्यात् समिधमाहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते ॥९॥

७३-अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्यात् ॥१०॥

७४-दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥

६८—तीन (भिक्षा देने में) इन्कार करने वाली नहीं होतीं।

६९—छै, बारह अथवा असंख्य (इन्कार न करने वाली होती हैं)।

७०—कुछ (आचार्य कहते हैं कि) पहले माता से (भिक्षा माँगे)।

७१—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि भिक्षा से प्राप्त सामग्री को आचार्य के अर्पण कर के (अथवा बता कर) शेष दिन में संयत वाणी वाला रहे।

७२—अहिंसक रहते हुए (अथवा बिना स्वयं काटे स्वतः गिरी हुई) समिधाएँ ला कर उस (संस्कार के समय प्रज्वलित की गई) अग्नि में पहले के समान डाल कर (मन्त्र आदि) वाणी को बोले (श०—छोड़े)।

७३—नीचे सोने वाला, खारा और नमक न खाने वाला हो।

७४—डण्डा रखना, अग्नि की (हवन द्वारा) सेवा, गुरु की सेवा और भिक्षावृत्ति (करे)।

१—गुजरातीसंस्करणे—समिध आहृत्य-इति पाठः।

७५-मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥१२॥

७६-अष्टचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥१३॥

७७-द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥१४॥

७८-यावद्ग्रहणं वा ॥१५॥

७९-वासांसि शाणक्षौमाविकानि ॥१६॥

८०-ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥

८१-रौरवं* राजन्यस्य ॥१८॥

८२-आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१९

७५—शराब, मांस, (गोते लगा-लगा कर अतिशय) स्नान (अथवा—मालिश), ऊँचे आसन पर बैठना, स्त्रियों से संसर्ग, झूठ बोलना और न दी हुई वस्तु को लेना छोड़ दे।

७६—अड़तालीस वर्ष तक वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करे।

७७—अथवा प्रत्येक वेद के लिए बारह-बारह वर्ष (ब्रह्मचारी रहे)।

७८—अथवा पूरी प्रकार (वेद) पढ़ लेने तक (ब्रह्मचारी रहे)।

७९—(ब्रह्मचारियों के) वस्त्र सन, रेशम और भेड़ की ऊन के (होते हैं)।

८०—ब्राह्मण का ऊपर का वस्त्र एण (=काला बारह सींगा) नामक हरिण का काला चर्म (हो)।

८१—क्षत्रिय का (उत्तरीय) रुरु नामक हरिण (की खाल हो)।

८२—वैश्य का (उत्तरीय) बकरे या गाय का (चर्म हो)।

८३-सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥२०॥

८४-मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥२१॥

८५-धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥

८६-मौर्वी वैश्यस्य ॥२३॥

८७-मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् ॥२४॥

८८-पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥

८९-बैल्वो राजन्यस्य ॥२६॥

९०-औदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥

९१-सर्वे वा सर्वेषाम् ॥२८॥

८३—अथवा, न मिलने पर प्रमुख होने के कारण सब का ही (उत्तरीय) गाय (के चर्म) का हो।

८४—ब्राह्मण की तगडी मूँज की हो।

८५—क्षत्रिय की (तगडी) धनुष नामक घास (या धनुष की डोरी) की (हो)।

८६—वैश्य की (तगड़ी) मूर्वा घास की (हो)।

८७—मूँज न मिलने पर काश, अश्मन्तक (या) बल्व नामक घास की बनी हुई (हो)।

८८—ब्राह्मण का डण्डा ढाक का हो।

८९—क्षत्रिय का (डण्डा) बेल का हो।

९०—वैश्य का (डण्डा) गूलर का हो।

९१—अथवा सब के ही (डण्डे) सब ही (लकड़ियाँ) हो (सकती हैं)।

९२-(केशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य ।)

९३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२९॥

९४-शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठंस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

९५-स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति तस्य स्नातकस्य कीर्तिर्भवति ॥३१॥

९६-त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

९२—(ब्राह्मण का दण्डा बालों तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो)।

९३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर सुने ।

९४—यदि (आचार्य) लेटे हुए को (बुलाएँ तो) बैठ कर, यदि बैठे हुए को (बुलाएँ तो) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को (बुलाएँ) तो पास जा कर और यदि चलते हुए को (बुलाएँ) तो दौड़ कर (सुने)।

९५—वह (ब्रह्मचारी) इस प्रकार रहता हुआ आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उस स्नातक का यश फैल जाता है ।

९६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

९७-समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः ॥३३॥

९८-समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः॥३४॥

९९-उभयं* समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति ॥३५॥

१००-आषोडशाद् * ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वाविं*शाद् राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ चतुर्विं*शाद् वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति । ३९॥

९७—जो वेद को (पूरा पढ कर) और (ब्रह्मचर्य) व्रत को पूरा समाप्त किए बिना (आचार्य कुल से संसार में) लौट आता है वह विद्यास्नातक (कहलाता) है ।

९८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न (पढ) कर (संसार में) लौट आता है वह व्रतस्नातक (होता है) ।

९९—जो (वेद और ब्रह्मचर्यव्रत) दोनों को पूरा कर के (आचार्य कुल से पितृकुल में) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक (कहलाता) है ।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का (उपनयन) काल है (शब्दार्थ—बीता हुआ नहीं है) ।

१०१—क्षत्रिय का (उपनयन काल) २२ वें वर्ष तक है ।

१०२—वैश्य का (उपनयन काल) २४ वर्ष तक है ।

१०३—इस (ऊपर के सूत्रों में वर्णित अवधि) के ऊपर (सब) गायत्रीमन्त्र के उपदेश से च्युत हो जाते हैं ।

१—ब्राह्मणस्य नातीतः ।

१०४-नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः ४०॥

१०५-कालातिक्रमे नियतवत् ॥४१॥

१०६-त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च ॥४२॥

१०७-तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥४३॥५।६॥

१०८-अथोपनीतो ब्रालखस्त्रिशिखः शिखी जटिलो मुण्डो वाऽक्षारालवणाशी स्यात् ॥१॥

१०४—(विद्वान्) न इन का उपनयन संस्कार कराएँ, न (इन्हें) पढ़ाएँ, न इन से यज्ञ कराएँ, न इन से व्यवहार करें।

१०५—(ऊपर निर्धारित) काल के बीत जाने पर नित्य कर्मों को न करने वाले व्यक्ति के (साथ किए जाने वाले व्यवहार के) समान (इन से व्यवहार करें)।

१०६—तीन पीढ़ियों (पिता, पुत्र और पौत्र) तक गायत्री के उपदेश से वञ्चित हुए पुरुषों के पुत्र का (न) संस्कार (होता है) और न अध्यापन।

१०७—इन (तीन पुरुषों में से) (जो) उपनयन संस्कार के इच्छुक हों वे व्रात्यस्तोम से यज्ञ कर के व्यवहार के योग्य बन जाते हैं—इस विधान के आधार पर इच्छानुसार पढ़ सकते हैं।

१०८—उपनयन संस्कार किया हुआ ब्राह्मण बालक तीन चोटियों (या) एक चोटी या जटाओं वाला या मुंडे (हुए सिर) वाला खारी और नमकीन न खाने वाला रहे।

१०९-सावित्रं षड्रात्रं त्रिरात्रं सद्यःकालं वा चरेत् ॥२॥

११०-तदेव व्रतम् उदीक्ष्य दण्डमपो निधाय मेखलां यज्ञोपवीतं चाप्स्वन्तरिति प्रत्यृचं नमो वरुणायेति

१०९—सविता के (व्रत का वह) छै रात (या) तीन रात या उसी समय (= उपनयन के समय) पालन करे।

११०—उसी सविता के व्रत (के पालन) को देख कर डण्डे को (और) 'अप्स्वन्तर'[1] (और 'देवीरापो'—इन दो मन्त्रों में से) एक-एक मन्त्र से (क्रमशः) मेखला (= तगड़ी) और यज्ञोपवीत को जल में रख कर (और) 'नमो वरुणाय'[2]

१—अप्स्वन्तर् मन्त्र। विजयचन्द्रशर्मदत्ताभिप्रेत प्रत—अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनाय वाजं सेत् ॥ य० ९।६ पर ॥ सूत्रकाराय चतस्र ऋचो अभिप्रेताः प्रतीयन्ते या एव सन्ति—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः ॥१॥
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥२॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३॥
इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् ॥४॥ ऋ० १।२३।१९-२२॥

२—तैत्त० ७।४।१६।२। मन्त्र का इतना भाग ही अभिप्रेत है।

त्रिर्मधुरं[1] दत्त्वा ततोऽस्याग्नेयं प्रथमं वेदव्रतमादिशेत् ॥३॥

१११-ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि भवन्ति ॥४॥

११२-आग्नेयं शुक्रियमौपनिषदं शौलभं गोदानमिति पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि चरित्वा स्नात्वोपव्रतं चरेत् ॥५॥

११३-त्रिष्ववगुण्ठनं शुक्रियादिषु शुक्रियं शुक्रेभिः श्रावयेत् ॥६॥

११४-औपनिषदमौपनिषद्भिः शौलभं शौलभिनीभिः ॥७॥

(मन्त्र भाग) से तीन बार मीठा (=दही, शहद और चीनी) दे कर फिर पहले (अग्नि सम्बन्धी (=आग्नेय) वेद के व्रत का उपदेश करे।

१११—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के एक वर्ष की अवधि वाले पाँच वेदव्रत होते हैं।

११२—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान—'एक साल की अवधि' में समाप्त होने वाले इन पाँच वेद व्रतों का पालन करे और स्नान कर के 'उपव्रत' का पालन करें।

११३—(शुक्रिय आदि) तीन व्रतों में परदा (=अवगुण्ठन ?) होता है जो इस प्रकार है)-शुक्रिय व्रत को शुक्रों से सुनवाए।

११४—औपनिषद व्रत को औपनिषदों से और शौलभ व्रत को शौलभिनियों से (सुनवाए)।

१—त्रिमधुरमिति मुद्रितः पाठः।

११५-अथवाऽविद्यमान आ ब्रह्मन्, उदीरताम्, आ नो भद्रा, आशु शिशान, इमा नु कम् इति च वेदशिरसाऽनुगुणठयेत् ॥८॥

११५—अथवा उपस्थित हो कर "आ ब्रह्मन्", "उदीरताम्", "आ नो भद्रा", "आशु शिशान", और "इमा नु कम्" इन मन्त्रों रूपी वेद के उत्तमाँग (=सिर) से परदा करे।

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ य० २२'२२ ॥

२—उदीरतामवर उत्पराम उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ य० १९।४९॥

३—आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ य० २५।१४ ॥

४—आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ य० १७।३३ ॥

५—इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः। आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्। यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ य० २५।४६ ॥

११६-अवगुण्ठनीं त्रिवलिं पञ्चवलिं वा नाभिदेशात् प्रच्छाद्य वाग्यतोऽरण्येऽधः शयीत ॥९॥

११७-ग्रामे गोष्ठे देवायतने वा ॥१०॥

११८-व्युष्टायामवगुण्ठनीमरण्ये विसृजेत् ॥११॥

११९-अदृश्रमस्य, उदु त्यं, चित्रं देवानामित्युदितेऽर्के जपति ॥१२॥

११६—तीन बलियों या पाँच बलियों वाले पर्दे को नाभि प्रदेश तक ढक कर और वाणी को संयम में रख कर वन में नीचे (भूमि पर ही) लेटे (या सोए)।

११७—अथवा गाँव में या सभा-स्थान या देवमन्दिर में (सोए)।

११८—उषाकाल होने पर पर्दे को जंगल में छोड़ दे।

११९—सूर्य के उदय होने पर 'अदृश्रमस्य'[1], 'उदु त्यं'[2], और 'चित्रं देवानाम्'[3] इन मन्त्रों का जप करे (पाठ करता है)।

१—अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय । सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ य० ८।४० ॥

२—उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ य० ३३।३१ ॥

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ य० ७।४२

१२०-वर्षति द्यौः शान्तिरिति शान्ति करोति ॥१३॥
१२१-शान्तिभाजनं गुरवे दद्यात् ॥१४॥
१२२-एवमेवाग्गुरुष्ठनीं च ॥१५॥
१२३-गोदाने गोमिथुनम् ॥१६॥
१२४-तस्माद् गोदानमिति तस्माद् गोदानमिति ॥१७॥७॥

इति पारस्करगृह्यसूत्र उपनयनसूत्राणि ।

१२०—(द्युलोक के) बरसने पर 'द्यौः 'शान्ति' (मन्त्र का उच्चारण)[1] कर के शान्ति (की कामना) करता है ।
१२१—शान्तिपात्र को गुरु को दे देवे ।
१२२—इसी प्रकार परदे को (गुरु को दे दे) ।
१२३—गोदान (व्रत) में गौओं का जोड़ा (गुरु को देवे) ।
१२४—(गो दी जाती है) इस लिए इस व्रत को गोदान कहते हैं, इसी लिए यह गोदान है ।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों का डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रभाकर द्वारा रचित शाब्दिक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ ।

१—द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ य० ३६।१७॥



वेदलावण्ये

पारस्करीयोपनयनसूत्रेषु

टिप्पण्यः

पदानुक्रमणिका च ।

पारस्करीयोपनयनसूत्र
परिशिष्ट १
सुकाशिनी टिप्पणियां

उपनयनसंस्कार—आचार्यस्य आचार्याया वा उप समीपे बालकस्य बालिकाया' वा नयनमुपनयनम् । आचार्य/आचार्या के पास लड़के/लड़की को विद्याग्रहण के लिए ले जाना उपनयन संस्कार कहलाता है। इस में गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार बालक/बालिका को आचार्य/आचार्या के पास लाना, अग्नि के पास बिठाना, गायत्री का उच्चारण कराना और अन्य विहित कर्म किए जाते हैं।

(i) उपनेता—उपनयन कराने का अधिकार पिता आदि को है—

> "पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।
> उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥"

पिता, दादा, चाचा, सम्बन्धी, गोत्रोत्पन्न बड़े भाई क्रमशः उपनयन करा सकते हैं। गदाधर के मत में यह विधि ब्राह्मण बालक के लिए है, शेष का उपनयन पुरोहित ही करा सकता है। भाव यह है कि जो भी बालक के अध्यापन के लिए नियुक्त हो वही उपनयन कराए, जो न पढ़ाये वह उपनयन न कराए, चाहे वह कुलपुरोहित ही क्यों न हो। जिस बालक के पिता आदि में से कोई सम्बन्धी वेद का अध्यापक हो, वह बालक चाहे जिस वर्ण की योग्यता का इच्छुक हो उस सम्बन्धी से उपनयन करवा सकता है क्योंकि उपनयन वेदाध्ययन के निमित्त होता है। यदि पिता आदि

वेदाध्यापक नहीं हैं, अथवा उपनयनोपरान्त वे बालक को वेद न पढ़ाएं तो वे उपनयन कराने के अधिकारी नहीं हैं।

उपनयन का काल

(i) अष्टवर्षमिति—अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ, तम्। जिस के जन्म को आठ वर्ष बीत चुके हैं। गर्भाष्टमे—गर्भः गर्भसहचरितो वर्षः अष्टमो येषां तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु। बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है। हरिहराचार्य के मत में इस का भाव नवमें या आठवें वर्ष में है। इसी प्रकार वे और गदाधर क्षत्रिय का उपनयन जन्म से १२ वें वर्ष में और वैश्य का १३ वें वर्ष में मानते हैं।

विभिन्न वर्णों के उपनयन में आयु की भिन्नता का कारण

(ii) उपनयन की आयु का विधान प्रायः सर्वत्र यही है। इस का आधार बालक की योग्यता और अध्ययन के लिए आपेक्षिक प्रौढ़ता है। ब्राह्मण आदि के लक्षण इस प्रकार हैं*। ब्राह्मण का लक्षण यह है—

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥" मनु० १/८८

"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥" गी० १८/४२

(iii) इन लक्षणों के अनुसार ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक बालक को सरलहृदय, सुख से निरपेक्ष और दान लेने के संस्कार वाला बनाना आवश्यक है। उसे बहुत कुछ रटना भी पड़ता है। कर्मकाण्ड सीखना और करना पड़ता है। खोज की प्रवृत्ति भी उस को धारण करनी पड़ती है।

*यह विषय ग्रंथ पृ० २२८—२३१ में सविस्तार हिन्दी में दिया गया है। वहीं देखा जा सकता है।

अत उस के अध्ययन का काल अन्यों से अधिक और सुकुमारावस्था में प्रारम्भ होना आवश्यक है। आठ वर्ष के बालक में परिपक्वता कुछ अल्प होती है। अतः उस के इस प्रकार के संस्कार डाले जा सकते हैं।

(iv) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवि० पृ० २२८ पर मनु० १०/१०६ के प्रमाण से ब्राह्मण के लिए दान लेना निकृष्ट माना है। परन्तु मनु का यह श्लोक ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों —याजन और अध्यापन को भी निकृष्ट बताता है। वैसे भी यह वर्णन शूद्रों से दान लेने से सम्बन्धित है। अत यह श्लोक उस काल में मनुस्मृति में डाला गया जब समाज में शूद्रों का सम्मान आज के समान घट गया। अत. इस से उपरोक्त स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

(v) क्षत्रिय के लक्षण ये हैं—

"प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥" मनु० १/८६

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥" गी० १८/४३

(vi) ग्यारह वर्ष की आयु में बालक का शारीरिक विकास प्रारम्भ हो चुकता है। इस समय तक उस की क्षत्रियोचित प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है। वह शारीरिक व्यायाम और शस्त्रविद्या आदि सीखने योग्य हो जाता है। ऐसे बालक की ब्रह्मविद्या के प्रति बुद्धि कुछ देर से विकसित होती है। अतः उस के लिए इस आयु का निर्धारण किया गया होगा।

(vii) वैश्य के लक्षण ये हैं—

"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥" मनु० १/९०

(viii) इस शिक्षा के लिए अधिक प्रौढ़ और व्यवहारकुशल बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे बालकों की बुद्धि वेदादि की ओर भी कम प्रवृत्ति रखती है। अतः इन के लिए १२ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।

ब्राह्मणं, राजन्यं, वैश्यम्—जन्म से सब बालक समान होते हैं। उन की प्रवृत्तियों का विकास शनैः शनैः होता है। प्रत्येक बालक अपने माता-पिता के गुणों वाला नहीं होता। वैसे भी प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार होती थी। गुणादि सहज भी होते हैं और अभ्यासप्राप्य भी। अतः यज्ञोपवीत के समय बालक की प्रवृत्ति और कामना के आधार पर उस की श्रेणी नियत की जाती थी। इसी आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया है।

४. यथामङ्गलमिति—मंगलमनुसृत्येति यथामङ्गलम्। जैसा बालक के हित में हो। अभिप्राय यह है कि उपरोक्त उपनयन की आयु का विधान नितान्त नियमित नहीं है। उस में आवश्यकतानुसार उलट-फेर किया जा सकता है।

(ii) इस सूत्र में प्राचीनकाल के इतिहास का अवशेष मिलता है। उस समय सब बालकों की आठ वर्ष या उस से पूर्व ही शिक्षा प्रारम्भ हो जाती होगी क्योंकि प्राचीन भारत जैसे उन्नत देश में कुछ बालकों का ११ और १२ वर्ष तक गुरुकुल में पढ़ने न जाने देना बुद्धिगम्य नहीं। हो सकता है बालकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त उन को विशिष्ट विद्यालयों में भेजने के लिए आयु के ये स्तर निश्चित किए गए हों और कालान्तर में संस्कृति और वेदज्ञान के ह्रास होने पर इन स्तरों को उपनयन से सम्बद्ध कर दिया गया हो। आज की परिस्थिति में आयु के ये स्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

(ii अ) कर्क आदि आचार्यों ने यहाँ पर मंगल का अर्थ दूसरे आचार्यों के शास्त्रों के विधान किया है, जिन में ब्राह्मणादि का उपनयन क्रमशः ५ वें, ६ टे और ८ वें वर्ष में बताया गया है। तु० क० मनु० २/३७

"ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे॥"

आपस्तम्ब के विकल्प भी विचारणीय हैं—"अथ काम्यानि। सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्काम नवमे तेजस्काम दशमे अन्नाद्यकाममेकादशे इन्द्रियकाम द्वादशे पशुकाममुपनयेत्।"

(iii) श्री गुरुदेव के विचार में 'यथामङ्गलम्' के दो व्याख्यान हैं—१. आठ, ग्यारह और बारह वर्ष—इन में से जिस वर्ण को जिस आयु में सुविधा हो उसी आयु में। २ पारस्कर और अन्य आचार्यो के आयु-विधानों में से प्रत्येक वर्ण अपने अपने वर्ण की वैकल्पिक आयुओं में से छांटी हुई किसी एक आयु में। इस प्रकार ब्राह्मण ५वें या ८वें में, क्षत्रिय छठे और ग्यारहवें में और वैश्य ८वें और १२वें वर्ष में उपनयन करा सकते हैं।

(iv) कुछ आचार्यो ने इस आयुमान के साथ ऋतु का भी विधान किया है—ब्राह्मण का वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का वर्षा (=शरद्) में उपनयन किया जाए। अन्य आचार्यो ने इस का और भी विस्तार किया है और पक्ष, नक्षत्र, राशि आदि का भी विधान माना है। निषिद्ध कालों की कल्पना भी की गई है। देखो गदाधर का भाष्य।

शूद्रों के उपनयन के विधान के अभाव का कारण

(v) यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शूद्रों का उपनयन क्यों नहीं बताया गया है। इस पर ये विचार उपलब्ध होते हैं—

१. पौराणिक सम्प्रदाय का विचार है कि शूद्रों की उत्पत्ति पैर से होने के कारण वे निकृष्ट हैं। अतः उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है।

२. आर्यसमाज और उस के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का विचार है कि जो व्यक्ति मूर्ख हो, पढ़ने में असमर्थ हो वह शूद्र होता है। ऐसे व्यक्ति के उपनयन का प्रश्न ही नहीं उठता।

३. सं० चं० के लेखक मानते हैं कि स्मृतिकारों के मत में शूद्र का कर्म अन्य वर्णों की सेवा करना है। इस के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। भाव यह है कि राष्ट्र के समस्त बालकों को ब्राह्मण आदि तीन श्रेणियों में विभक्त करने के पश्चात् जो शेष रहें वे शूद्र होंगे।

४. डा० अम्बेदकर* का मत है कि पहले शूद्र वर्ण नहीं था। आधुनिक शूद्र पहले क्षत्रिय थे। ब्राह्मणों से संघर्ष में ये हारे और समाज में पददलित और उपनयन आदि से वञ्चित किए गए।

५. परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। जैसा कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है वैदिक काल में समाज के अनेक दृष्टियों से विभाग किए गए थे। उन में एक विभाग शूद्र और आर्य था। वेद में इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र इसी क्रम से आने और य० २६।२ के ब्रह्मराजन्य के क्रम से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र आर्यों से श्रेष्ठ होते थे। वे उसी जाति के थे जिस के आर्य। आर्यों के तीन विभाग किए गए—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होते थे वे शूद्र कहलाए जाते रहे होंगे। कालान्तर में ब्राह्मण आदि के समान उन का भी एक पृथक् वर्ण बन कर चतुर्थ वर्ण के रूप में आर्यसमाज में परिगणित हुआ। साथ ही अब कल्पना की विषय परिस्थितियों में ये अपने मध्यकालीन और आधुनिक रूप को प्राप्त हुए।

(vi) अतः प्राचीनतम काल में शूद्रों के पृथक् वर्ण न होने के कारण उन के लिए यज्ञोपवीत संस्कार का विधान नहीं किया गया है। उन के पृथक् वर्ण बनने के समय से ही अथवा उस के शीघ्र बाद ही ये समाज में पददलित हो गये होंगे। अतः उस अवस्था में विजयी ब्राह्मण उन को उपनयन का अधिकार देने के लिए कैसे तैयार होते। जो शूद्र ब्राह्मणों के आचार के अनुकूल होते थे उन का उपनयन होता था। आपस्तम्ब के लेख—'शूद्रा-

देखो डा० अम्बेदकर, हू आर दी शूद्राज़, बम्बई १६४७

णामद्रुष्कर्मणामुपनयनम्' का भी यही अभिप्राय है। होते होते सब शूद्रों को उपनयन से वञ्चित कर दिया गया।

ब्रह्मभोज

५. ब्राह्मणानिति—पूर्वोक्त ब्राह्मण के लक्षणों से स्पष्ट है कि उन के पास आजीविका का कोई साधन नहीं था। समाज को उन के निर्वाह का प्रबन्ध करना आवश्यक था। अतः सब निश्चित अवसरों पर उन के लिए भोजन और दानादि की व्यवस्था की गई। इस से यह समझा जा सकता है कि वैश्य के कर्म और वृत्ति—वाणिज्य, कृषि, वेतनग्रहण आदि करने वाले ब्राह्मणों के लिए भोजन और दान वैदिक संस्कृति को अभिप्रेत नहीं है। हिंदी अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है।

(ii) श्री कर्काचार्य के मत में यहां 'श्राद्ध न खाने वाले ब्राह्मण' अभिप्रेत हैं। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में श्राद्ध का विधान नहीं है। सम्पादकों ने परिशिष्ट रूप में श्राद्ध की विधि अन्य आचार्यों के अनुसार दी है। यदि उस में दिये गये श्राद्ध में खिलाने योग्य ब्राह्मणों के गुणों पर दृष्टि डालें तो कोई ऐसा ब्राह्मण शायद ही बचे जो श्राद्धभोजी न हो सके। अतः गुण रहने पर भी जो श्राद्ध न खाए—यही भाव हो सकता है। जयराम इन श्राद्ध व्यतिरिक्त ब्राह्मणों के साथ ही उपनेतव्य बालक को भी भोजन कराना मानते हैं।

(iii) इन भोज्य ब्राह्मणों की संख्या तीन बताई गई है।

६. सञ्च—गदाधराचार्य के विचार में 'च' के प्रयोग से 'भोजनकर्म' का भाव इस सूत्र में पहले सूत्र से आ जाता है।

ब्रह्मचारी का वेष

६. पर्युप्त—परि + वप् + क्त। परि सर्वत उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिराः, तम्। मुंडा हुआ, बाल कटाया हुआ। प्राचीनकाल में सिर मुंडवाना शौच और मांगलिक कर्म समझा जाता था। आज भी विशेष उत्सवों पर

लोग बाल छटवाते हैं। अलंकृतम्—अरम् √कृ + क्त। आभूषणों से युक्त। कर्क - स्रक् माला आदि से अलंकृत। रमणीयता के बिना मन किसी विषय में नहीं जमता है। अत: बालक के मन पर संस्कार का प्रभाव डालने के लिए उसे अलंकृत किया जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी धातुनिर्मित आभूषण नहीं पहन सकता था। वेशादि का संस्कार भी निषिद्ध था। अतः यहाँ पर अलंकरण स्नान और धौत वस्त्र धारण करने का द्योतक प्रतीत होता है। यही भाव—अथर्व० ११।७।२६ के—स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते—में है। ऋषि दयानन्द ने संवि० पृ० ८० पर 'प्रातःकाल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना""""मिष्टान्न आदि का भोजन करा के' लिख कर यही भाव लिया है। पारस्कर ने भोजन का विधान नहीं किया है। परन्तु कर्काचार्य ने अपने भाष्य में 'शिरसश्च परिवपनं भोजनात् पूर्वमेव' कह कर इस० का समर्थन किया है। डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि सामान्यतः मुण्डन और उपनयन संस्कार साथ-साथ होते थे। यहां पर पर्युप्तशिरसम् में इस तथ्य का संकेत भी माना जा सकता है। आनयन्ति—आचार्य द्वारा पहले से नियत व्यक्ति अथवा, पितृकुल के व्यक्ति आचार्य के पास लाते हैं। आजकल भी विद्यालय में प्रवेश कराने के लिए और उपनयन के समय पिता आदि अभिभावक उपस्थित होते हैं।

ब्रह्मचारी को पश्चिम में बिठाने का रहस्य

७. पश्चादग्नेः—प्रत्येक शुभ कर्म और संस्कार के प्रारम्भ में प्रार्थना के आठ मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण का पाठ, आचमन, अंगस्पर्श, अग्न्याधान और समिधादान के साथ हवन या यज्ञ किया जाता था। इस सूत्र का कार्य संवि० में पृ० २६ तक लिखी हवन की विधि के सदृश हवन समाप्त हो जाने पर प्रारम्भ होता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पश्चिम दिशा का राजा वरुण है,[1] देवता सोम[2]। वरुण नियम और व्रत का प्रतीक है[3]। सोम[4] शान्ति मनः

सयम और इन्द्रियसयम—शम, दम) का द्योतक है। यह दिशा सर्वा[५] (= देवों[६] = विद्वानों[७]) की है। इस दिशा में मानव वायु के समान पवित्र करने वाला हो कर गतिशील होता है[८]। ज्ञान विज्ञान का ज्ञाता सविता प्रतीची दिशा को जानता है[९]। स्वाराज्य की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यशाली और बलवान् राजा (=इन्द्र) का अभिषेक पश्चिम दिशा में किया जाता था[१०]। अथर्वनों (= अहिंसक विद्वानों) और आंगिरसों (= प्राण विद्याविशारदों) की दिशा भी पश्चिम है[११]। इसी दिशा में मह (=तेज) स्थित है[१२]। इधर बैठ कर यज्ञ करने वाला तेजस्वी और यशस्वी होता है[१३]। इसी लिए ब्रह्मचारी को भी अग्नि के पश्चिम में बिठाने का विधान है।

(iii) इस से यह ध्वनि भी निकलती है कि तेजस्वियों के पीछे रहने से तेज की वृद्धि होती है।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यव्रत = वेदाध्ययन के नियमों का पालन यथा वीर्यरक्षा, गुरुसेवा, वेदाध्यापन का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और परिप्रश्न आदि। तु० क०—ब्रह्म वेदस्तच्चरणम् (गदाधरभाष्य)।

(ii) ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। प्रकरणोपयोगी अर्थ ये हैं[१४]— वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, गायत्री, प्रणव (=ॐ का उच्चारण), ऋक्, मन्त्र, वेद, प्रजापति, बृहस्पति, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण

---

१. जैउ० ३।२१।२, अथर्व० ३।२७।३ २. तै० ३।११।५।२। ३ वरुण सम्राट् सम्राट्पति०। तै० २।५।७।३। ४. वरुण और सोम के वैदिक वर्णन देख। वरुण—√वृ से और सोम √सु से है। ५ श० ३।१।१।७। ६. तै० २।२।६।२। ७ श० ६।३।१।१६। ८. तै० २।३।६।६, ऐ० १।७। ९ श० ३।२।३।१८। १०. ऐ० ८।१४। ११. तै० ३।१२।६।१। १२. गो० १।५।१५। १३. तु० क० ऐ० ८।१४। १४. देखो वैको० में ब्रह्मपद।

आदि। वाणी, मन, हृदय आदि पर वश, सत्य और ऋत का पालन, गायत्री आदि का अध्ययन और मनन, प्रणव का सेवन, प्रजापति और बृहस्पति का ज्ञान और उस के गुणों को धारण करना, चन्द्र आदि के गुणों को धारण करते हुए उन का यथोचित उपयोग करना, अग्नि, यज्ञ और प्राण विद्याओं का अध्ययन और यज्ञमय बनना आदि ब्रह्मचर्यव्रत के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और विशिष्ट कर्म सम्पन्न होते हैं—(अथर्व० ११।७।१८।१६ आदि)। ब्रह्मचर्य की महिमा अथर्व० ११।७ में विस्तार से वर्णित की गई है। इस का सविस्तार अंग्रेजी व्याख्यान भूमानन्द सरस्वती रचित वैदिकी लोकव्यवस्था तथा कुछ मन्त्रों का संक्षिप्त भाव संवि० पृ० ६८, ६६ पर देखा जा सकता है। पं० सातवलेकर का अर्थ भी सुन्दर है। यंको० पृ० ३७०-३७२ में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में संकलित ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य भी देखें।

आगाम्—आ + √इ लुङ् उत्तम पु० एक व०। असानि—√अस् (होना), लोट् उत्तम पु० एक व०। हो जाऊँ, बन जाऊँ। भाव यह है कि आचार्य बालक से कहे—'ओ३म्, ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहि।' इस के उत्तर पर बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचर्यमागाम्'। अब आचार्य कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहि'। और बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानि।' इस समय बालक यज्ञवेदी पर पश्चिम की ओर आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के बैठे।

वस्त्रपरिधान का महत्त्व

८. वासः—वासस् से द्वितीया एक व० (नपुं०)। भाष्यकारों ने कोरे—बिना धुले (= अहत) वस्त्रों का विधान माना है। तु० क० नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्। चरकसंहिता। जयराम ने 'अहत' का लक्षण यह दिया है—

"ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम्।
अहतं तद् विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्" इति ॥

परिधापयति—परि+√धा+णिच्+लट् प्रथम पु० एक व०। सर्व० के मत में वस्त्र पहिनाना बालक के मन में आचार्य के प्रति प्रीति उत्पन्न कर देता है[1]। वस्तुत वस्त्र मानव के रूप हैं[2]। उन से वह सुशोभित होता है[3]। वे ओषधिस्वरूप हैं[4]। साथ ही वस्त्र मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव आदि के द्योतक होते हैं। अत आचार्य विद्यार्थी को उस के पाठ्यक्रम के लिए नियत वस्त्रों को देता है। ये ही वस्त्र उसे अपने ब्रह्मचर्यकाल में पहनने हैं। ये वस्त्र ब्राह्मण के शाण के, क्षत्रिय के क्षौम के और वैश्य के अवि के होने चाहिए। इन का वर्णन आगे सूत्रकार स्वयं करेंगे (देखो सूत्र० ७६)।

९ इन्द्राय—इन्द्र पद√इन्द् धातु से बनता है। समस्त वीरकर्म इन्द्र से सम्बन्धित हैं[5]। वह परमैश्वर्यशाली भी होता है[6]। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र का अर्थ उस क्रिया और प्रकरण के अनुसार करना आवश्यक है जिस में वह प्रयुक्त हो[7]। अत हिन्दी अनुवाद प्रकरणानुसार है।

(ii) पुराणों में इन्द्र नाम का देवताओं का राजा है। उस का गुरु बृहस्पति है। टीकाकारों ने इसी अर्थ को अपनाया है। यह विधि वैदिक काल[8] से चली आती है। यह कथा आख्यानिक और पौराणिक है, वास्तविक नहीं। अपि च—इस विधि का मूल अथर्व० ११।७।४—७ हैं। इन में ७वें मन्त्र में ब्रह्मचारीमान को 'इन्द्र' कहा है—'ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं

१ सर्व० पृ० ४१२। २ श० १३।४।१।१५। ३ श० ३।१।२।१६ ४. श० ११।३।१।१४। ५ नि० ७।१० ६ तु० क० मघवा पद। इस का वैदिक वर्णन भी देखें। ७ देखो वेभाप० ११।३—४। तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।१३ और उस पर कर्कभाष्य। ८ यद्यपि अथर्व० ११।६।२४ में पुराण को वेदादि के साथ उच्छिष्ट से उत्पन्न माना है, तथापि अथर्व० ११।१०।७—

येन आसीद्भूमि पूर्वा यामद्धातय इदिदु।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥

के अनुसार वहां पुराण वेद के सृष्टिविषयक सूक्तों का द्योतक है।

परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वा अमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्द ॥'
अतः इन्द्र का भाष्यकारों का अर्थ माननीय नहीं । इसी आधार पर उन का बृहस्पति-पद का अर्थ भी अमान्य है।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में **बृहस्पति** को वाणी का स्वामी[1], ब्रह्मपति[2], *ब्रह्मणस्पति*[3] *कहा गया है। ऋग्वेद*[4] *में* **आंगिरसों** *का ब्रह्म (=वेद) का* शंसक, विचस्पुत्र, असुर के वीर विप्र और यज्ञ का ज्ञाता कहा गया है। बृहस्पति आंगिरसों में है। अतः हिन्दी अनुवाद।

पर्यदधात्—परि+√धा+लङ् प्रथम पु० एक व०। पहनाते थे अर्थात् पहनाते आए हैं। वैसे भी वैदिक भाषा में भूतकाल की क्रियाएं सब कालों को व्यक्त करती हैं। अमृतम्—न मृतम् (√मृ+क्त) अमर, मरण-रहित, अपरिवर्तित, अतः नियत, निश्चित, निर्धारित। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त इस पद के कतिपय अर्थ इस प्रकार हैं—मृत्यु का वारक,[5] सर्व आयु[6], प्राण[7], आपः[8], हिरण्य[9], आदित्य[10], अग्नि[11] और प्रजापति[12]। इन अर्थों की दृष्टि में ही हिन्दी अनुवाद किया गया है। संर्त०—दृढ, नया। भाष्यकार अहत, कोरा। त्वा—त्वाम्। आयुषे, आयुत्वाय—आयुष्पद षकारान्त भी और उकारान्त भी। दोनों पद समानार्थक हैं, परन्तु यहां दोनों का एक साथ प्रयोग बताता है कि दोनों से पृथक्-पृथक् भाव अभीष्ट हैं। अथवा आयुष्—आयु के अभीष्ट भाव को महत्त्व प्रदान करने के लिए भी यह पुनरुक्ति मानी जा सकती है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में आयु के अर्थ वरुण, अग्नि, संवत्सर, यज्ञ, अन्न, प्राण आदि दिए हैं[13]। वरुण नियमों और व्रतों का द्योतक है[14], अग्नि

---

१. श० १४।४।१।२२। २. तै० २।५।७।४। ३. तै० ३।११।४।२
४. ऋ० १०।६७।२ ५. श० १०।२।६।६। ६. श० ६।५।१।१० ७. गो० २।१।१३ ८. तै० १।७।६।३ ९. तै० १।७।६।३ १०. श० १०।२।६।१६
११. श० १०।२।६।१७ १२. श० ६।३।१।१७। १३. देखो वैको० में आयुः पद। १४. ऋ० १।२५।१०।

अग्रणीत्वं, दाहकत्व आदि का, संवत्सर काल का, ब्रह्म विद्याग्रहण, तपश्चरण आदि शुभ कर्मों का, अन्न और प्राण शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति आदि के[1]। अतः यहां ये सभी भाव अभिप्रेत हैं। आयुत्वाय—आयोर्भावः आयुत्वम्, तस्मै। बलाय—शारीरिक शक्ति। वर्चसे—ब्रह्मतेज। जयराम इन्द्रियशक्ति, ऐश्वर्य।

ऐनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ

(iii) समस्त मन्त्र का स० च० का अर्थ इस प्रकार है—हे बालक (येन) जिस विधि से (बृहस्पतिः) गुरु आचार्य ने (इन्द्राय) अपने शिष्य के लिए (अमृत वास) जो जला, फटा, कम चलने वाला न हो ऐसे वस्त्र को (पर्यदधात्) धारण कराया है (तेन) उस विधि से ही (त्वा) तुझे (परिदधामि) मैं सुन्दर वस्त्र पहनाता [illegible] (आयुषे) स्वास्थ्य के लिए और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (बलाय) देह में शक्ति आने के लिए (वर्चसे) इन्द्रियों के तेज के लिए या ऐश्वर्य के लिए।

(iv) श्री शुकदेव लिखते हैं कि वस्त्र पहन कर ब्रह्मचारी दो आचमन करे। पारस्कर का ऐसा विधान नहीं है।

१०. मेखलाम्—तगड़ी। जिस प्रकार आजकल धोती को धारण करने के लिए तगड़ी और पतलून आदि के धारण के लिए पेटी पहनी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में मृगचर्म और वल्कलों को धारण करने के लिए मेखला पहनी जाती थी। ब्राह्मण आदि के लिए भिन्न-भिन्न मेखलाएं बताई गई हैं। इन का वर्णन आगे आयेगा। मेखला—मीयते प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे। √मी+खल्। बध्नीते—√बन्ध्+लट् आत्मनेपद, प्रथम पु०। धातुपाठ में यह धातु परस्मैपदी है। यहां मेखला ब्रह्मचारी को बांधी जाती है। यदि, जैसा भाष्यकारों ने माना है, यह मेखलाबन्धन

---

१. इन पदों की व्युत्पत्ति और ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों के आधार पर व्याख्या।

आचार्य द्वारा क्रिया गया माना जाये तो दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—बध्नीते का फल कर्तृगामी नहीं है, प्रत्युत बालकगामी है। अतः यहां परस्मैपद होना चाहिये था[1]। दूसरे 'दुरुक्तम्' मन्त्र में 'गे' के स्थान पर 'ते' आना चाहिए था। भाष्यकार गदाधर लिखते हैं कि मेखलाबन्धन आचार्य करते हैं, मन्त्रपाठ यद्यपि पदप्रयोगों से ब्रह्मचारी द्वारा प्रतीत होता है तथापि पदार्थ (=क्रिया) प्रधान है, और मन्त्रपाठ गौण—प्रधानभूतश्च पदार्थः, गुणभूतश्च मन्त्रः। उन्हों ने यह कारिका भी दी है—

> "अग्नीयात् त्रिगुणां श्लक्ष्णामियं दुरुक्तमुच्चरन्।
> आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न बटोरात्मनेपदात्॥"

परन्तु 'बध्नीते' के आत्मनेपद से भाष्यकारों के निष्कर्ष के ठीक विपरीत भाव निकलना चाहिए—मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी करता है, प्रेरणा आचार्य देता है। ऐसी अवस्था में मन्त्र को क्रिया से गौण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सूत्रकारों की क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ में एकता नितान्त वाञ्छनीय है। देखो वेमाप० ११।३—४।

११. वर्णम्—उ० ३।१० में इसे √वृ से नित् न प्रत्यय लगा कर बनाया है। दस० की टीका में इस का अर्थ 'यश' भी दिया है। यही अर्थ यहां ग्रहण किया है। सं० चं० ने 'वर्णभाव' अर्थ ग्रहण किया है। इस का आशय है—जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुणों की प्राप्ति की कामना से मैं दीक्षित हुआ हूं। मेखला उस गुणग्रहणकामना को पवित्र करती है। विश्वनाथाचार्य ने इस का भाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण अर्थ किया है। मेखला इन तीनों वर्णों को पवित्र करती है। क्यों कि तीनों वर्ण व्रतधारण में मेखलाधारण करते हैं। परन्तु यह अर्थ मन्त्रकार को अभीष्ट रहा प्रतीत

१. देखो पा० १।३।७२, ७८; सिकौ० २१५८—६। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु परस्मैपद है।

नहीं होता क्यों कि उस की दृष्टि में प्रजाओं के वेद में वर्णित एक—विश, दो दैवी—मानुष, या, आर्य—दस्यु या, शूद्र—आर्य आदि विभाग भी थे। उन विभागों की दृष्टि में वे ब्राह्मणादि तक ही अर्थ को सीमित न कर सके होंगे। प्राणापानाभ्या बलमादधाना—शरीर में यद्यपि दस वायुओं की स्थिति मानी गई है, तो भी प्राण=श्वास से अन्दर जाने वाली और अपान शरीर से बाहर निकलने वाली वायुएं ही प्रमुख हैं। इन के ज्ञान में सम्पूर्ण प्राणविद्या निहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें अश्विनौ[1], अश्वयू[2], द्यावापृथिवी[3] आदि कहा गया है। इन दोनों के बलिष्ठ होने पर शरीर भी बलिष्ठ हो जाता है और उस के साथ बुद्धि भी। प्राण और अपान को वश में करने के हेतु ही प्राणायाम किया जाता है। आदधाना—आ + √धा + शानच्, स्त्री॰ प्र॰ एक व॰ स्वसा—विश्वनाथ—बहन। जयराम स्वसृवत् हितकारी। सर्व॰ ने इस पद में लुप्तोपमा मानकर 'बहन के तुल्य' अर्थ किया है। उ॰ २।९६ में इस की व्युत्पत्ति—सुष्ठु अस्यति दी गई है। अर्थात्—जो शैथिल्य, आलस्य आदि को अच्छी प्रकार दूर करती है वह 'स्वसा' है। निघ॰ २।५।१३ में इसे अगुलि का पर्याय माना है। अगुलि कर्म करती हैं, वे गतिशील हैं। इसी प्रकार के पद स्वसराणि का निघ॰ १।६।५ में अहर्नाम, ३।४।१० में गृहनाम और ४।२।२२ में पदनाम बताया गया है। पदनामों में सकलित पद गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थ के द्योतक हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क। अतः वैदिक ऋषियों को 'स्वसा' का गति अर्थ अभीष्ट है। देवी—जयराम—दीप्तिदात्री (=प्रकाश देने वाली)। विश्वनाथ—दानादि गुणयुक्त। सुभगा—जयराम—सौभाग्य देने वाली। ऐश्वर्य प्रदान करने वाली कल्याणकारिणी। भाग्य पूर्वजन्म के कर्मों का फल मात्र है। अतः अनुवाद में कर्मफल देने वाला अर्थ किया गया है। मखला जड़ वस्तु है, उस में फल देने की शक्ति नहीं।

---

१. श॰ १२।६।१।१४, २ गो॰ १।२।१० ३ श॰ ४।३।१।२२। यहां पर प्राण के साथ उदान का पाठ है।

परन्तु यह कर्म की और प्रवृत्तिविशेष की सूचक है जो पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रभावित हैं। अतः ऐसा वर्णन किया गया है।

१२. युवा सुवासाः—ऋ० ३।८।४। दस० ने अपने भाष्य में तथा सत्यार्थ प्रकाश पृ० ५३ में इसे समावर्तित युवक के पक्ष में लगाया है। हरदत्त ने ब्रह्मचारी के पक्ष में ही लिया है। वस्तुतः यह मन्त्र अनेक प्रकरणों में संगत हो सकता है और तदनुसार व्याख्यान में भेद किया जा सकता है। मूल पदों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। इति वा—यह मन्त्र पारस्कर के मत में मौञ्जीबन्धन में वैकल्पिक है। युवा—इस का सामान्य अर्थ 'यौवनावस्था को प्राप्त, जवान' होता है। हरदत्त ने इस की व्युत्पत्ति—√यु मिश्रणे। मिश्रणमनुष्ठानम्। अनुष्ठाता।केषाम्। सामर्थ्याद् ब्रह्मचारिधर्माणां समिदाधानभिक्षाचर्यादीनाम्। की है। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के कर्मों को करने वाला। जयराम के मत में गुणों को इकट्ठा करने वाला (यौतीति युवा)। अतः नया ब्रह्मचारी जो व्रत का पालन, गुणों और विद्या का ग्रहण करता है। संच० दृढ़ शरीर वाला। सुवासाः—सु शोभनानि वासांसि यस्य सः। जयराम के मत में 'अहत=कोरा' वस्त्र ही शोभन होता है। हरदत्त के मत में शुद्ध-साफ वस्त्र। परिवीतः—परि+वि+√इ+क्त। चारों ओर से विशेष रूप से घिरा हुआ, व्याप्त। हरदत्त—कृष्णाजिन आदि से परिवेष्टित। जयराम—माला और आभूषण आदि से सजा हुआ। परन्तु अभी उस ने मेखला और कृष्णाजिन धारण नहीं की हैं। उस की वेशभूषा पूरी नहीं हुई हैं। अतः यहां पर 'विद्याप्राप्ति की भावना से भरा हुआ' अर्थ ही प्रकरणोचित प्रतीत होता है। आगात्—आ+√इ लुङ् प्रथम पु० एक व०। जयराम—मेखला धारण करने के लिए आचार्य के पास आया है। हरदत्त—ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ है। श्रेयान्—हरदत्त विद्या से श्रेष्ठ। जयराम—शुद्ध। संच०—लोगों का कल्याण करने वाला। कठोप० १।२।२ में श्रेयः और प्रेयः को पृथक्-पृथक् माना है। धीर पुरुष श्रेयः की कामना करते हैं। अभी ब्रह्मचारी न विद्या से श्रेष्ठ हो पाया है न कल्याणकर्त्ता। यद्यपि वे

भविष्य के प्रति कामना मानी जा सकती हैं तथापि कठोप० की परिभाषा में 'श्रेय के ज्ञान का अधिकारी' अर्थ प्रकरणोचित प्रतीत होता है। जायमानः—√जन्+शानच्। दय०—प्रसिद्ध हो कर। हरदत्त—ब्रह्मचारी के रूप में उत्पन्न हुआ, क्यों कि स्मृति का वचन है—'तेषां मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धनम्।' अथर्ववेद के मत में उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। उपनयन प्रारम्भ होते ही यह गर्भ या जन्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी को वेदमन्त्र ने शानच् प्रत्यय से व्यक्त है।—

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥" अवे० ११।७।३

इसी से उपनीत व्यक्ति को द्विज या द्विजन्मा कहते हैं। अथर्व मन्त्र में ब्रह्मचारी को तप से भी उठता हुआ कहा है—

"पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्॥"

ये दोनों ही भाव प्रकरण में अभिप्रेत हैं। अत. हिन्दी अनुवाद में ग्रहण किए गए हैं। धीरासः—वेद में पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन में देवा और देवास. दो रूप होते हैं। धी+र (मतुप् के अर्थ में)। प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। जयराम—स्थिरप्रज्ञाः (स्थिरप्रज्ञाः?)। विश्वनाथ—पण्डिता। दय०—बुद्धिपूर्वक कार्यकर्त्ता। कालिदास—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। ऋ० ४।२३।२ में धीर का लक्षण विद्याग्रहण, बुद्धि आदि के लिए बुद्धि धारण करने वाला किया है—धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै (दय०—मन्तव्यायै विद्यायै—√मन् विचारणा से)। ऋ० ४।३६।७ में कवि और विपश्चितों को धीर कहा है—'धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि'। अत धीरों को वेदज्ञान की गरिमा से ही पहचाना जाता है। कवय.—कौति शब्दयत्युपदिशति स कवि। मेधावी विद्वान्। क्रान्तदर्शनो वा। (उ० ४।१३९ में दय० का भाष्य)। √कु+इ। तत्त्वदर्शी

विद्वान्। वेदभाष्य में दय०—अनूचानाः विद्वांसः। ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि को वेदोपदेशक, ऋषि, बहुश्रुत विद्वान् और आदित्य (ब्रह्मचारी) कहा है। ऋ० १।१६४।६ में कवियों को जानने वाला, विशिष्ट ज्ञानवान् (=चिकितुषः) कहा है। ऋ० ६।३६।१ में कवि के गुण मन्द्र, दिव्य वह्नि (=धारक), विप्रमन्म और मधुवचन दिए गए हैं—"मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः ॥" स्वाध्यः—दय० (वेदभाष्य)—अच्छी प्रकार विद्या का आधान करने वाले (सु+आ+√धा से)। सप्र०— अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (सु+आ+√ध्यै से)। जयराम—शोभन चित्त की वृत्ति वाले। हरदत्त—कल्याणचित्त। ऋ० १।७२।८ में ऋत के ज्ञाताओं को स्वाध्यः कहा है। ऋ० १।१५१।१ में वाणियों में परा विद्या के जानने के इच्छुक और अध्यापन यज्ञ में कर्मों द्वारा ब्रह्मचारी के मन या प्राणों में ज्ञान उत्पन्न करने वाले 'स्वाध्यः' कहे गये हैं—'मित्रं न शिम्या गोषु गव्यवः स्वाध्यो विदथे अप्सु जीजनन्।' अतः हिन्दी अनुवाद। **मनसा**—दय०—विज्ञान या अन्तःकरण से। जयराम—मनोवृत्ति से। विश्वनाथ—मनोव्यापारों से। **देवयन्तः**—देवं ब्रह्मचारिणः इच्छन्त इति। देव से नामधातु। लौकिक संस्कृत में नामधातु आत्मेच्छा में प्रयुक्त होते हैं। वेद में परेच्छा में भी प्रयोग पाया जाता है। तु० का०—छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्। पा० ३।१।८ पर वार्तिक। जयराम—वेदार्थ ज्ञापन करते हुए। दय० सप्र०—विद्यावृद्धि की कामना युक्त। वेभा०—कामना करते हुए। हरदत्त—देवताओं के लिए यज्ञ करने के इच्छुक अर्थात् श्रौत और स्मार्त कर्मों में लगे हुए मन वाले। संवे०—देवभाव की कामना करने वाले विद्वान्।

युवा सुवासाः का विनियोग

(ii) दय० ने संवि० में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारी को आचार्य द्वारा दो कौपीन, दो अंगोछे, एक उत्तरीय और एक कटिवस्त्र दिये जाने का विधान माना है। परन्तु पारस्कर का मत ऐसा नहीं है। वे इस मन्त्र को केवल मेखलाबन्धन में विकल्प रूप से उपस्थित करते हैं।

(iii) श्री शुकदेव लिखते हैं कि इन दोनों मन्त्रों को ब्रह्मचारी पढे। यह ठीक नहीं। अर्थ के अनुसार इय दुरुक्त आदि को बालक और युवा सुवासः को आचार्य पढे।

१३. तूष्णीं वा—उपरोक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण किया जा सकता है। अथवा मेखलाबन्धन बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किए ही किया जा सकता है।

१४. अत्रेति—यह सूत्र गुजराती प्रेस और प० शुकदेव के संस्करणों में नहीं है। इस के आगे के 'यज्ञोपवीतम्' आदि मन्त्र से 'वधेऽहमिति (१५-१७) तक कोष्ठकों में उपलब्ध होता है। जयराम लिखते हैं कि पारस्कर ने इन दोनों कर्मों—यज्ञोपवीत धारण और अजिनप्रदान का विधान न' किया है। अत परम्परा से प्रचलित होने से आचार के अविरोध के कारण इन दोनों कर्मों को अन्य शाखाओं के मन्त्रों से सम्पन्न करते हैं। तु० क०—

"यत्राम्नात स्वशाखाया परोक्तमविरोधि च।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेय अग्निहोत्रादि कर्मवत् ॥" कात्याय० श्लोक २०

यज्ञोपवीतम्—जयराम—यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञार्थ वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीत रचितम्।| यज्ञ या वैदिक कर्मों के लिए निर्मित। (√यज्+नङ्। उप+वि+√इ+क्त)। अत यज्ञ के लिए दीक्षा का द्योतक चिह्न। वैदिक संस्कृत में यज्ञ का महत्त्व बड़ा भारी है। यह मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। इसी लिए ऋग्वेद के यज्ञसूक्त में कहा है—'यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत। (ऋ० १०।१३०।१) यह ही स्वर्ग है और मानव द्वारा सम्पन्न होना है। (मन्त्र २)। ब्राह्मणग्रन्थों में इस क अनेकविधि अर्थ और व्याख्यान किए गए हैं। यथा—प्राण, अध्वर (—हिंसा रहित), नम, भवः, ऋत की योनि, महिमा, महान् देव, बृहन् विपश्चित्। अर्यमा, वसु, स्व, सुख, श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, देवों की आत्मा, अन्न, देवरथ, अग्नि, वाक्, वायु, संवत्सर, सविता, यजमान,

आत्मा, पुरुष, पशु, भुवन की नाभि, अनस्, आपस्, रेतः, विराट्, आहुति आदि। दस० ने अपने भाष्यों में इसी प्रकार के बहुविध अर्थ इस पद के किए हैं। संक्षेप में जिस उत्तम कर्म में देवपूजा (—विद्वानों की सेवा, सत्कार, उन से ज्ञानप्राप्ति आदि), संगतिकरण (—दो पदार्थों, भावों, स्थितियों आदि का सम्मिश्रण) और दान के भाव पाए जाएं वही यज्ञ है। इस दृष्टि से अध्ययन, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आदि यज्ञकर्म होते हैं। ये ही यहां अभिप्रेत हैं। अग्नि में आहुति डालना रूप यज्ञ उपरोक्त प्रकार के यज्ञों का क्रियात्मक ध्यान दिलाने वाली प्रतीक है जो सदैव मानव को परोपकार के लिए अपने जीवन को आहुत करने का सन्देश देती है। यजुर्वेद का अध्याय १८ भी देखें। ऐसे यज्ञ में दीक्षित हुए बिना राष्ट्र का समुचित वहन संभव नहीं। अतः प्रत्येक बालक को उस में उपनीत किया जाता था। इस युग में दस० और आर्यसमाज ने पुनः इस प्रणाली को प्रवृत्त किया है।

१५. परमम्—पर आत्मा मीयते ज्ञाप्यते तेन वाक्योपदेशाधिकारित्वात् (जयरामः)—जिस से परम आत्मा का परिचय मिलता है। भाव यह है कि यज्ञोपवीत धारण करने पर बालक ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो जाता है। विश्वनाथ—असाधारण, अत्यधिक। पवित्रम्—शोधक, पावन। क्यों कि यह मनुष्य को सत्कर्मों में प्रेरित करता है। अथवा, पवित्र कर्मों का प्रतीक होने से गौणवृत्ति से इस का पावनत्व है। प्रजापतेः—जयराम—ब्रह्मणः। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति को यज्ञ भी कहा है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक समीचीन जान पड़ता है। सहजम्—सह जायते, तम्। जयराम—स्वभावशुद्ध। इस अर्थ में प्रजापति में लुप्तोपमा मानने पर अर्थ में विशेष सौंदर्य आ जाता है। प्रजापति का अर्थ 'यज्ञ' करने पर 'सहज' का स्वाभाविक अर्थ 'साथ उत्पन्न' किया जा सकेगा। पुरस्तात्—जयराम—पहले से ही उत्पन्न। विश्वनाथ—ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से उत्पन्न। आयुष्यम्—आयुषे हितम् आयुष्यम्। आयु। अग्र्यम्—अग्रे भवम्। प्रमुख। प्रतिमुञ्च—प्रति+ √मुच्, लेना, पहनना। उत्तम पुरुष के स्थान

पर मध्यम पु० का प्रयोग हुआ है। शुभ्रम्—निर्मल करने वाला। बल—धर्मसामर्थ्यप्रद।

यज्ञोपवीतं परमं मन्त्र का अर्थ

(ii) इस मन्त्र का सत्कारचन्द्रिका का अर्थ कुछ भिन्न है, परन्तु मिलता जुलता है। वह इस प्रकार है—

"हे बालक (यज्ञोपवीतम्) "यज्ञाय यज्ञकर्मणे—वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतम्—उपरिवीतम्—परिहितम्" वेदोक्त कर्म में अधिकारी बनने के लिये जो कन्धे के ऊपर रक्खा जाय इस "ब्रह्मसूत्र" को और जो (परमम्) परः आत्मा, मीयते—ज्ञायते अनेन, परमात्मा के ज्ञानप्राप्ति का सूचक है (पवित्रम्) शुद्धि के ज्ञान की सूचना करने वाला (यत्, प्रजापते, सहजम्) जो ईश्वर से स्वभावसिद्ध उपदिष्ट है। (पुरस्तात्) पूर्व काल से चला आता है (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी (अग्र्यम्) मुख्य है, ऐसे इस "ब्रह्म सूत्र" को मैं आज (प्रतिमुञ्च) बांधता हूं (पुरुषव्यत्ययश्छान्दस) (शुभ्र यज्ञोपवीतम्) यह निर्मलता का बोधक यज्ञोपवीत (बलम्) बल देने वाला और (तेजः) तेज देने वाला ईश्वर करे कि (अस्तु) होवे। हे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतम्, असि) तू यज्ञोपवीत है (त्वा) तुझे (यज्ञस्य) यज्ञकार्य के लिए ही (ग्रहण करता हूं) और मैं स्वयं आज (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) बधता हूं।" पृ० ३६५।

श्री शुकदेव ने यहां भी दो आचमनों का विधान किया है।

१६. अथाजिनम्—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यह विधि पारस्कर द्वारा प्रोक्त नहीं है। अजिनम्—अजति गच्छति क्षिपति वा तत्। उ० २।४८ दस० की टीका। "चीता, शेर और हाथी आदि का और विशेष कर काले हिरन का रोंए दार चमड़ा।" (संशकोको०)।

(ii) अजिनदान के समय पढ़े जाने के लिए तुरन्त आगे दिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध—'वसनम्……अजिन दधेहम्' से स्पष्ट है कि यह अजिन वस्त्र

रूप में प्रयोग करने के लिए दी जा रही है, पारस्कर वासःपरिधान पहले ही सूत्र ८-६ में करा चुके हैं। अतः यह अजिनदान पूर्वोक्त प्रयोजन से व्यर्थ है। विश्वनाथ के मत में यह अजिन यज्ञोपवीत के पश्चात् (अर्थात्—ऊपर) धारण की जाती है।

१७. मित्रस्येति—मिते. दुःखात् त्रायते असौ मित्रः। वेद में देवतावाचक मित्रपद पुल्लिंग है। उ० ४।१६४ में इस की व्युत्पत्ति 'मिनोति मान्यं करोति' दी गई है। सुहृद्-वाचक मित्रपद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ—'सब का मित्र, सत्य का जनयिता और स्वामी, ब्रह्म, ब्रह्मपति, अग्नि, प्राण, लोकरक्षक, वायु, संगव, दिन, जलहीन ओषधियां, अपने आप गिरी वृक्षों की शाखाएं, पयः, अर्धमास, (=कृष्ण और शुक्ल पक्ष) आदि दिए हैं[1]।

(ii) यजुर्वेद २४।३६ में एणी का सम्बन्ध सर्पों से बताया है। सर्प के अर्थ देव[2] और लोक[3] हैं। मित्र लोकों का रक्षक है। दूसरी ओर य० ३९।८ में एनी को मित्रसम्बन्धी बताया है। अतः अजिन को मित्र की चक्षु के समान वर्णित किया गया है। चक्षुः—इस को लुप्तोपमा भी लिया जा सकता है और अजिन का समानाधिकरण विशेषण भी। धरुणम्—धारयतीति धरुणम्। √धृ+उनन्। धारण करने वाला। वस्त्र शरीर की गर्मी-सर्दी से रक्षा करने के कारण 'धरुण' कहलाता है। तेजः—तेजस्वि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा इसे अतिशयोक्ति मान कर 'वसनम्' का विशेषण भी माना जा सकता है। स्थविरम्—तिष्ठतीति स्थविरम्। √स्था+किरच्। ठैरने वाला, दृढ, पक्का। समिद्धम्—सम्+√इन्ध्+क्त। प्रदीप्त। अनाहतस्यम्—आ+√हन् =आहनम्, तत् आत्मन इच्छतीति आहनस्यम्। न आहनस्यम् अनाहनस्यम्। श्री म० मो० विलियम्ज़ ने इस के अर्थ पवित्र, शुद्ध, शिष्ट दिए हैं। अजिन ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के व्रत

१. वैको० मित्रपद। २. तै० ३।३।६।२ ३. श० ७।४।१।२५

का स्मरण दिलाने के कारण पवित्र मानी गई है। जरिष्णु—√जृ + इष्णुच्। जीर्ण होने के स्वभाव वाला। अर्थात् चिरकाल स्थायी। परि दधे —वैदिक भाषा में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग और क्रिया का प्रयोग स्वतन्त्र पदों के रूप में होता है। अत यहां दोनों एक दूसरे से पृथक् भी हैं और बीच में दो पद भी आए हुए हैं। वाजि—√वज् (जाना)+घञ् = वाज। वाज+इनि=वाजिन्। नपु० द्वितीया एक व०। वाज के अर्थ[1] अन्न, वीर्य, ओषधियां, पशु, स्वर्ग लोक, ज्ञान, प्राप्ति आदि होते हैं। अत वाजि—ज्ञान और शक्ति सम्पन्न। उस से ज्ञान और शक्ति की प्रतीक।

१८. दण्डं प्रयच्छति—दण्डदान का विधान पारस्कर ने अन्य आचार्यों के समान किया है। दण्ड—पद √दम् + ड—दाम्यन्त्युप-शाम्यन्त्यनेन स दण्डः। उ० १।१।१४। शान्त करने वाला। इसे √दण्ड् +घञ् से भी बनाया जा सकता है। यह न्याय और अनुशासन का प्रतीक है। महाभारत में दण्डनीति का युधिष्ठिर और अर्जुन के संवाद के रूप में एक सुन्दर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। धर्म, तप, व्रत, आदि सब की रक्षा दण्ड से होती है। सामान्य दृष्टि से भी आरण्य जीवन में ब्रह्मचारी की रक्षा के लिए हर समय अपने पास डण्डा रखना आवश्यक था।

(ii) दण्ड देते समय आचार्य कुछ नहीं बोलता है।

(iii) दण्ड की लकड़ी और मान के विषय में आगे सूत्र० ८६—६० में पारस्कराचार्य ने स्वयं विवरण प्रस्तुत किया है।

२०. वैहायसः—विशेषण हयति गच्छति, हाययति गमयतीति वा इति विहायाः। (देखो अकोसु० ३।२।२, और २।४।३२) तस्य अयमिति वैहायस। वि+√हय्+असुन्। उस से अण् प्रत्यय। विशेष रूप से गति शील। डण्डा स्वय तो गतिशील नहीं है, परन्तु प्रयोक्ता द्वारा गतिमान् कर दिया जाता है। इस में दण्ड के सब पर प्रभुत्वशाली होने का भाव लक्षित

---

१ देखो वैको० में वाजपद।

हो रहा है। अधि—सप्तमी और प्राधान्य का द्योतक है। प्रकरण में यह पद दण्ड की सब पदार्थों में श्रेष्ठता और शक्तिमत्ता का द्योतक है। **भूम्याम्**—भवति इति भूमिः। अकोमु० २।१।२ होने वाले, विद्यमान, सत्ताधारी पदार्थ, स्थिति, भाव आदि। **पुनः**—भाष्यकार जयराम लिखते हैं—'पुनर्ग्रहणात् सोमदीक्षायां यो दण्डो ग्राह्यः तमप्यादद इत्याशंसनम्" अर्थात्—जो दण्डा सोमदीक्षा में ग्रहण किया जाता है उस को भी ग्रहण करता हूं यह भावना 'पुनः' शब्द के प्रयोग से प्राप्त होती है। परन्तु अगले सूत्र 'दीक्षावदेके०' से यह सुव्यक्त है कि पारस्कराचार्य यहां पर ग्रहण किये जाने वाले डण्डे के सोमदीक्षा के डण्डे से सम्बन्ध को प्रशस्त नहीं मानते हैं। अतः यहां पर 'येनेन्द्राय बृहस्पतिः' आदि मन्त्र के समान पूर्व काल के ब्रह्मचारियों की परिपाटी की ओर संकेत मानना उचित प्रतीत होता है। **ब्रह्मवर्चसाय**—जयराम ने इस का अर्थ 'याजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे' किया है।

२१. **दीक्षावदिति**—कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार सोमयाग में दीक्षा लेने वाला दण्डे को चुपचाप ग्रहण कर के कात्यायनश्रौत-सूत्रपठित—"उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योद् ऋचः" (य० ४।१०; का० य० ४।१३) इस मन्त्र को पढ़ कर ऊपर उठाता है, उसी प्रकार यहां भी चुपचाप, बिना 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र को पढ़े दण्डा ग्रहण करे और 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' आदि मन्त्र से ऊँचा उठाए[1]।

(ii) इन आचार्यों की युक्ति यह है कि श्रुति का कहना है कि 'दीर्घसत्रं

१. शुकदेव वर्मा की टीका में ओ३म् सुमस्याः कृणीस्वाधि। य० अ० ४ म० १०। इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा कर 'ओ३म् उच्छ्रयस्व वनस्पत... ...' इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा पर दण्ड के मूल को खड़ा कर उसे दाहिने हाथ में ग्रहण करे।' —यह विधान दिया है। तु० क०—भूमौ चोल्लिखति सुमस्या इति सुखरुग्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति। तं दक्षिणेनाभ्यचे॥ का० श्रौ० ७।६४-६७।

वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति।' अर्थात् जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है वह दीर्घसत्र मे दीक्षित होता है। भाष्यकारों का कहना है कि यहां सोमयाग और ब्रह्मचर्यव्रत दोनों मे दण्डधारण किए जाने के कारण ही ब्रह्मचर्यव्रत का दीर्घसत्र से साम्य बताया गया है। अगर ऐसा ही है तो सोमयाग की दीक्षा के समान दण्ड धारण न करना चाहिए, बल्कि 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए। भर्तृयश, कर्क और जयराम के मत में यहां पर दीर्घसत्र का कथन इस लिए किया है कि ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। गदाधर लिखते हैं कि दीक्षा के समान दण्डग्रहण के पक्ष में वासुदेव, कारिकाकार और हरिहर हैं।

(iii) कात्यायन श्रौतसूत्र के 'उच्छ्रयस्व' आदि मन्त्र का अर्थ यह है—[वनस्पते] हे दण्ड, [ऊर्ध्वः] (मेरे उठाने पर तुम) ऊँचे [उच्छ्रयस्व] उठो। [मा] मुझे (आचार्य, शास्त्र आदि के दण्ड का स्मरण करा के) [अंहसः] पापों से (और दुष्टों पर प्रहार कर के) विपत्तियों से [पाहि] बचाओ। [आ] सब ओर से [अस्य] इस [यज्ञस्य] यज्ञ(के समान मुझे) [उद्दचः] तेजस्वी बना दो।

(iv) वनस्पते—ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ[1] अग्नि, प्राण, पयोभाजन दिए हैं। ऋवे० ८।७।१६ में इसे ओषधियों का राजा कहा है। वन[2] √वन् से बनता है, जिस के अर्थ 'प्रतिष्ठा करना, पूजन करना, सहायता करना, काम में लगना, खोज करना, मागना, जीतना, वश में करना, अनुग्रह करना आदि हैं। पति √पा रक्षा करना से निष्पन्न होता है। अतः वनस्पते का प्रयोग यहां साभिप्राय है। कमनीय, सहायक, सम्मानित करने वाला, विजयी आदि भाव यहां अभीष्ट हैं। वेदमन्त्रों में 'वनस्पति' के वर्णन भी ध्यान देने योग्य हैं।

१. देखो वैको० में वनस्पति-पद। २. तु० क० वानरपद—वनस्येद वानं, तद्राति इति वानरः—कमनीय गुणों का धारक। श्रकोसु० २।५।३ भी देखें।

जल से अंजलि भरना और उस का रहस्य

२२. अथास्येति—जलों से अपनी अंजलि भर कर उस के जल को ब्रह्मचारी की अंजलि में छोड़ता है। ब्राह्मणों में 'आपः' के अर्थ 'सब कामनाओं के प्रापक, तत्र पुरुष से उत्पन्न, प्राण, अमृत, शान्ति, ओषधीनां रसः, सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धा, मेध्य, अन्न, रक्षोघ्नी, वज्र, वीर्य, अर्क, द्यौः, यज्ञ, रेतस्, पशवः, सर्वे देवाः, देवानां प्रियं धाम, शूद्रों का भक्ष, योषा' दिए हैं। इस अञ्जलिपूरण क्रिया में इन अर्थों के अनुरूप भाव अभिप्रेत हैं। इस क्रिया द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को शुद्ध और सत्य भाव से ब्रह्मचारी को श्रद्धान्वित सत्य का अभिलाषी आदि समझ कर सम्पूर्ण ज्ञान दे कर उसे सब कामनाओं को प्राप्त करने में समर्थ, अमृत, शान्ति, सप्राण, रसयुक्त (तु० क० अथे० ५।१६।१—११) सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धावान्, मेध्य अन्नवान्, रक्षोघ्न, वज्रवत्, वीर्यवान् आदि बनाने की प्रतिज्ञा करता है। वह ब्रह्मचारी को अपना समस्त ज्ञान आदि उसी प्रकार सम्पादित करेगा जिस प्रकार जल एक अञ्जलि से दूसरी में चला जाता है। इस क्रिया में 'पुत्रात् शिष्यात् वा पराजयेत' का भाव भी लक्षित होता प्रतीत होता है।

(ii) संचं० का विचार है कि यहां पर आचार्य यह भावना प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी की अंजलि कभी भिक्षान्न से खाली न रहे और आचार्य भिक्षा में प्राप्त अन्न को सहर्ष ब्रह्मचारियों को देगा। यह भाव भी अच्छा है परन्तु सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं है।

२३. आपो हि ष्ठेति—इन तीन मन्त्रों के अर्थ ये हैं—

आपो हि ष्ठा (ऋ० १०।९।१०)—[हि] निश्चय से [आपः] जल [मयोभुवः] सुखकर [स्थ] हैं। [ताः] वे [नः] हमें [ऊर्जे] अन्न (और) [महे] महान् [रणाय] आनन्ददायक [चक्षसे] ज्ञान के लिए [दधातन] धारण करें ॥१॥

(ii) भाव यह है कि जल शान्ति, सत्य, पवित्रता, अन्न यज्ञ और ज्ञान आदि के प्रतीक हैं। उन से हम अन्न, ज्ञान और सुख प्राप्त करने में गतिशील होने की प्रेरणा लेते रहें।

यो वः शिवतमः (य० ११।५१) का अर्थ

(iii) [वः] (हे जलो) आप का [यः] जो [शिवतमः] परम कल्याणकारी [रसः] रस (=सार) है, [इह] यहां [नः] हम को [तस्य] उस (रस) का [उशतीः] कामना करती हुई (अर्थात्—प्रेममयी) [मातरः] माताओं के समान [भाजयत] भागी बनाओ ॥२॥

तस्मा अरं गमाम (य० ११।५२) का अर्थ—

(iv) [यस्य] जिस (अज्ञान, पाप और अभाव आदि) के [क्षयाय] नाश करने के लिए (आप हमें) [जिन्वथ] गतिशील करते हैं [तस्मै] उस (अज्ञान आदि के नाश) के लिए (हम) [वः] आप को [अरम् गमाम] पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं। [च] और [आपः] जल [नः] हम को [जनयथ] (ज्ञान आदि से सम्पन्न) कर दें ॥३॥

(v) महे—महते। महान्, भारी पुष्कल। रणाय—रमणीय, आनन्ददायक। चक्षसे—√चक्ष्+असुन्। देखने के लिए, अतः ज्ञान के लिए। रसः—वस्तु का सार ही रस कहलाता है। भाजयत—√भज् से णिजन्त लोट् मध्यम पुरुष बहु व०। भागी बनाओ, प्राप्त कराओ, अधिकारी बनाओ। उशतीः—√वश्+शतृ+ङीप्+स्त्री० प्रथमा बहु व०। वैदिक रूप। चाहती हुई, अतः स्निग्ध। क्षयाय—निवास और नाश दोनों अर्थों में इस की योजना की जा सकती है। दम० और ग्रच० ने निवास अर्थ लिया है। सा० ने नाश। जिन्वथ—लौकिक भाषा में यह तृप्त्यर्थ में आता है। निघ० २।१४।८६ में यह गतिकर्मा है और निघ० ४।३।१०२ में पदनाम है। अतः इस के गति, ज्ञान और प्राप्ति—अर्थ होते हैं[1]। विको० भी देखें। जनयथ—सायण आदि ने इस का अर्थ प्रजा से समृद्ध करना

---

१ देखो हमारा लेख—दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ओफ यास्क, तथा वेभाप० ३०।२-४६।

लिया है। परन्तु यह प्रकरण में उतना उपयुक्त नहीं है जितना हिन्दी अनुवाद का अर्थ।

२४ सूर्यमुदीक्षयति—सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य को चराचर की आत्मा माना है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[1]।' यह देवों का विचित्र अनीक है, और मित्र, वरुण और अग्नि का चक्षु है। —"चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः[2]।" ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य के अर्थ आदित्य, बृहत्, इन्द्र, पूषा, सविता, धाता, ब्रह्मणस्पति, पिता, भर्ता, गोपा, नृवत्, यम, परोरजाः, वाजपेय आदि दिए हैं। सूर्य का दर्शन इस प्रकार के गुणों के ग्रहण करने की भावना धारण करने तथा चिरायु की कामना के लिए कराया जाता है।

तच्चक्षुर्देवहितं (य० ३६।२४) का अर्थ

२५. तच्चक्षुरिति—इस मन्त्र का अर्थ यह है—[देवहितम्] विद्वानों को (आरोग्य प्रदान आदि और अनुभूति देने के कारण) हितकर [तत्] वह (मित्र, वरुण और अग्नि अथवा लोक[3] की) [शुक्रम्] स्वच्छ, तेजस्वी, शुभ्र [चक्षुः] (देखने का साधन होने से) आंख (के सदृश) [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में [उच्चरत्] उदित है। (उस की सहायता से अथवा उस को हम) [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [पश्येम] देखते रहें [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [जीवेम] जीवित रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [शृणुयाम] सुनते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [प्रब्रवाम] बोलते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [अदीनाः] स्वतन्त्र और समृद्धिसम्पन्न [स्याम] रहें [च] और [शतात्] सौ [शरदः] वर्षों से भी [भूयः] अधिक (देखते, जीते, सुनते, बोलते और अदीन रहें)।

---

१. ऋ० १।११५।१ २. वही। ३. ब्राह्मणों में मित्र आदि को 'लोक' भी बताया गया है। देखो श० ८।५।४।१४, तां १४।२।४, श० १२। ६।२।१२ और श० १४।८।२।१५।

(ii) सूर्य ब्रह्म की शक्ति से सञ्चालित होने के कारण उस का प्रतीक है। सूर्य-पद स्वयं ब्रह्म का भी द्योतक है। अतः दस० ने पञ्चमहायज्ञविधि में इस का अर्थ ब्रह्मपरक किया है। सा०, उवट और महीधर ने सूर्यपरक लगाया है। उवट ने देवहितम् का अर्थ 'देवताओं द्वारा स्थापित' किया है। इस प्रकरण में इसे सूर्यपरक लगाना ही उचित है। हाँ, उस के साथ ही-साथ ब्रह्मपरक अर्थ की योजना भी आवश्यक है। तब ही इस क्रिया का पूर्ण अभिप्राय सिद्ध होता है। अतः दस० का अर्थ यहां उद्धृत किया जाता है—

(iii) "जो ब्रह्म सब का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता और सब जगत् का करने वाला है उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें, उसी ब्रह्म का उपदेश करें, और उस की कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित हमारी आत्मा सदा रहे।"

२७ मम व्रते मन्त्र का सवि० में दस० का अर्थ यह है—"हे शिष्य बालक तेरे हृदय का मैं अपने आधीन करता हूं। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य! आप के हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र हो के सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे।" पृ० ८५

(i) व्रते—व्रत का अर्थ नियम, शासन आदि भी होता है। वही यहां अभिप्रेत है। दस० ने य० ४।११, और १६।३६ में यही अर्थ लिया है ते हृदयं दधामि—जब तक बालकों का आचार्य के नियमों के प्रति आदर

भाव न हो, तब तक वे उन का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। **चित्तम्**—√चित् जानना से। इस का अर्थ 'मन, हृदय' भी किया जाता है। परन्तु यह भाव प्रथम पाद में आ चुका है। इस समस्त संस्कार में ज्ञान ही प्रधान विषय है। अतः यहां पर 'ज्ञान' अर्थ ही लिया गया है। **नियुनक्तु**—भाव यह है कि शिक्षाकाल में तुम निरन्तर मुझ से शिक्षा ग्रहण करते रहो, उस में प्रमाद और व्यवधान न हों।

२८. **आथास्य**—पा० मे०। सामान्यतः 'अथ' का प्रारम्भ में प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह पाठ ठीक नहीं है। इसे आ और अथ की सन्धि भी माना जा सकता है। इस पदच्छेद में 'आ' की अर्थ में कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इसे 'गृहीत्वा' के साथ ही लगाया जा सकता है। सूत्र० ३० में भी यही स्थिति है। वहां पर 'आ' को 'आह' से सम्बद्ध करना होगा। **हस्तं गृहीत्वा**—इस से आचार्य की ब्रह्मचारी के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है। **को नामासि**—कः नामा असि। नाम अस्य अस्तीति नामा। कौन नामवाले हो—किस नाम के हो—क्या नाम है। नाम का मानव के मस्तिष्क पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाम पूछने से परिचय बढ़ता है और उस नाम के अर्थ का भाव अंकित होता है। 'क' सुख का भी द्योतक है और प्रजापति का भी। दोनों ही अर्थों को संकेतित करने के लिए इस प्रकार की रचना की गई है—तुम सुखमय प्रजापति के सदृश किस नाम वाले हो।

२९. **असावहम् भो३**—इस के अन्त में ब्रह्मचारी अपने नाम का उच्चारण करे।

३१. **इन्द्रः**—जयराम इसे √इदि परमैश्वर्ये से व्युत्पन्न कर इस का अर्थ 'प्रजापति' करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अर्थ 'सूर्य, आदित्य, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, राजन्य, क्षत्र, अशनि, स्तनयित्नु, ब्रह्म, प्रजापति, वीर्य, वृषा, रेतः, उद्गाता, अंहोमुक्, अश्व आदि दिए हैं। यह ऋग्वेद के धर्म में प्रमुख देवता है। इसे विभिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया

गया है। ऋ० १।१३६।६ में इन्द्र 'अग्नि का विशेषण है। पुनरुक्त ऋगर्थों में इस का तादात्म्य अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से पाया जाता है। देखो वेमाप० ४।१४६–१५०, परिशिष्ट ७।७–१०,१३। अतः यहां 'इन्द्र' का प्रजापति अर्थ समीचीन जान पड़ता है। वैप० में इन्द्रपद भी देखें। **अग्नि**.—भाष्यकारों को अग्नि का अर्थ करने में समस्या रही प्रतीत होती है। सम्भवतः इसी कारण उन्हों ने इस का कोई अर्थ नहीं दिया। जब इन्द्र का अर्थ प्रजापति कर दिया गया और बालक को उस का ब्रह्मचारी बताया गया तब 'अग्नि' को प्रथम आचार्य कहने से स्पष्ट कर दिया गया कि यहां अग्नि और इन्द्र का अर्थ एक ही है—प्रजापति। इन्द्र ऐश्वर्य आदि का द्योतक है, अग्नि अग्रणीत्व, अज्ञाननिरोधक, पापनाशक आदि का। इस पद के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ रुद्र, अर्क, पशव, शिर, देवों को आत्मा, आत्मा, वाजानां पति, प्रजाओं का प्रजनयिता, पृथिवी, सवत्सर, वाक्, नेत्र, रक्षोहा, तप, मन, प्राण, ब्रह्म, देवानां गोपा, ऋत, भर्ग, यम, विराट् आदि दिये हैं। दस० ने इस के भौतिक और आध्यात्मिक—दो पक्ष माने हैं। दूसरे पक्ष में इस का अर्थ 'परमात्मा' किया है। इसे ऋग्वेद में 'एक सत्' भी कहा है (ऋ० १।१६४।४६)। ब्राह्मणों में ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है। ऋक्, साम और यजु को वाक् कहा गया है। अग्नि वाक् भी है। अतः यह वेदज्ञान का भी द्योतक है। वैसे भी निघ० ५।१।१ में इसे पदनामों में पढ़ कर इस का 'ज्ञान'—अर्थ यास्कमुनि ने प्रतिपादित किया है। **आचार्य** —"जो सांगोपांग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया को जानने हारा छलकपट रहित, अतिप्रेम से विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेश सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे।" दस० सत्रि० पृ० ८० (पादि०)। भूमाभू० में लिखते हैं—"आचार्य उस को कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।" पृ० ३०४।

भाष्यकार हरिहर ने आचार्य का यम के अनुसार यह लक्षण दिया है—

> "सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः ।
> आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥
> वेदाध्ययनसंपन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रियः ।
> न याजयेद् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम् ॥"

मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण यह है—

> "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
> सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥" २।१४०।

परन्तु शूद्रक और कालिदास के समय तक इस के ये अर्थ बदल चुके थे और किसी भी विषय में पारंगत व्यक्ति को आचार्य कहा जाने लगा था। यहां पर आचार्य का प्राचीन अर्थ ही अभिप्रेत है।

३२. भूतेभ्यः—√भू होना+क्त, ४ थी बहु०। सत्ताधारियों के लिए। जो कुछ भी उत्पन्न हो चुका है—चाहे भूत काल में हो चाहे वर्तमान काल में वह सब 'भूत' कहलाता है। अतः पृथिवी आदि लोक और उन में विद्यमान समस्त पदार्थ भूत कहलाते हैं। प्रजापति, प्रजा, वायु आदि तत्त्व सब कुछ भूत हैं। इस में आधुनिक काल में प्रचलित भूतप्रेत की भावना नहीं है। इस प्रकार की भावना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती ज्ञात नहीं है। मृत व्यक्तियों की भूत संज्ञा तो है, परन्तु वे मनुष्य को दुःख देने वाले के रूप में नहीं हैं। जैसा गदाधर ने लिखा है यहां 'भूतेभ्यः' का विस्तार प्रजापति आदि आगामी मन्त्र (सूत्र० ३३) में वर्णित पदार्थ आदि हैं। परिददाति—परि+√दा का अर्थ सम्यक् रूप से देना है। पदार्थों के लिए देने का भाव पदार्थों का उपयोग करना है।

३३. प्रजापतये—प्रजानां पतिः। प्रजाओं का पालक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाचस्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, मृत, मृत्यु, हिरण्यगर्भ,

ब्रह्मा, सोम, चन्द्रमा, दक्ष, मनु, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम आदि दिए हैं। इन अर्थों में से सभी उपयुक्त अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य अर्थों के लिये देखो वैको०। **देवाय**—देव शब्द √दिव् से बनता है जिस के अर्थ क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति हैं। जिस जिस पदार्थ, भाव और स्थिति में इन में से एक या अनेक अर्थ प्रगट होते हों वह वह पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। विस्तार के लिये देखो वेभा० ६।३१-४२ तथा हमारा लेख—महर्षि दयानन्द सरस्वती और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सङ्कलित)। **सवित्रे**—शब्दार्थ—उत्पादक। √सु+तृच्। ब्राह्मणग्रन्थों में सविता के अर्थ प्रसविता, देवाना प्रसविता, आदित्य, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, वरुण, विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, अभ्र, वेदा, अन्न, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यकृत्, राष्ट्रपति, हिरण्यगर्भ आदि दिए हैं। **द्यावा पृथिवीभ्याम्**—द्युलोक और पृथिवीलोक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के प्राण और उदान, देवताओं के हविर्धान अर्थ भी मिलते हैं। **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**—जैसा 'देव' पद के ऊपर के व्याख्यान से स्पष्ट होगा इस पद का अर्थ *ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ* होता है। *ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ 'समस्त* विद्वान्, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, श्रोत्र, दिशाएं, विट्, प्रजा, पशु, अन्न, गौ आदि मिलते हैं तथा वहां इन्हें अनन्त कहा है। **अरिष्ट्यै**—न रिष्टि अरिष्टि, तस्यै। √रिष् हिंसायाम् से। रिष्टि—हिंसाप्राप्त स्थिति, दुःख, अमंगल। अरिष्टि—सुख, कल्याण।

३४. **प्रदक्षिणम्**—प्रगत दक्षिणम् इति। दक्षिण की ओर को हुई (अग्नि)। इसे परीत्य का क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। भाव यह है कि प्रदक्षिणा कर के अग्निकुण्ड के पश्चिम में और आचार्य के उत्तरपूर्व की ओर मुख कर के बैठे। आचार्य दक्षिण की ओर बैठता है। **अग्निम्**—यज्ञ कुण्ड में जलती हुई अग्नि। पवित्र वस्तुओं को दाहिनी ओर रखते हुए उन के चारों ओर घूमना (=परिक्रमा करना) कल्याणकर समझा जाता है। **परीत्य**—परि+√ई+ल्यप्।

३५. अन्वारब्ध—अनु+आ+√रभ्+क्त। भाष्यकारों ने इसे प्रथमा एक व० मान कर 'ब्रह्मा से आरम्भ कराए गए कर्म वाला आचार्य (जयराम) अथवा ब्रह्मचारी द्वारा आरम्भ कराए गए कर्म वाला (आचार्य) (विश्वनाथ), ब्रह्मा से छुए हुए घृत (की आहुतियां) (शुकदेव)' अर्थ किए गए हैं। अब तक अन्य क्रियाएं चालू थीं। यज्ञ बन्द था। आहुति देने के लिए यज्ञकर्म प्रारम्भ होना आवश्यक था। अतः इस पद को सप्तमी एक व० मान कर 'यज्ञे' का अध्याहार करने पर अर्थ प्रकरणोचित हो जाता है। आज्याहुतीः—दस० ने २२ आहुतियों का विधान किया है। विश्वनाथ का विवरण—'आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यं स्विष्टकृच्च' है। प्राशनान्ते—भाष्यकारों ने संस्रवप्राशन का वर्णन किया है। महीधर ने संस्रव का अर्थ 'विलीन आज्य' किया है। दस० ने होम में छोड़े हुए घृत आदि पदार्थ समझा है (य० २।१८)। अतः यज्ञशेष। संशास्ति—ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश करते हैं। दस० ने संवि० पृ० ६२–६३ में इन सूत्रों के साथ कुछ अन्य सूत्र भी दिए हैं।

३७. अशान—√अश् से लोट् मध्यम पु० एक व०। खाओ, अर्थात् पीओ।

(ii) श्री शुकदेव ने छान्दोग्य ब्रा० उ० प्र० ५ ख० २ सं० २—'स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति। होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आरम्भ और अन्त में भोजन को आचमन कर के वस्त्रवत् वेष्टित कर देना चाहिए क्यों कि उस के प्रश्न पर इन्द्रियों ने प्राण से कहा था कि जल ही उस के वस्त्र होंगे।

३८. कर्म—ब्रह्मचर्यव्रत और ज्ञानोपार्जन के लिए उपयुक्त कर्म। संचं०—दुष्ट कर्म छोड़ धर्म किया कर।

३९. दिवा—दिन में सोने से आयु का ह्रास, आलस्य की वृद्धि, पठन में व्यवधान आदि अनेकों दोष पाए जाते हैं।

४१. समिधम्—भाव यह है कि प्रतिदिन यज्ञ क्रिया करो और उस से अनुभूति लो।

सावित्री का उपदेश

दस० आदि के मत में यहां से आगे वेदारम्भ संस्कार है।

४३. सावित्रीम्—सवितृ देवता है जिस का ऐसी ऋचा। सामान्यत गुरु द्वारा शिष्य को सिखाए जाने वाले गायत्री मन्त्र को ही सावित्री' कहते हैं।

उपदेश के योग्य ब्रह्मचारी के गुण

उत्तरतोऽग्नेः—प्रारम्भ में बालक पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख बैठा था। अब वह उत्तर की ओर आ कर बैठा है। प्रत्यङ्मुखाय—अब उस का मुख पश्चिम की ओर है। उपविष्टाय—उप+√विश्+क्त। सामान्यत खड़े हुए बालक को उपदेश ग्रहण करने में पर्याप्त असुविधा होती है। फिर भी आगे सूत्र० ४४ में 'खड़े हुए का भी उपदेश देने का वर्णन है। उपसन्नाय—उप+√सद्+क्त+चतुर्थी एक व०। समीप आए हुए। शुकदेव—प्रसन्नचित्त। समीक्षिताय—सम्+√ईक्ष्+क्त+चतुर्थी एक व० पु०। परीक्षित, परखे हुए। समीक्षमाणाय—सम्+√ईक्ष्+शानच्+चतुर्थी एक व० पु०। अच्छी प्रकार देखते हुए। इस के दो भाव हो सकते हैं—१. शान्त चित्त हो कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के मुख की ओर देखने वाले २. सुने हुए उपदेश या पाठ पर तर्क वितर्क द्वारा विचार करने वाले। हिन्दी अनुवाद में पहला अर्थ लिया गया है, परन्तु दूसरा अर्थ प्रकरण में अधिक संगत होता है। तु० क० "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' बृआउ०। तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा।"

(ii) प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यार्थी में श्रद्धा, शान्ति और ब्रह्मचर्य आदि गुणों का होना परम आवश्यक माना गया है—

१–*क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।*

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥ मुउ० ३।२।१०

तथा—तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। मु० उ० १।२।१३।

२–नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।
 यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
 तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वे० उ० ६।२२-२३

३–असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।
 ❀ ❀ ❀ ❀ ❀
 यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
 यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ नि० २।४

श्री शुक्रदेव ने यहां गुरु के पैर छूने का विधान माना है। पारस्कर को यह विधि मान्य प्रतीत नहीं होती।

४४. दक्षिणतः—अग्नि के दक्षिण में। यह कुछ आचार्यों का मत है।

४५. पच्छः—पद्+शस्। पादं पादमिति पच्छः, पदयो वा। पहले एक-एक पाद (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्) पढ़ाए। अर्द्धर्चशः—ऋचः अर्धमिति अर्धर्चम्। अर्द्धर्चम् अर्द्धर्चमिति अर्द्धर्चशः। आधी-आधी ऋचा (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि) कर के। सर्वां च—तीसरी बार में सम्पूर्ण मन्त्र (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥) को एक साथ आचार्य के अनुकरण पर उच्चारण करे। यहां पर प्रणव (=ओ३म्) और व्याहृतियों (भूः, भुवः स्वः) के साथ मन्त्र पढ़ा जाना अभीष्ट है। अनुवर्तयन् अनु+√वृत्+णिच्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०।

सावित्री के उपदेश का कालपरिमाण—

४६. षाण्मास्ये—षडेव मासाः षाण्मास्यम्, तस्मिन्। षाण्मास्ये पाठ में वृद्ध्यभाव को छान्दस मानना पड़ेगा।

(ii) हरिहर भाष्यकार के विचार में काल की यह अवधि क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिए है। जो गुरुशुश्रूषा आदि गुणों से जितना कम होगा उतना ही समय अधिक लगेगा। परन्तु यहां पर गुरु की ज्ञानगरिमा और शिष्य की योग्यता और ग्रहणशक्ति ही इस कालविभाग का कारण प्रतीत होते हैं।

(iii) प० शुकदेव का विचार है कि इन कालों में बालक को ब्रह्मचर्य का उपदेश कर के गायत्री सिखाए। इस से व बालक में योग्यता उत्पन्न कर के उपदेश देना चाहते हैं।

४७ सत्य०—ब्राह्मण बनने योग्य ब्रह्मचारी के गुण अधिक होने अनिवार्य हैं। अतः वह तीव्रबुद्धि और वदज्ञान का पिपासु होने से गायत्री के शिक्षण को शीघ्र ग्रहण कर सकेगा। गायत्री का अध्यापन अर्थ सहित ही अभीष्ट है। गायत्रीम्—ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वरों के परिज्ञान के साथ गायत्री। वैदिक वाङ्मय में गायत्री की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में गायत्री के अर्थ—प्राणों का रक्षक, पृथिवी प्राण, अग्नि ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, तेज, ज्योति वीर्य, शिर, मुख, प्राची दिक्, यश, पुरुष आदि दिये हैं। य० २८।२४-३४ में गायत्र एक दार्शनिक परिभाषा है। य० १०।११ में गायत्री को प्राची दिशा में रक्षक बताया है। य० १४।१० में यह 'पचाविर्वय' का द्योतक है। ऋ० १०।१३०।४ में इस की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। अतः जो वेद में वर्णित अग्नि के गुणों से सम्पन्न हो उसे गायत्री का ज्ञान तुरन्त हो सकता है। यह भाव 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० २।७।३।१) में व्यक्त किया गया है। अग्नि का विशेष गुण ज्ञानशीलता है। यह गुण अग्नि के विशेषणों—कविक्रतु, जातवेदस्, अंगिरः, विश्ववेदस्, कवि, ऋषि, कण्वतम, चिकित्वान्, चेकितान, चेतिष्ठ, प्रकेत, प्रचेता, प्रजानन् और बृहस्पति' आदि में परिलक्षित होता है।

गायत्री मन्त्र और उस का दस० का अर्थ

(ii) गायत्री मन्त्र यह है—ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(iii) इस का सविस्तार अर्थ दस० ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि में दिया है। ऋ० ३।६२।१०, य० ३६।३ में भी इस का अर्थ मिलता है। यहां पर संस्कारविधि का अर्थ संक्षिप्त और सुगमतर होने से दिया जाता है।

(iv) (ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का निज नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने हारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने हारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है (तत्) उस को हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।

आधुनिक शैली पर गायत्री का अर्थ

(v) आधुनिक अर्थप्रणाली में एक पद का एक ही रूढ़िगत अर्थ ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैदिक शैली इस से नितान्त भिन्न है। देखो हमारा ग्रन्थ 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन।' उपरोक्त अर्थ वैदिक शैली पर है। आधुनिक शैली पर ग्रिफिथ महोदय का अनुवाद इस प्रकार है—'हमें सवितृ देव की वह उत्तम महिमा प्राप्त हो जाए, जिस से वह हमारी प्रार्थनाओं को प्रगति दे सके।'

(vi) ओ३म्—यह प्रणव भी कहलाता है। उपनिषदों और गीता में इसे ईश्वर विषयक समस्त ज्ञान का सार कहा है। यह परमात्मा का उत्कृष्ट नाम माना जाता है। इसे √अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेश-श्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिंगनहिंसादानभागवृद्धिषु से व्युत्पन्न किया जाता है। इस का विशेष विस्तार सप्र० १ म समुल्लास में देखें। भूः—

भूरिति वै प्राण —य प्राणयति चराचर जगत् ■ स्वयम्भूरीश्वर । सब जगत् के जीवन का आधार, प्राणों से भी प्रिय ईश्वर। भुवः—भुवरित्यपान —य सर्वं दु खमपानयति सोऽपान । सब दु खों से रहित, जीवों को दु खों से छुड़ाने वाला। स्वः—स्वरिति व्यान —या विविध जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यान । नानाविध जगत् में व्यापक। सवितुः—सुनोति उत्पादयति सर्वं जगत्। सु धातु प्रसव और ऐश्वर्य में आती है। यह पद सूर्य का भी द्योतक है। मध्यकालीन और आधुनिक विद्वान् इस का सूर्य ही अर्थ करते हैं। वरेण्यम्—वर्तुमर्हम्। स्वीकार्य, श्रेष्ठ। कोलब्रुक—पूजनीय। विल्सन—कमनीय। वेदार्थरत्न—परमोत्कृष्ट। लैंगलोइ—उदार। भर्ग—√भ्रस्ज् +घञ्। भूनने वाला, शुद्ध करने वाला। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ पृथिवी, ऋग्वेद, होता, अग्नि वसु, वाक्, वसन्त, गायत्री, प्राची, आदित्य, चन्द्रमा, वीर्य और त्रिवृत् दिये हैं। इस मन्त्र मे गो० १।१।३२ में भर्ग का अर्थ 'ब्रह्म' दिया गया है। आधुनिकों के अर्थों में कोलब्रुक—प्रकाश, वेदार्थरत्न—तेज, सामस्वामी—शक्ति, ग्रिफिथ—महिमा, ल्यूड्विग—चमक, प्रमुख हैं। देवस्य—दीव्यति दीव्यते वा स देव । सुखदायक, कमनीय। यह √दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु से व्युत्पन्न होता है। कोलब्रुक ने इस का अर्थ दिव्य, शासक, वेदार्थरत्न ने आजज्वल्यमान ग्रिफिथ ने देव और ल्यूड्विग ने देवगण किया है। इस पद के अर्थों के विवेचन के लिए देखो हमारा लेख—महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सग्रहीत)। धियः—निघ० में इसे बुद्धि और कर्म का पर्यायवाची बताया गया है। विद्वानों ने इन दोनों ही अर्थों को अपनाया है। वेदार्थरत्न ने भावनाएं, भक्ति, लैंग्लेओ ने प्रार्थनाएं अर्थ किये हैं।

गायत्री मन्त्र का महत्त्व

(vii) इस मन्त्र मे बुद्धि और कर्मों की शुद्धि और सत्य मार्ग पर गति के लिए प्रार्थना की गई है। शुद्ध बुद्धि और श्रेष्ठ कर्म ही मानव की

ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों—अभ्युदय और निःश्रेयस के निष्पन्न करने वाले हैं। इसी कारण इस मन्त्र की विशेष महिमा है। इस मन्त्र के ऋष्यादि विश्वामित्र, सविता और गायत्री हैं। इन पदों के अर्थों के अनुसार अन्य अर्थ भी इस मन्त्र के अभिप्रेत हैं। उन सब की कल्पना और विस्तार यहां सम्भव नहीं। उपरोक्त गायत्री के उपदेश की अवधियों के निर्धारण में इस मन्त्र के अनेकविध अर्थ भी कारण रहे हो सकते हैं।

(viii) श्रुतिः—श्रूयते इति श्रुतिः। √श्रु श्रवणे+क्तिन्। सामान्यतः इस का अर्थ परम्परा से सुन कर कण्ठ किए जाने वाले ग्रन्थ किया जाता है। इन में प्रमुख रूप से वेद और सामान्य रूप से ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। यदि इस का अर्थ श्रूयते ज्ञायते अनेनेति श्रुतिः किया जाए तो अर्थ अधिक संगत हो सकेगा और ब्राह्मणों पर भी ठीक-ठीक लागू हो सकेगा। यहां पर तैत्तिरीय ब्राह्मण की ओर निर्देश है।

त्रिष्टुभ् छन्द का सवितृ देवता का मन्त्र

४८. त्रिष्टुभं राजन्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र इस प्रकार है—

"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥" य० ९।१

(ii) य० ५।३९ भी 'देव सवितः' से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस का छन्द त्रिष्टुभ् न होने से वह अभिप्रेत नहीं है।

(iii) भर्तृयज्ञ इस के स्थान पर इस मन्त्र का विधान मानते हैं—

"ताँ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाँ सहस्रधारां पयसा महीं गाम्[1]॥" य० १७।७४

१. पं० शुकदेव ने मानवगृह्यसूत्र १।२।३ दिया है जिस में त्रैष्टुभ मन्त्र आदेवो याति (यातु ?—ऋ० ७।४५।१) माना है।

देव सवितः प्रसुव मन्त्र का अर्थ

(iv) देव सवितः—जयराम और उवट ने इस का ऋषि बृहस्पति दिया है। महीधर और दयानन्द सरस्वती ने इन्द्राबृहस्पती। इस का देवता सविता और छन्द त्रिष्टुम् (दस०—स्वराडार्षी त्रिष्टुम्) है। यह मन्त्र य० ११।७ और ३०।१ में भी पाया जाता है। वहां पर 'वाजम्' के स्थान पर 'वाचम्' का प्रयोग है। पुनरुक्त अर्थों से अर्थग्रहण की शैली पर यहां वाजम् का अर्थ वाचम् हो जाता है। तै० २।३।२।५ ने 'वाग्वै वाजस्य प्रसव' कह कर इस अर्थ की पुष्टि की है। उपरोक्त पिछले दो मन्त्रों में स्वाहा का पाठ भी नहीं है। प्रकृत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(v) हे (देव) [समस्त सुखों के] दाता प्रकाशस्वरूप (सवितः) सकल जगत् और ऐश्वर्य आदि के उत्पादक परमात्मन्, (यज्ञम्) (अध्ययन रूप मेरे) श्रेष्ठ कर्म को (प्रसुव) प्रगति दें। (यज्ञपतिम्) [अध्ययन यज्ञ के] यजमान [मुझ ब्रह्मचारी] को (भगाय) [समियाचित] ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (प्र सुव) गतिशील करते रहें। (दिव्यः) प्रकाशमान [सत्यगुणों को देने वाला] (गन्धर्वः) जगत् का धारक [और रक्षक] (केतपूः) [मनुष्यों के चित्तों में वर्तमान] ज्ञान का परिशोधक परमेश्वर (केतम्) [हमारे] ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करें। (वाचस्पतिः) प्राणों के रक्षक प्रजापति (नः) हमारे (वाजम्) बल या वाणी को (स्वदतु) आनन्दकर बनाए। (स्वाहा) [मेरी] वाणी शुभ हो।

(vi) गन्धर्वः—गां जगत् धरतीति। मेघदूत की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० १५३ को पाटि० ३ भी देखें। केतपूः—केत चित्तस्थ ज्ञानं पुनाति शोधयतीति। केतम्—√कित् (ज्ञाने)+घञ्। ज्ञान, बुद्धि। शतपथ ब्राह्मण में केत अन्न का वाचक भी है। वाचस्पतिः—ब्राह्मणों में इस के अर्थ प्राण और प्रजापति भी दिए हैं। वाजम्—√वज गतौ से। इस के अर्थ 'अन्न, वीर्य, पशु, स्वर्गलोक और ओषधि' आदि पाए जाते हैं। वाजिन् आदि पदों में इस का बल-अर्थ सुस्पष्ट है। स्वदतु—√स्वद् से। स्वाद

ले, आनन्द ले और आनन्दयुक्त करे। अन्तर्दितएयर्थ धातु है। स्वाहा—सु+आह से निष्पन्न होता है। उत्तम कथन। दय० ने अपने भाष्यों में इस के अनेकविध अर्थ दिए हैं।

(vii) भर्तृयज्ञ द्वारा उद्धृत 'तां सवितुः' मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) [वरेण्यस्य] श्रेष्ठ पूजनीय [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की [ताम्] उस (सुविदित) [चित्राम्] विभिन्न प्रकार (के फल देने) वाली [विश्वजन्याम्] सब का कल्याण करने वाली [सुमतिम्] शोभन बुद्धि को [आवृणे] धारण करता हूँ [याम्] जिस को (पा कर) [कण्वः] विद्वान् (क्षत्रिय जन) [अस्य] इस (सविता—परमेश्वर की दी हुई) [पयसा] अन्न-जल आदि से [प्रपीनाम्] प्रवृद्ध हुई [सहस्रधाराम्] हज़ारों प्रकारों के (पदार्थों को) धारण करने वाली [महीम्] महान् विस्तृत [गाम्] भूमि को [अदुहत्] दोहते रहे हैं।

(viii) विश्वजन्याम्—विशेष्यः सर्वेभ्यः जनेभ्यः हिताम्। विश्व+जन+यत्। सुमतिम्—यथार्थ विषय वाली पदार्थों का यथावत् ज्ञान कराने वाली बुद्धि। कण्वः—निघं० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। माधवभट्ट के भाष्य में इसे इसी अर्थ में लिया गया है। विकल्प में ऋषि-विशेष का नाम भी माना है। इसी भाष्य में इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्ति से आरम्भ होता है। वेमाप० ३०।५—७ में दिखाया गया है कि यह संहिताओं आदि में मेधावी' अर्थ का द्योतक है। यह गत्यर्थक या शब्दार्थक या निमीलनार्थक √कण् से अथवा √कृष्ण् वध करना से बनता है। प्रपीनाम्—प्रकृष्टरूपेण पीनां पुष्टाम्। बढ़ी हुई। सहस्रधाराम्—सहस्रसंख्यानर्थान् धरति ताम्। अदुहत्—वेद में भूतकाल की क्रियाओं के अर्थ भी बहुधा लट् लकार में किए जाते हैं।

(ix) इसी प्रकार का भाव—भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्। महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥ एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥ एषा ते कुलपा

राजन् तासु ते परि दद्मसि। ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्ण शामोप्यात् ॥ अथर्व० ६।१४।१—३ में पाया जाता है। विस्तार के लिए देखो हमारा लेख—ए न्यू इन्टरप्रेटेशन ऑफ अथर्व० ६।१४।

(x) ये दोनों मन्त्र क्षत्रिय बनने के इच्छुक और योग्य बालक के लिए माने गये हैं। अत ऐसे बालकों की भावनाओं के अनुरूप ही इन मन्त्रों के अर्थ अभीष्ट हैं और ऊपर दिए भी गए हैं।

जगती छन्द वाला सविता देवता का मन्त्र

४६. जगतीं वैश्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र अधोदत्त है—

"विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥"

ऋ० ५।८१।२; य० १२।३

(ii) भर्तृयज्ञ ने यह मन्त्र माना है—

"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥"

य० ५।१४; ऋ० ५।८१।१

(iii) विश्वा रूपाणि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—[कविः] क्रान्तदर्शन, क्रान्तप्रज्ञ और सर्वज्ञ (परमेश्वर) [विश्वा] सम्पूर्ण [रूपाणि] पदार्थों के स्वरूप को [प्रति मुञ्चते] प्रकट करता है। (वह) [द्विपदे] दो पैरों वाले प्राणियों (मनुष्य आदि) (और) [चतुष्पदे] चार पैरों वाले (पशु आदि) के लिये [भद्रम्] कल्याण [प्रासावीद्] करता है। [वरेण्यः] पूजनीय [सविता] सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (सब प्राणियों के लिए) [नाकम्] समस्त दुःखों से रहित (सुखों) को [वि अख्यत्] प्रकाशित किया है। [उषस] उषाओं के समान (आलस्य और दारिद्रय आदि की दाहक) गतिशीलों के [प्रयाणम्] गमन के [अनु] पश्चात् [विराजति] (समृद्धि) चमक जाती है ॥

(iv) नाकम्—कं सुखम्। न विद्यते कं सुखं यस्मिन् तत् अकम्। न अकं दुःखं विद्यते यस्मिन् तत् नाकम्। उषसः—दय० ने उ० ४।२३४ में इस की व्युत्पत्ति 'ओषति दहतीति उषः'...उषा था दी है। ऋग्वेद में 'उषाः' सतत गतिशील है। यह प्रति दिन अपने पूर्व मार्ग पर आती है। वह मघोनी= धनयुक्त और धन देने वाली है। देखो ऋ० (१।६१३-४ आदि)। प्रयाणम्—गमन, बीतना, चला जाना। भाव यह है कि व्यापार आदि कर्मों के करने से धन की वृद्धि होती है।

(v) मतृ यज्ञ द्वारा प्रदत्त 'युञ्जते मन उत' आदि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

[होत्राः] यज्ञशील [विप्राः] (व्यापार में कुशल) बुद्धिमान, वैश्य [विप्रस्य] विशेष रूप से फल प्राप्त कराने वाले [बृहतः] महान् [विपश्चितः] (वाणिज्य रूपी) यज्ञ (के कर्म में) [मनः] (अपने) मनों को [युञ्जते] युक्त करते हैं [उत] और [धियः] कर्मों को [युञ्जते] (उसी में) केन्द्रित करते हैं। [इत्] निश्चय से (यह) [देवस्य] दिव्य [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक और परमैश्वर्य के सृजक परमेश्वर की [मही] महान् [परिष्टुतिः] महिमा (है)। [वयुनावित्] (व्यापारिक उत्तम) कर्मों का जिज्ञासु (एकः) कर्मशील (मैं सविता की इस महिमा को) [विदधे] (पूर्ण रूप से) धारण कर सकूं।

(vi) विप्राः—निघं० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। ऋग्वेद के अनुसार बुद्धि और कर्म से ही मनुष्य 'विप्र' बनता है—"उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥" ऋ० ८।६।२८। विप्रस्य—महीधर ने इस का विग्रह—विशेषेण प्राति पूरयति फलमिति विप्रस्तस्य। √प्रा पूर्तौ से। दय० ने भी इसी व्युत्पत्ति को अपनाया है। विपश्चितः—तु० क० श० ३।५।३।१२—यज्ञो वै बृहन् विपश्चित्। य० ५।१४ में महीधर भाष्य भी देखें। यज्ञ का अर्थ अतिव्यापक होने से यहां पर प्रकरणोचित 'वाणिज्य रूपी यज्ञ कर्म' अर्थ किया गया है। होत्राः—√हु दानादनयोः से। यह धातु 'यज्ञ करने' के अर्थ में सुविदित है। अतः यज्ञ करने वाले।

दधे—√धा से लट् उत्तम पु० एक व० आत्मनेपद। यहाँ भाव लोट् लकार में अभीष्ट है। वयुनावित्—वयुन का अर्थ कर्म है। कर्मों को जानने वाला। अभी ब्रह्मचारी कर्मठ नहीं हुआ है। वह व्यापारिक कर्मों को जानना चाहता है। अत यहा इच्छार्थ अभीष्ट है। मही—महती। वैदिक रूप। परिष्टुतिः—परि+स्तुति। सब ओर से स्तुति। अत यश, महिमा। एकः—एति गच्छतीति एक। √इ+कन्। उ० ३।४३। गतिशील, कर्मठ।

सब के लिये गायत्री का उपदेश

५० पृथक् पृथक् गुणों के अभिलाषियों के लिये पृथक् पृथक् मन्त्रों का विधान किया जा चुका है। सब मन्त्रों का देवता सविता और उन का विषय सद्बुद्धि की प्रार्थना है। भेद केवल छन्द का है। छन्दों के वाचक पदों के अर्थों[1] में भी एक सीमा पर एकता का सूत्र परिलक्षित होता है। इस प्रकार वर्णों में मूलत कोई भेद नहीं रहता है। अत सब को गायत्री मन्त्र का ही उपदेश किया जा सकता है। इस विकल्प में पिछले ३ सूत्रों में वर्णित विधि से पूर्व प्रचलित प्रथा का अवशेष भी लक्षित होता है।

समिधाधान

५१. अत्र—यहा। कर्क और जयराम इस का अर्थ 'अग्नि में' करते हैं। हरिहर के मत में यह 'सावित्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् अब' का द्योतक है और विश्वनाथ के मत में 'दोपहर की सन्ध्या के बाद में' का। समित्—समिध्यते दीप्यते अग्निरनया इति। सम्+√इध् चमकना से। प्रदीप्त करने वाली। भाव यह है कि जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़ कर उसे प्रदीप्त कर देती है उसी प्रकार गुरु के सावित्री और ज्ञान के उपदेश रूपी समिधा से तुम भी ससार में चमक उठो। तु० क० (१) 'प्राणा वै

१. छन्दों के वाचक पद मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशक होते हैं। अतः उन के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स ऑफ दी ऋग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलोसोफी।

समिधः। प्राणा ह्येनं समिन्धते। श० ६।२।३।४४ (२) यदेनं समवघ्नत् तत्समिधः समित्त्वम्। तै० २।१।३।८ और (३) समिधो यजति वसन्तमेव वसन्ते वा इदं सर्वं समिध्यते। कौ० ३।४। ब्राह्मणों में समिध् के अर्थ अग्नि, गर्भ, वसन्त और प्राण मिलते हैं।

(ii) इस समिधा के आधान के लिये न तो यहां पर पारस्कराचार्य ने कोई मन्त्र प्रस्तुत किया है, न भाष्यकारों ने ही। आगे० सूत्र० ५४ में भी समिधाधान का विधान और ५५ में उस समय बोले जाने वाला मन्त्र है। अतः या तो समिधाधान का प्रकृत स्थल पर विधान करने वाला सूत्र पुनरुक्ति होने और मन्त्रहीन क्रिया का विधायक होने से प्रक्षिप्त है, अथवा यहां पर दस० के संवि० के वर्णन के अनुसार 'अयं त इध्म आत्मा' 'समिधाग्निं दुवस्यत, सुसमिद्धाय शोचिषे' तथा 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो०' मन्त्रों से समिधाधान अभीष्ट है। यह भी सम्भव है कि अब तक अग्नि का कुछ मन्द पड़ जाना स्वाभाविक था। अतः इस स्थल पर सामान्यरूप से बिना मन्त्र पढ़े यज्ञवेदी में अग्नि में समिधाएं डाल दी जाएं। उपरोक्त तीनों मन्त्रों का यहां विनियोग आचार्य पारस्कर द्वारा विहित नहीं है। अतः उन का अर्थ यहां नहीं दिया गया है।

अग्नि का परिसमूहन और उस का भाव

५२. पाणिना—भाष्यकारों का विचार है कि यहां पर 'पाणिना' में एक वचन के प्रयोग से एक हाथ से ही क्रिया का विधान अभीष्ट है, दोनों हाथों से नहीं। कई क्रियाओं में अग्नि का संधुक्षण दोनों हाथों से किया जाता है, परन्तु यहां नहीं।

(ii) 'पाणि' शब्द 'पण स्तुतिव्यवहारे च' से बनता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह पद केवल स्तुत्यर्थक 'पण्' धातु से सिद्ध होता है। परन्तु यह स्थिति ठीक प्रतीत नहीं होती। दयानन्द सरस्वती जी ने अपने वेदभाष्यों और उ० ४।१३३ के भाष्य में इसे व्यवहारार्थक भी माना है। यास्क का भी यही मत है (देखो महर्षि दयानन्द और देवताशब्द का अर्थ

१३-१८)। अतः 'पाणिनाऽग्निं परिसमूहति' का आन्तरिक भाव यह हुआ—'अपने व्यवहार से ब्रह्मचारी वेदज्ञान, अध्यात्मज्ञान और यज्ञकर्म रूप अग्नि को एकत्रित कर प्रदीप्त करता रहे।' **परिसमूहति**—परि+सम्+√ऊह्+लट् प्रथम पु० एक व०। भाष्यकारों ने इस का अर्थ १. 'संधुक्षण—तेज करना, प्रचण्ड करना, जगाना' किया है। आप्टे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में २. 'चारों ओर जल से छिड़कना' विको० में '३. इकट्ठा करना, ४. जमा करना', शब्दकोको० में '५. एकत्र करना, ६ यज्ञाग्नि में समिधा डालना, ७. यज्ञ में अग्नि के चारों ओर गिरे हुए तृण आदि को आग में डालना, ८. यज्ञाग्नि के चारों ओर जल से मार्जन करना' किये हैं। यहां पर सूत्र० ५१ की दृष्टि में अर्थ संख्या २, ६ और ८ समत्र नहीं। तीव्र अग्नि को जल से छिड़कना उस के वेग को मन्द करने के लिये होता है। समिधाएं डालते ही जलसेचन अनावश्यक है। वैसे भी इस का विधान आगे सूत्र० ५४ में किया गया है। 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि से जलप्रसेचन का पूरा विधान न होने से यह भी अभिप्रेत नहीं है। अर्थ स० ७ में 'परिसमूहति' के साथ कर्म और 'अग्नि में सप्तमी विभक्ति आनी चाहिए थी। अतः प्रकरण में शेष अर्थ ही अभीष्ट हैं। सच० ने 'इकट्ठा करना' अर्थ ग्रहण किया है।

५३. सुश्रवः—शोभनं श्रवो यस्य स। सम्बोधन एक व०। श्रव निघ० २।१०।४ व में अन्न का और २।१०।२६ में धन का वाचक माना गया है। विको० ने 'तीव्र गति और धारा' अर्थ भी दिए हैं। उत्तम धन, कीर्ति और कर्मों वाला। सौश्रवसम्—सुश्रवाश्रवो सौश्रवस तम्। सुश्रवस् और सौश्रवस—दोनों का एक ही अर्थ है। जयराम लिखते हैं कि "मेरे गुरु को सुश्रवस् बनाओ। उन का शिष्य होने से मैं 'सौश्रवस' हो ही जाऊंगा।" यह भाव ठीक नहीं क्यों कि इस में गुरु को पहले से असुश्रवस् समझने की भावना अवगत होती है। निधिपाः, निधिपः—निधि कोष पाति रक्षतीति। वेदस्य—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ब्राह्मणों में 'ब्रह्म, सविता, ये लोक, वाक् और त्रयीविद्या' को 'वेद' कहा है। 'यज्ञ, भूर्भुव: स्व,

सत्य' आदि को 'त्रयीविद्या' नाम दिया गया है। इन सब की रक्षा की भावना गौण रूप से और ऋग्यजुःसामाथर्ववेदों की प्रमुख रूप से अभिप्रेत हैं। मनुष्याणाम्—मनुष्यों में, अथवा मनुष्यों के लिए निर्मित (वेद का)। जयराम 'और मनुष्यों का भी रक्षक' अर्थ लेते हैं। देवानाम्—जयराम—दीव्यन्ति प्रकाशयन्त इति देवा अंगानि इन्द्रादयो वा। शरीर के अंग अथवा इन्द्र आदि देवता। परन्तु प्रकरण में 'विद्वान् अथवा सूर्य आदि भौतिक पदार्थ' अर्थ ही संगत होते हैं। यज्ञस्य—जयराम—वेद, विष्णु।

(ii) अग्ने सुश्रवः—इस मन्त्र के उत्तरार्ध का संस्कारचन्द्रिका का अर्थ यह है—" हे (अग्ने) भौतिक अग्ने! (देवानाम्) जल आदि देवताओं के बीच में (त्वम्) तू (यज्ञस्य) यज्ञ हवनादि क्रिया और शिल्प विद्या आदि के (निधिपा) कोष का रक्षक (असि) है (एवम्, अहम्) ऐसे ही मैं (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच में (वेदस्य) वेदविद्याज्ञान सम्बन्धी उस विद्या के (निधिपा) कोश का स्वामी, ईश्वर करे कि (भूयासम) होऊँ।" पृ० ४३३।

अग्निपरिसमूहन में विनियुक्त मन्त्र

(iii) हरिहर आचार्य लिखते हैं कि सूसं० ५२ के अग्निसन्धुक्षण में पांच मन्त्रों का प्रयोग होता है और कुछ आचार्यों के मत में तीन मन्त्रों का। वे तीन मन्त्र सूसं० ५३ में (१) 'अग्ने···मा कुरु,' (२) 'यथा त्वमग्ने सुश्रवः·······सौश्रवसं कुरु' और (३) 'यथात्वमग्ने देवानाम्······· भूयासम्'। जो आचार्य पांच मन्त्र मानते हैं वे इस मन्त्र के भाग ऐसा करते प्रतीत होते हैं—१. अग्ने···कुरु। २. यथा···सुश्रवा असि। ३. एवं······ सौश्रवसं कुरु। ४. यथा त्वमग्ने···निधिपा असि। ५. एवमहं···भूयासम्।

५४. प्रदक्षिणम्—अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए। पर्युक्ष्य—परि+ √उक्ष्+ल्यप्। सींच कर, छिड़क कर। इस से अग्नि का वेग कुछ कम हो जाता है। यह क्रिया शान्ति की प्रतीक है। ब्रह्मचारी ज्ञान और शक्ति के

प्रदीप्त हो कर भी शान्तचित्त रहे। समिधम्—गदाधर आचार्य सूत्र० ५१ में भी तीन समिधाओं का प्रक्षेप मानते हैं।

५५ आहार्षम्—आ+√हृ+लुङ् प्रथम पु० एक व०। आहृ—लाना, देना। जातवेदसे—च०—ज्ञान देने वाला ईश्वर। गदाधर—जातान् जानान् वेत्तीति जातवेदास्तस्मै। समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि को जानने वाला। ब्राह्मणों में यह पद 'प्राण, वायु, समस्त उत्पन्न वस्तुएं' का वाचक माना गया है। ऋ० ३।२६।७ में अग्नि जन्म से ही 'जातवेदस्' है। वेद में यह 'अग्नि' के विशेषण के रूप में आया है। नि० ७।१६ में कहा गया है कि उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला, जिस को उत्पन्न प्राणी जानते हैं, समस्त पदार्थों में विद्यमान, जातवित्त जातधन, जातविद्य या जातप्रज्ञान होने से ही जातवेदा होता है। दस० ने इसे 'परमात्मा' का वाचक माना है। अग्ने—यह सम्बोधन प्रयोग की शैली मात्र है। यहां प्रथमान्त रूप ही अभीष्ट है, सम्बोधन नहीं। मेधया—मेधते सगच्छते सर्वमस्याम्। अष्टाध्यायी० १।५।२। √मेधृ सगमे+अ। यहां पर धातुपाठ में 'मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयो। मेधृ सगमे च। (मिथृ मेथृ मेधाहिंसयोरित्येके। मिधृ मेधृ इत्यन्ये।)' पाठ है। यहां पर कोष्ठकों में प्रदत्त अश सिद्धा० (बालमनोरमा) में नहीं है। इस में 'मेधृ' पाठ अनावश्यक है, क्यों कि यह धातु पहले ही पढ़ी जा चुकी है। शेष में 'च' के प्रयोग से पहली धातुओं के अर्थ मेधा और हिंसन भी सगत होते हैं। अत. मेधृ के अर्थ मेधा, हिंसन और सगम होते हैं। मेधा में अज्ञान की हिंसा और ज्ञान का सगम (=प्राप्ति, मेल) होता है। गदाधर—अतीतादिधारणवती बुद्धि। प्रजया—सामान्यतः इस का अर्थ सन्तान होता है। ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा का व्रत ले रहा है, सन्तानोत्पत्ति का नहीं। अत यह अर्थ प्रकरण में असगत है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस के अर्थ 'विश्वज्योति, इषः, भूतानि, बर्हि, शस्त्रम्, उक्थानि' भी दिए हैं। अत. यहां पर विश्व ज्योति, अन्न आदि अर्थ अभिप्रेत हैं। पशुभिः—पशुओं—गाय, बैल, घोड़े आदि से। यद्यपि गुरुकुल में इन तीनों पशुओं का परम उपयोग था और वे

वहां पाले जाते थे, परन्तु वे ब्रह्मचारी के अपने धन नहीं होते थे। अतः यह अर्थ भी प्रकरण में विशेष संगत नहीं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पशवः' के अर्थ—'अग्नि, सविता, दैवी विश्, गव्य, घृतश्च्युतः, हविः, श्री, यश, शान्ति, रस, पुष्टि, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, प्राण, वाज, अन्न, धान, गृह, आत्मा, यज्ञ, छन्दांसि और वपुः' आदि दिए गए हैं। इन में से दैवी विश् (तु० क० दैवी सम्पत्—गीता १६।१–३), शान्ति, पुष्टि, यज्ञ' आदि सामान्य रूप से और 'प्रजापति' की कल्याणी तनू' विशेष रूप से संगत होते हैं। कठोपनिषद् १।२।१–२ में सांसारिक सुखों को प्रेयः और पारलौकिक या पारमार्थिक सुख को श्रेयः कहा है। यही प्रजापति की कल्याणी तनू है। अतः 'पशुभिः' का अर्थ कल्याण और शान्ति किया जा सकता है। य०४०। ११, १४ के अनुसार दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति ही वास्तविक कल्याण प्रदान करती है। प्रकृत मन्त्र में आयु आदि से प्रेयः और पशुभिः से श्रेयः की कामना की गई है।

(iii) जीवपुत्राः—जीवन्तः पुत्रा यस्य सः। दीर्घजीवी पुत्रों वाला। इस पद का संहिताओं का प्रयोग इसी अर्थ की ओर संकेत करता है—तु०क० 'जीवपुत्रा पतिलोके वि राज प्रजां पश्यन्ती सुमनस्यमाना' ॥ खि० २।११।३। तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥ अथर्व १२।३।३५। वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः ॥ ऋ० १०।३६।६। 'जीव' पद ऋ० १।६८।२ में अग्नि का विशेषण है। जो 'अनिश' है; ऋ० १।११३।१६ में 'असुः' का विशेषण है। ऋ० ५।४४।५ में मेधावी, विद्वान् का द्योतक प्रतीत होता है (देखो दयानन्दभाष्य)। अथर्व० १६।७०।१ में यह सूर्य, इन्द्र और देवताओं का विशेषण है। अथर्व० १४।२।४४ में यह निष्पाप यशस्वी युवक के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः यह पद संहिताओं में जीव, प्राणिमात्र और जीवित के अर्थ में आया है। अतः भाष्यकारों के उपरोक्त अर्थ के साथ जीवपुत्र का अर्थ—गतिशील, बुद्धिमान् और वंश के समुन्नायक (तु० क० स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्) का पुत्र' अर्थात् 'परम

गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी' किया जा सकता है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारी की 'मेधावी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद और अनिराकरिष्णु' होने की प्रार्थना से होती है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सदृश होना चाहता है। **अनिराकरिष्णुः**—जयराम—गुरु द्वारा बताये गये धर्म आदि को न भूलने वाला। सच० किसी का निरस्कार न करने वाला। यह पद न *निराकरिष्णु (निर्+आ+√कृ+इष्णुच्)* से बनता है। निराकरण के अर्थ शब्दकोषों० मे "(१) शमन, (२) निवारण, (३) खण्डन, (४) देश निर्वासन, (५) तिरस्कार, (६) मुख्य यज्ञीय कर्मों की अवहेलना' दिये गये हैं। इन में छठा और तीसरा अर्थ भी उपरोक्त अर्थों के साथ प्रकरण म उपयोगी हैं। **ब्रह्मवर्चसी**—सच०—ब्रह्मसम्बन्धी तेज वाला अर्थात् आत्मिक बल वाला। जयराम—याज्ञनादितेजोयुक्त। प्रकरण मे ब्रह्म का वेद अर्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अत वेदज्ञान के तेज से युक्त'। **अन्नादः**—अन्नमत्तीत्यन्नाद। समस्त भोग्य पदार्थ 'अन्न' होते हैं क्यों कि 'भोगना' 'खाने' के भाव का ही विस्तार है इसी लिए *ब्राह्मणों मे 'अन्न' के अर्थ* शान्ति, पशु, श्री प्राण, वाण, सप्त सम्यक, दधि मधु घृत, समस्त भूतों की आत्मा और रेतः आदि दिए गए हैं। 'अन्न' को यहा 'वैश्वदेव' भी कहा गया है। देखो वैको० पृ० ३०—३१। अत यहा 'समस्त भोग्य पदार्थों का भोक्ता' अर्थ अभिप्रेत है। **स्वाहा** गदाधर—सुहुतमस्तु। यह सु+आ+आह से बना है—सु आर से सुन्दर कथन। इस मन्त्र में कुछ प्रार्थनाएं हैं। यहा पर उन प्रार्थनाओं की सफलता की कामना व्यक्त की गई है। वेदभाष्यों मे स्वा० दयानन्द सरस्वती के अर्थ और वैदिक कोष मे स्वाहाकार क अर्थ भी *अवलोकनीय हैं। मघदूत ४७ की प्रमोदिनी टिप्पणियों* मे पृ० ८१ पर पादटिप्पणी भी देखें।

५६. दूसरी और तीसरी समिधाओं को डालते समय मन्त्र सं० **५५** को प्रत्येक वार पढ़ना होता है।

५७ एषा ते—समिधाधान मे 'अग्नये समिधमाहार्षम्' के स्थानपर

'एषा ते' मन्त्र से समिधा दे। अथवा 'अग्नये समिधम्' और 'एषा ते' दोनों मन्त्रों को मिला कर पढ़े।

एषा ते मन्त्र और उस का अर्थ

(ii) 'एषा ते' मन्त्र यह है—

"एषा ते अग्ने समित् तया वर्द्धस्व चाच प्यायस्व।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥
अग्ने वाजजिद् वाजन्त्वा ससृवा ँ सं वाजजित सम्मार्ज्मि॥ य० २।१४

(iii) इस का अर्थ यह है—

[अग्ने] हे अग्नि [एषा] यह [समित्] समिधा [ते] तुम्हारे लिए (है)। [तया] उस से [वर्धस्व] प्रदीप्त हो [च च] और [आप्यायस्व] (मुझ ब्रह्मचारी को) बढ़ाओ। [च] और [वयम्] हम [वर्धिषीमहि] वृद्धि को प्राप्त करें [च] और [आ] सब ओर से [प्यासिषीमहि] (दूसरों को) बढ़ा सकें। [अग्ने] हे अग्नि [वाजजित्] ज्ञानसम्पन्न हुआ (मैं) [वाजम्] शक्तिपुंज [ससृवांसम्] गतिशील [वाजजितम्] अन्न आदि के उत्पादक [त्वा] तुम को [सम्मार्ज्मि] प्रदीप्त करता हूं।

समिधाधान का भाव

(iv) भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार मैं ज्ञान से चमक कर लोक का कल्याण कर सकूं। विविध पदार्थों के ज्ञान के लिए शक्ति, गति और उत्पादन के परम साधन अग्नि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग कर सकूं।

(v) समिधाधान के दोनों मन्त्रों में अग्नि परमेश्वर की प्रतीक है। परमेश्वर ही ब्रह्मचारी की समस्त कामनाओं को पूरा कर सकता है। भौतिक अग्नि नहीं। प्यायस्व—√प्याय्+लोट् मध्यम पु० एक व०। बढ़ाना। वर्धिषीमहि—√वृध् बढ़ना+आशीर्लिङ् उत्तम पु० बहु व०। प्यासि-

पीमहि—यह √'प्यै' से आशीर्लिङ् का रूप है। **वाजजित्**—वाज के अर्थ पहले दिए जा चुके हैं। जित् जीतने वाला। अतः समर्थ, सम्पन्न। अग्नि के पक्ष में—अन्न आदि के अभाव को जीतने वाला=अन्न आदि से समृद्ध करने वाला, अत अन्न आदि का उत्पादक। **ससृवांसम्**— √सृ जाना क्वसु+पुल्लिंग द्वितीया एक व०। गतिशील। **सम्मार्ज्मि**—साफ करता हू, प्रदीप्त करता हू।

जलसेचन

५८ **पूर्ववत्**—पहले के समान, जैसा ऊपर सू० ५२ और ५४ में बताया है। इस परिसमूहन (=अग्नि को एकत्र कर प्रज्वलित करना) और पर्युक्षण (अग्नि को जल से छिड़कना) के एक साथ वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहा पर यज्ञवेदी के चारों ओर 'अदितेऽनुमन्यस्व (पूर्व में)' 'अनुमतेऽनुमन्यस्व (पश्चिम में)' 'सरस्वत्यनुमन्यस्व (उत्तर में)' और "देव सवितः *प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं न पुनातु वाचस्पतिर्वाचं न: स्वदतु ॥* (चारों ओर)" से जलप्रसेचन अभीष्ट हो, अग्नि पर जलसिंचन नहीं। गदाधर के लेख 'पर्युक्षणं अग्ने सर्वतो जलसेकः' का भी यही भाव है। क्यों कि अग्नि को प्रदीप्त करते ही उसे शान्त करना कुछ कम समझ में आता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परिसमूहन और जलप्रसेचन के एक साथ करने से 'बढे हुए उन्नत पुरुष को उन्नति के साथ-साथ शान्ति को धारण करना परम आवश्यक है' यह भाव निकलता है। इस जलप्रसेचन का विधान स्वा० दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में किया है।

हाथ तपा कर अंगों के स्पर्श का लक्ष्य

५९. **प्रतप्य**—प्र+√तप्+ल्यप्। **विमृष्टे**—वि+√मृश्+लट् प्रथम पु० एक व०। मलता है। इस कार्य को करने से यज्ञाग्नि से उठती हुई आहुतियों में डाले हुए द्रव्यों के परमाणुओं से समृद्ध और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वायुओं का विशेष सपर्क प्राप्त होता है और वह चित्त को

प्रसन्न और मुख को कान्तिमय कर देता है। यज्ञ में जो पदार्थ डाले जाते हैं वे सुगन्धयुक्त और पौष्टिक तो होते ही हैं साथ ही विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के उत्पादक भी होते हैं। विस्तार के लिये डा० सत्यप्रकाश की पुस्तक 'अग्निहोत्र' देखें। यहां पर लोक में हाथों पर आहुतियों के पश्चात् जल में डाली हुई घृत की बूंदों को मलने की प्रथा देखने में आती है।

६०. तनूपाः—तनूं पातीति तनूपाः। ऐ० २।४ के अनुसार प्राण 'तनूनपात्' है क्यों कि वह शरीर की रक्षा करता है। श० ३।५।४२ में 'रेतस् (=वीर्य)' को 'तनूनपात्' कहा है। शरीर की स्थिति वीर्य से ही होती है। 'तनूनपात्' 'अग्नि' का प्रसिद्ध नाम है। उपर अग्नि के अर्थों में 'प्राण' और 'रेतस्' भी मिलते हैं। अतः प्राण और रेतस् की प्रतीक अग्नि से शरीर की रक्षा की प्रार्थना की गई है। आयुर्दाः—आयुः ददातीति। ईयते प्राप्यते यत्तदायुः। जीवनं वा। (दउउ० २।११८) अथवा, एति प्राप्नोति सर्वानित्यायु-र्जीवनकालः (दउउ० १।२)। दोनों स्थलों पर दोनों ही व्याख्यान संभव हैं, केवल प्रत्यय का भेद है। आयुःपद गतिशील काल का द्योतक है। इसी लिए इस के अर्थों में 'संवत्सर, यज्ञ, लोक और अग्नि का भी ग्रहण किया गया है। अग्नि गतिप्रदान करती है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह समय (=संवत्सर) का विधान करती है—तु० क० 'ये द्वे कालं विधत्तः।' अभिज्ञानशाकुन्तल १।१। वर्चोदाः—अग्नि वर्चस्=तेज का कोश है, यह मुख्यत है। तन्वाः—तनोः। शरीर का अर्थात् शरीर में। ऊनम्—कमी। आपृण—आ+√पृण् प्रसन्न करना, शान्त करना+लोट् मध्यम पु० एक व०। (कमी को) शान्त कर दो, (कमी को पूरा कर के) प्रसन्न करो। अतः अनुवाद में 'पूरा करो' अर्थ दिया गया है। इसे √पृ पूरा करना से भी लिया जा सकता है।

(ii) वेद में अग्नि को अंगिरा कहा है। ऋ० १०।६७।२ में आंगि-रस ऋत के प्रशंसक, सरलता के धारक, सुपुत्र, असुर के वीर, विद्वत्पदप्राप्त और यज्ञ के तेज को श्रेष्ठ मानने वाले, ऋ० ३।५३।७ में धनदायक और

आयुवर्धक, ऋ० ६।६५।५ में गो (=वाणी=ज्ञान) के यशज और य० ३४।१७ में पदज्ञ और साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले कहे गए हैं। ऐसे व्यक्ति ही राष्ट्र को और समाज को प्राण और आयु देते हैं और उन की कमी दूर करते हैं। अत यहा पर अङ्गनावृत्ति से ब्रह्मचारी और उपस्थित विद्वानों और सामान्य जनता को अपने अपने अनुरूप भावनाए ग्रहण करने का सकेत है।

६१. देवी—देव-पद का स्त्रीलिंग रूप। ऊपर सूम० ३३ में देवपद देखें। सरस्वती—सामान्यत. यह 'विद्या' की देवी मानी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ वाक्, जिह्वा, गौ, अमावास्या, योषा, पुष्टि आदि पाये जाते है। ऋग्वेद में सरस्वती को पावक, ज्ञान सम्पन्न, सूनृतों की प्रेरक, बुद्धियों को चिताने वाली कहा है—

'पावका न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसु ॥
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति'[१] ॥'

अत वैदिक सम्प्रदाय में यह विद्या, ज्ञान और यज्ञकर्म आदि की द्योतक है (ऋ० ६।६१, १०।१४१।५ आदि भी देखें)। अश्विनौ—ये युगल देवता हैं। ऋग्वेद में ये इन्द्र, अग्नि और सोम के पश्चात् आते हैं। इन सूक्तों में बहुत से चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। वस्तुत कोई एक अर्थ या दृश्य आदि इन के समस्त मन्त्रों की सगति नहीं लगा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अनेक अर्थ दिए गए हैं। शतपथब्राह्मण ४।१। ५।१६ में अग्नि और आदित्य से युक्त पृथिवी और द्युलोक को पुष्करस्रजौ अश्विनौ कहा है। इस पद के अन्य अर्थो में श्रोत्र, नासिका, अध्वर्यु, देव भिषज् भी आते हैं। श्रीमैक्डोनल इन्हें प्रकाश के देवता मानते हैं और इस

१. ऋ० १।३।१०—१२

पद की व्युत्पत्ति 'अश्व + इन्'—घोड़े वाला देते हैं। यास्क (नि० १२।१) के कथनानुसार कुछ आचार्य इन्हें अहोरात्र, कुछ सूर्याचन्द्रमसौ और कुछ पुण्य कर्म करने वाले दो राजा मानते हैं। प्रकरण में इन में से कोई अर्थ संगत नहीं होता है। द्यावापृथिवी आदि जड़ वस्तुएं चेतन ब्रह्मचारी को मेधा प्रदान करने में समर्थ प्रतीत नहीं होतीं। अध्वर्यु के अर्थ मन,[1] चक्षु,[2] और प्राण, उदान[3] दिए गए हैं। मन और चक्षु ज्ञानेन्द्रिय हैं। ये विषयों का साक्षात्कार कर मानव के ज्ञान और उस के द्वारा मेधा को बढ़ाते हैं। भाव यह है कि मन और चक्षु से विषयों का ज्ञान यथार्थ हो और वह ब्रह्मचारी के स्वभाव पर गहरा प्रभाव डाल सके।

(iii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्विनौ के अनेकविध अर्थों में 'अध्यापक और उपदेशक' अर्थ भी दिया है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक संगत है। उपनयन के समय यदि बालक अध्यापक और उपदेशक से ज्ञान और स्मरणशक्ति बढ़ाने के उपायों—योग आदि के निरन्तर उपदेश की प्रार्थना करे तो उपयुक्त ही है। अश्विन्-शब्द √अश् व्याप्तौ से बनता है और अध्यापक तथा उपदेशक का वाचक बन जाता है।

(iv) हठयोग के षट्कमल और कुण्डलिनी के सिद्धान्तों की दृष्टि में अश्विनौ को प्राण और अपान भी माना जा सकता है। दस० ने 'इमं मे गंगे यमुने' आदि मन्त्रों में हठयोग का दर्शन किया है। देखो ऋभाभू० पृ० ३३६। पुष्करस्रजौ—श० ७।४।१।१३ के अनुसार अपस् के रस को ऊपर कर के उस को पुरस्तत् रक्षक बनाना 'पुष्कर' है। अपस् के अर्थ 'प्राण, अमृत, शान्ति, प्रतिष्ठा, श्रद्धा, यज्ञ, सर्वे देवाः' आदि हैं। उधर पुष्करपर्णम् (पुष्कर का पत्ता) के अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् भी हैं। अतः पुष्करस्रजौ का अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् से सम्पन्न व्यक्ति हैं। सं० का 'कमल की मालाओं से सजे हुए' अर्थ बहुत शोभन नहीं है।

---

१. श० १।४।१।२१ २. कौ० १७।७ ३. श० ५।५।१।११

६२. **अंगान्यालभ्य जपति**—यह अंगस्पर्श पारस्करीय नहीं है, परन्तु इन सूत्रों में यह अंश परिशिष्ट रूप में ग्रहण किया गया है और इसी लिये कोष्ठकों में रक्खा गया है। पारस्करीय शाखा में यह रूप से स्वीकृत हुआ यह जानना सम्भव नहीं जान पड़ता। अन्य सूत्रकारों ने इस का विधान माना है। दस० ने यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य दिया है। यथा ॐ "वाक् म आप्यायताम्। ॐ प्राणश्च म आप्यायताम्। ॐ चक्षुश्च म आप्यायताम्। ॐ श्रोत्र च म आप्यायताम्। ॐ यशो बल च म आप्यायताम् ॥" जयराम ने भी 'तत्र वाक् च म आप्यायतामिति क्रिया विपरिणाम कुर्यात्' लिख कर दस० के समान प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य की योजना का विधान माना है।

(11) **आलभ्य**—आ+√लभ्+ल्यप्। चारों ओर से प्राप्त कर के =स्पर्श कर के। इस धातु के अर्थ में कालान्तर मे परिवर्तन हो गया और आ+√लभ् हिंसा अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। तु० क० सुरभितनया लम्भजा रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघ० १।४६। इस अर्थपरिवर्तन के कारण अक्षय पशुओं का वध कर उन्हें यज्ञों मे डालना प्रारम्भ हुआ। वैदिक विषयों और तत्सम्बन्धी स्थलों पर आ+√लभ् का पूर्वोक्त मूल अर्थ ही लगाना उचित प्रतीत होता है। **जपति**—तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी विषय के भाव या अर्थ को मन में विचारना, धारण करना ही जप है। अत मन ही मन (—उपांशु या मौन रूप में) किसी विषय या मन्त्र आदि का पुन पुन उच्चारण करना जप नहीं है। यहा पर 'वाक् च म आप्यायन्ताम्' आदि के जप मे क्रिया के साथ 'वाक्' आदि की वृद्धि की भावना भी मन में धारण करनी अभीष्ट है।

तिलक लगाना

६३. **त्र्यायुषमिति**—भाष्यकारों के मत में 'प्रतिमन्त्रम्' का अर्थ 'त्र्यायुषम्' के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद से एक एक क्रिया करे। 'त्र्यायुष जमदग्ने' से ललाट पर, 'कश्यपस्य त्र्यायुषम्' से ग्रीवा में, 'यद्देवेषु त्र्यायुषम्'

से दाहिने कन्धे पर (अथवा दोनों बाहुओं के मूल में–शुकदेव) और 'तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्, से हृदय पर राख से 'त्रिपुण्ड्र तिलक' लगाए। परन्तु यदि विधान-कर्त्ता का यही अभिप्राय होता तो वे प्रतिपादम्' पद का प्रयोग करते। अतः सम्भव है कि उन्हें यहां चार मन्त्र अभिप्रेत हों। जिन की परम्परा अब विस्मृत हो गई है। इन में से दो काण्व यजुर्वेद संहिता में प्राप्त 'येन धाता बृहस्पते-रिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय॥ दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे। सुप्रजास्त्वाय चाथो अथो जीव शरदः शतम्'॥ (३।७५–७६) और एक माध्यन्दिन यजुर्वेद संहिता का ३।६३– 'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिँसीः। निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥' हो सकते हैं। कर्क आदि सभी भाष्यकारों का विचार है कि **अंगालम्भन और त्र्यायुषतिलककरण पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है** और इसी लिए उन्हों ने इस का विधान नहीं किया है। इस विधि में ये दोनों प्रयोग परम्परा से शिष्टों में प्रचलित होने से अन्य ग्रन्थों से ले कर यहां सम्मिलत कर दिए गए हैं।

त्र्यायुषं जमदग्नेः का अर्थ

(ii) इन मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार है—

[जमदग्नेः] परम गतिशील जनों का [त्र्यायुषम्] विद्या, बुद्धि, और धर्माचरण से प्राप्त शुद्धि, बल और पराक्रम का गुण [कश्यपस्य] कान्तदर्शी अध्यापकों का [त्र्यायुषम्] श्रवण मनन और निदिध्यासन का गुण और [यत्] जो [देवेषु] विद्वानों का [त्र्यायुषम्] चार आश्रमों, चार वर्णों और परोपकार का गुण (है) [तत्] वह [त्र्यायुषम्] तीन प्रकार का गुण [नः] मुझे [अस्तु] प्राप्त हो जाए।

(iii) देवेषु—शतपथब्राह्मण में विद्वानों को 'देव' कहा गया है। त्र्यायुषम्—आयु की व्युत्पत्ति √इ धातु से दी जा चुकी है। जो प्राप्त हो वह आयु है। अतः यह गुण का वाचक है। देखो य० ३।६२ में दय०

का भाष्य। निरिष गुण का व्याख्यान प्रत्येक स्थल पर 'देव' 'जमदग्नि' और 'कश्यप' के अर्थो के अनुरूप करना होगा। विद्वान् आश्रमों और वर्णो के धर्मों का पालन कर के अपने को उन्नत कर राष्ट्र और मानव जाति का उपकार करते हैं—तु० क० यदि दिवृप्रोऽसि सुजातशोऽसि'॥ ऋवे० ५।१६।२।
जमदग्नेः—शतपथ ब्राह्मण में ससार के द्रष्टा और मनन करने वाले को जमदग्नि ऋषि कहा है। वहा इस का अर्थ प्रजापति भी किया गया है। यास्क ने इस का व्याख्यान 'प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा' किया है। 'प्रजमित' के स्थान पर दस० ने 'प्रजवित (य० ३।६२ का भाष्य) और डा० फतहसिंह ने 'प्रयमित' (वैए० २८४) पढ़ा है। तीनों पद क्रमश. √जम् भक्षण करना, √जव् जाना (निघ० २।१४।१०५), √यम् उपरमे (वश में करना आदि) से बनते हैं। अतः दुर्गुणों का नाशक, प्रगतिशील सयमी यज्ञमय पुरुष। ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्र का चक्षु होता है। इस लिए उस का गुण 'विद्या बुद्धि और धर्माचरण से विशिष्ट शुद्धि बल और पराक्रम' होता है।

(IV) कश्यपस्य—तैत्तिरीय आरण्यक में 'कश्यप. पश्यको भवति' कह कर इसे √दृश् से व्युत्पन्न किया है। देखने वाला, अत क्रान्तदर्शी। प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतधारण का है। अत यहा 'अध्यापक' का बोध ही अभिप्रेत है। कश्यप प्रजापति और आदित्य का भी नाम है। इस पद के प्रयोग से 'प्रजापति के सदृश, अखण्ड, सत्य ज्ञान वाला, क्रान्तदर्शी अध्यापक' भाव द्योतित किया गया है। वैए० २२८, दस० य० ३।६२ का भाष्य, ऋभाभू० पृ० ३७१। श्रवण मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य 'कश्यप' या क्रान्त द्रष्टा बन सकता है।

येन धाता मन्त्र का अर्थ—

(II) [धाता] ईश्वर ने [येन] जिस (वेदज्ञान) से [बृहस्पते.] वेदज्ञान के पारगत [च] और [इन्द्रस्य] परमैश्वर्यशाली ब्रह्मचारियों को [आयुषे] गुणप्राप्ति के लिए [अवपत्] प्रवृत्त किया है (श०—बोया है)

[तेन] उस [ब्रह्मणा] वेदज्ञान से [ते] तुम्हारी [जीवनाय] आयु को [जीवातवे] गतिशील बनाने के लिए [वपामि] धारण करता हूं।

(vi) यह काण्वसंहिता का मन्त्र है और माध्यन्दिन में उपलब्ध नहीं होता है। अवपत्—√वप् बोना से लङ् लकार प्रथम पु० एक व०। बोना, स्थापित करना, जमाना, धारण करना, धारण कराना। अतः हिन्दी अनुवाद। तु०क०—'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर ने वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मानव के कल्याण के लिए दिया था। जीवातवे—जीने के लिए। यह√जीव् से तुमर्थ में वैदिक रूप है। जीवनाय—जीवन के लिए। दोनों पदों के प्रयोग से अर्थ में पुनरुक्ति आ जाती है। अतः जीवातवे को गत्यर्थ में लिया गया है। प्राणधारण गति ही है। जीवन= जल=रस=अमृत—इस प्रकार जीवनाय का अर्थ 'रस और अमृत की प्राप्ति के लिए' भी किया जा सकता है।

(vii) दीर्घायुत्वाय मन्त्र का अर्थ

[अथो] और [असौ] वह (मैं) [दीर्घायुत्वाय] चिर काल व्यापी जीवन [बलाय] बल [वर्चसे] तेज [च] और [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी विश्वज्योति की प्राप्ति के लिए [शतम्] सैकड़ों [शरदः] वर्ष [जीव] जी सकूं॥

(viii) सुप्रजास्त्वाय—प्रजा के अर्थ के लिए ऊपर सू० ५५ की टिप्पणियां देखें। शतम्—इसे उपलक्षण लेना उचित होगा। तु० क०—भूयश्च शरदः शतात्। त्र्यायुषं जमदग्नेः मन्त्र के भाष्य में द० ने तीन सौ और उस से भी अधिक दिन के जीवन की कल्पना की है। असौ, जीव—इन दोनों में पुरुष का व्यत्यय अभीष्ट है। प्रकरण के अनुसार इन को उत्तम पुरुष में लिया गया है।

(ix) शिवो नामासि मन्त्र का अर्थ

[ते] तुम्हारा [नाम] नाम [स्वधितिः] अपने ज्ञान से धारण (अथवा—

प्रसन्न) करने वाला [पिता] रक्षक (और) [शिवः] कल्याणकारी [असि] है। [नमः] (मेरा) अध्ययन-यज्ञ [ते] तुम्हारे लिए [अस्तु] हो। [मा] मुझे [मा हिंसीः] पीड़ित न करो (अर्थात्—दुर्बोध न हो)। [आयुषे] गतिशील जीवन [अन्नाद्याय] ज्ञान और शान्ति आदि भोगों के उपभोग [प्रजननाय] (खोजों द्वारा) नई-नई सृष्टि [रायस्पोषाय] विद्या आदि धन की समृद्धि रूप महिमा [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी विश्वज्योति (और) [सुवीर्याय] कल्याणकारिणी दाहक शक्ति (की प्राप्ति) के लिए [निवर्तयामि] पूर्ण रूप से (ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक रूप त्रिपुण्ड्र तिलक) लगाता हू।

(x) नाम—√नम् से। पर्यवसान, स्वरूप की पूर्णता। शिवः—श० ६।७।३।१५ में इसे √शम् शान्त करना से, उणाद० १।१५३ में √शी सोना से (तु० क० दस० भाष्य) और संशकौका० में √शो से व्युत्पन्न किया गया है। इसे 'शि' से 'वन्' लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। कतिपय विद्वान् इस पद को अनार्य भाषाओं से आया हुआ मानते हैं। पौराणिक शिव को भी वे अनार्य देवता मानते हैं। परन्तु संहिताओं में इस पद के प्रचुर प्रयोग, शिवपूजा का बीज त्र्यम्बक=नारिकेल में होने से[1] यह विचार समीचीन नहीं मालूम पड़ता। असि—अस्ति। पुरुषव्यत्यय। स्वधितिः—निघ० ३।२०।१६ में इसे वज्रनामों में पढ़ा गया है। भाष्यकारों ने सामान्यत यही अर्थ ग्रहण किया है। दस० ने ऋ० १।१६२।१ में स्वेन धृतौ (द्विवचन) और ऋ० १।१६२।१८ में विस्तृत् अर्थ किए हैं। ऋ० ६।६६।६ में स्वधितिर्वनानाम् का प्रयोग गीता के 'वेदाना सामवेदोऽस्मि' (१०।२२) के समान हुआ है। अत यहा यह किसी वृक्ष (अश्वत्थ?) (तु० क० अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्—गी० १०।२६) का वाचक है। ऋ० १०।६२।१५ मे इसे इन्द्र का विशेषण मानना समीचीन प्रतीत होता है। ऋ० ३।२।१०, ३।८।६, और ५।७।८ में यह 'ज्ञान—वेदज्ञान' का वाचक प्रतीत होता है।

---

१. देखो कोकोनट इज दी ओरिजिन ऑफ शिवकल्ट, एस० के० गुप्त, आइओका० १६४८ (संक्षेप)।

(xi) पदपाठकारों ने इस का स्वरूप स्वऽधितिः माना है। धिति-शब्द √धि धारण करना अथवा √धिन्व् प्रसन्न करना से व्युत्पन्न होता है। (देखो विको० पृ० ५१६ स्तम्भ २, धित और धिति पद)। अतः इस पद का प्रकरण की दृष्टि में अपने ज्ञान से धारण और प्रसन्न करने वाला अर्थ किया गया है। अन्य अर्थ प्रकरण में पंगु-से प्रतीत होते हैं। **नमः**—इस का अर्थ 'नमस्ते', 'प्रणाम' भी किया जा सकता है। श० २।४।२।२४; ७।४।१।३० में इस का अर्थ 'यज्ञ' दिया गया है। अतः यहां अध्यापन-यज्ञ अर्थ ग्रहण किया गया है। **हिंसीः**—दुर्बोध वस्तु पीडित करने वाली होती है। भाव यह है कि मेरा अध्ययन का परिश्रम सफल हो। यह पद √हिंस् से लुङ् मध्यम पु० एक व० का रूप है। 'मा' के प्रयोग के कारण 'अट्' का लोप हो गया है। **निवर्तयामि**—मन्त्र का विनियोग त्रिपुण्ड्र लगाने में किया गया है। अतः अनुवाद में यही भाव ग्रहण किया गया है।

त्रिपुण्ड्र लगाना अनावश्यक

(xi) त्रिपुण्ड्र को यज्ञोपवीत के समान ही तीन ऋणों आदि का द्योतक चिह्न माना गया है। यदि इस का लक्ष्य यज्ञोपवीत के लक्ष्य से अभिन्न है तो यह कर्म अनावश्यक है। संभवतः इसी कारण पारस्कराचार्य ने इस का विधान नहीं किया है। वैसे भी यह क्रिया वैदिक प्रतीत नहीं होती। **अन्नाद्याय**—तां०१३।९ में अन्न को 'वाज.' और ऐ०५।२७ में 'शान्तिः' कहा गया है। अत्तुं योग्यमाद्यम्—भक्षण, उपभोग के योग्य। **प्रजननाय**—उत्पन्न करने के लिए। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य काल में पुत्र आदि उत्पन्न नहीं करता है। अतः हिन्दी अनुवाद। **रायस्पोषाय**—ब्रह्मचारी का धन विद्या है। उसी की पुष्टि या समृद्धि अभीष्ट है। श० ३।५।२।१२ में 'भूमा' (महिमा) को 'रायस्पोषः' कहा गया है। **सुवीर्याय**—कल्याणकारी वीर्य=शक्ति के लिए। तै० १।७।२।२ में 'अग्नि को वीर्य कहा है। अतः उस में 'दाहक' का भाव निहित है। अतः हिन्दी अनुवाद।

अभिवादन

६४. यहा भाष्यकारों ने अभिवादन का भी विधान माना है। मूल में उस का कोई निर्देश नहीं है।

भिक्षा मांगने की रीति

६५-६७—**भवत्पूर्वाम्**—भाव यह है कि ब्रह्मवर्चस् का इच्छुक भिक्षा मागते समय 'भवान्/भवती भिक्षा ददातु' कहे, क्षात्र तेज का इच्छुक 'भिक्षा भवान्/भवती ददातु' और वैश्यगुणों में कौशल का अभिलाषी 'भिक्षा ददातु भवान्/भवती' का प्रयोग करे। यहा पर भाष्यकारों ने भवति भिक्षा देहि, भिक्षा भवति देहि और भिक्षा देहि भवति का सम्बोधन बताया है। गदाधराचार्य के मत में भिक्षा अपने वर्ण के कुलों से ही मागनी चाहिए। सभवतः वे मानते हैं कि उपरोक्त सम्बोधन से प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी के वर्ण को जान कर अपने वर्ण के ब्रह्मचारी को भिक्षा दे देगा। परन्तु वर्णों का ऐसा वर्गीकरण पीछे का है, वैदिक काल का नहीं है। अत ये प्रयोग ब्रह्मचारी की क्रियाविशेष के ही द्योतक माने जा सकते हैं।

६८-६९. **स्त्रियः**—माता आदि माग पूर्ण करने वाली तीन, छै, बारह या (आवश्यकतानुसार) अनेकों ऐसी स्त्रियों से भिक्षा मागे जो देने में इकार न करें क्यों कि इकार से बालक के मन में क्षोभ होता है। दस० ने माता, पिता, बहन, भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से भिक्षा मागना बताया है।

७० माता कभी भिक्षा के लिये इकार नहीं करती। अत उस से ही सब से पहले मागा जाता है।

७१. **निवेदयित्वा**—मागने पर मिली समस्त भिक्षा को आचार्य को दे कर, उस द्वारा दिए भाग से क्षुधाशान्ति कर वाणी को सयम में रक्खे, कम और सयत पद बोले अथवा मौन रहे (?)। सूत्र० ७२ की दृष्टि में यह

मौन रहना अभीष्ट प्रतीत होता है। कर्काचार्य इस मौन को वैकल्पिक समझते हैं।

वनस्पतियों में जीव

७२. अहिंसन्—नञ्+√हिंस्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०। हिंसा न करते हुए। अर्थात् बिना काटे हुए। प्राचीन भारतीयों के मत में वृक्ष आदि में भी जीव होता है—तु० क०—मनु० १।४६

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥"

वेद में भी वनस्पति का चेतन अग्नि से तादात्म्य कर के इस भावना का सूत्रपात किया गया प्रतीत होता है। (देखो ऋ० १०।११०।१० आदि)। अतः काटने से वृक्षों को पीड़ा पहुंचती है। ब्रह्मचारी अहिंसाप्रमुख यम-नियम आदि का व्रत लेता है। अतः वह वृक्षों को भी कष्ट नहीं पहुंचा सकता है। ऐसी परिस्थिति में सूख कर निर्जीव हो गई शाखा आदि को लाना ही यहां अभीष्ट है। अरण्यात्—समिधाएं जंगल से बीन कर लानी हैं, बस्ती में से मांग कर नहीं। बस्ती में से मांगने में गृहस्थों पर अनावश्यक भार, ब्रह्मचारी में अत्यधिक परनिर्भरता की भावना, जंगल में जाने से वहां का व्यायाम और शुद्ध वायु से वञ्चित रहना आदि दोष हैं। अरण्य[1] √ऋ से व्युत्पन्न होने के कारण ज्ञान का द्योतक है। अतः अरण्य से समिदाहरण में व्यञ्जना से यह अर्थ भी उपलब्ध होता है। **समिधम्**—समिध् से द्वितीया एक व०। समिधः—पा० में०। यह बहुवचन का रूप है। **तस्मिन्**—उसी पूर्व की अग्नि में जिस के समक्ष यज्ञोपवीत धारण की क्रियाएं की गई थीं। **पूर्ववत्**—पहले के समान परिसमूहन, पर्युक्षण और समिधाधान कर के प्रज्वलित अग्नि में यहां के लेखानुसार समिधा दें। अब ब्रह्मचारी बोल सकता है। **आधाय**—आ+√धा+ल्यप्। पं० सुखदेव ने यहां उपनयन की दक्षिणा में एक गाय

---

१. देखो वेमाप० ७।२।

का विधान माना है (—गो० गृ० सू० २।१०।५०) जो नितान्त अप्रासंगिक और अवैदिक है। दक्षिणा ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देने की परिपाटी लक्षित होती है। देखो रघु और कौत्स का आख्यान।

उपनयन के समय किए जाने वाले उपदेशों का प्रयोजन

७३ ये विधान स्वास्थ्य, वीर्यरक्षा[1] तथा क्रियाशीलता की दृष्टि से किए गये हैं। दस० ने संस्कारविधि में इस अवसर पर दिये जाने वाले और भी उपदेश संकलित किए हैं।

७४ ये विधान शरीररक्षा, चरित्र में भद्रता और ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किए गए हैं। दण्डधारण से अपनी और अन्यों की रक्षा सम्भव होती है। अग्निपरिचरण[2] (=हवन) से शारीरिक और आत्मिक शुद्धि होती है। गुरुसेवा से ज्ञान मिलता है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा'। वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति में तीनों ही आवश्यक हैं। भिक्षा से अपना और गुरु का तथा अन्यों का निर्वाह होता है। ये दैनिक कृत्य हैं।

७५. ये विधान चरित्रनिर्माण के लिए किए गए हैं। दुर्गुणों से बचना मनुष्य का प्रमुख कर्त्तव्य है। मानव की प्रवृत्ति निम्नगामी है। ये सब कर्म निम्न हैं। बालक की प्रवृत्ति को उच्च बनाने के लिए इन सब से उसे बचाना आवश्यक है यद्यपि गुरुकुल में आचार्य इन का अभाव उत्पन्न कर सकता है। परन्तु बालक मन में भिक्षाकाल में और एकान्त समय में इन कर्मों का चिन्तन और आचरण कर सकता है। अत ये उपदेश दिए गए हैं। स्वामी शिवानन्द की पुस्तक 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' में इन उपदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। मधु—शराब। मांस—यहां पर पशुओं आदि का

---

१. प० सुखदेव ने 'अक्षारलवण' का अर्थ 'सेंधा नमक' किया है।
२. प० सुखदेव ने इस का भाव यह लिखा है—'जिस अग्नि को स्थापन कर आचार्य उपनयन संस्कार का आरम्भ किए हों उस को सुरक्षित रक्खे और साय प्रात उसी अग्नि में समिध की आहुति प्रदान करे।'

उन के वध द्वारा प्राप्त मांस अभिप्रेत है, ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तम भोजन या पदार्थ नहीं। वेद में मांसभक्षण को बहुत निकृष्ट दृष्टि से देखा गया है। तु० क० 'कृतान्ताय गोघातम्' (य० ३०।१८) तथा 'यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्। रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च' ॥ ऋ० ७।१०४।१०। मांस रजोगुण और तमोगुण का बढ़ाने वाला होने से वर्ज्य माना गया है। मज्जन—भाष्यकारों ने 'छन्ददेवतीर्यत्नान्' का निषेध माना है। शरीररक्षा की दृष्टि से गहरे, तेज़ धार वाले, मगर आदि से व्याप्त जल में स्नान का और अतिशय स्नान का निषेध ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। उपर्यासन—चारपाई आदि। इस के निषेध का प्रयोजन विलासमय जीवन से बचाना प्रतीत होता है। स्त्रीगमन—इस के द्वारा आठ प्रकार के मैथुनों का निषेध अभिप्रेत है। इस का निषेध वीर्यरक्षा के लिए है। स्त्रियों के फेर में पड़ कर मनुष्य उदात्त लक्ष्यों में विफल हो जाता है। इसी लिए उसे नरक का द्वार कहा गया है। सामान्यतः अधिकांश स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तमोगुणी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कन्याओं के लिए पुरुषगमन वर्जित है। उन के लिए उन्हें पथभ्रष्ट और आसक्ति उत्पन्न करने के कारण पुरुष नरक के द्वार हैं। अनृत—झूठ बोलने से पाप में प्रवृत्ति होती है। अदत्तादान—जो वस्तु अपनी नहीं है और दूसरे ने दी नहीं है उस का लेना चोरी कहलाता है। चोरी से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। वह मनुष्य में विकृत वासना उत्पन्न कर उसे कुमार्गगामी कर देती है। इस से बचाने की भावना से ही योगदर्शन में 'अस्तेय' को यमों में रक्खा है। इस उपदेश में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह —इन पांच योगशास्त्र के यमों का मांस, अनृत, अदत्तादान और स्त्रीगमन का निषेध कर विधान किया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि

७३. अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि—जयगमाचार्य के मत में ४८ वर्ष में चारों वेदों का अध्ययनरूप एक ही व्रत अभिप्रेत है। उस में सारे वेदों के मन्त्रों

से आहुति दे कर हवन किया जाता है। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि के निर्धारण में अपने (अर्थात्?) वेद की आहुतियां दी जाती हैं। यावद्ग्रहणम् में एक, दो या सब वेदों का अध्ययन अभिप्रेत है।

(ii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छान्दोग्योपनिषद् ३।१६ की व्याख्या करते हुए ब्रह्मचारियों के तीन विभाग माने हैं[1]—१. वसु—२४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर वेद पढ़ने वाले २. रुद्र—४४ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले और ३. आदित्य—४८ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले। पारस्कर के विधान में बालक जल्दी से जल्दी ८ वर्ष का वेद पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए इस विभाजन में अधिक से अधिक ४० वर्ष माने गये हैं। इस अवस्था में प्रत्येक वेद के लिये १० वर्ष का समय बनता है। सूत्र० ७७ में विकल्प में प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय बता कर उपरोक्त अवधि को बढ़ाया है, अन्यथा यह सूत्र अनावश्यक था। सूत्र० ७८ में इस अवधि को और भी बढ़ाया है। प्रथम विधान परम मेधावियों के लिए है शेष दो विधान अल्पतर और अल्पतम मेधा वालों के लिए हैं। ये अवधियां ब्राह्मण के गुण धारण करने के इच्छुक में तो लागू होती हैं, परन्तु शेष दो—क्षत्रियगुणकामी और वैश्यगुणाभिलाषी में नहीं, क्यों कि उन का उपनयन आठ वर्ष की आयु में नहीं होता है, प्रत्युत ११ और १२ वर्ष की अवस्था में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाध्ययन सब वर्णों के लिए अनिवार्य होने से आठ वर्ष की आयु में सब के लिए ही प्रारम्भ हो जाता हो और जो क्षत्रिय और वैश्य गुणों के भी अभिलाषी होते थे उन की इन गुणों से सम्बन्धित शिक्षा पारस्कराचार्य की निर्धारित आयुओं पर प्रारम्भ होती रही हो। कालान्तर में इस प्रणाली में विकार आया और क्षत्रिय और वैश्य के गुणों के अभिलाषियों का वेदाध्यन

१ इन ऋषि ने अपने वेदभाष्यों में भी अनेक बार वसु, रुद्र और आदित्य के ये ही अर्थ ग्रहण किए हैं। देखो ऋ० १।४५।१, ६४, ३, ११४, १ आदि।

बड़ी आयु में प्रारम्भ होने लगा। इन दोनों वर्णों के गुरोहितुओं के लिए वेदाध्ययन की अवधि अल्पकालीन होने और व्यवसायिक शिक्षा के समक्ष लौकिक दृष्टि से गौण स्थान प्राप्त करने के कारण शनैः शनैः वेदाध्ययन इन दोनों वर्णों में से उठ गया। ब्राह्मणेतर वर्णों के शूद्रपदवाच्य वेद के प्रकाण्ड ज्ञाता ब्राह्मणों के लिए एक समस्या बन जाने स्वाभाविक थे। इन दोनों में अनेकों अवसरों पर संघर्ष हुए होंगे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए शिक्षा के लिए उत्तरदायी ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों के वेदाध्ययन को क्रमशः घटा कर कालान्तर में उसे निःशेष कर दिया होगा। प्रत्यग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का आधार जन्मगत हो जाने से वेदाध्ययन के आयोजित इस ह्रास की प्रगति बढ़ जानी स्वाभाविक थी। पहले सब को ब्राह्मण मान कर उपनयन किए जाने की उपरोक्त कल्पना श० ११।५।४ से पुष्ट होती है। इस ब्राह्मण में केवल ब्राह्मण के उपनयन का विधान है, अन्य वर्णों का नहीं। शतपथ २।५।२।६ और ३।६।३।१ से ज्ञात होता है कि उस काल में मानव जाति का एक वर्गीकरण क्षत्रिय और विश् ही थे। अतः उस काल में ब्राह्मण आदि पद जातिवाचक न हो कर गुणवाचक थे। (ऋग्वे० १०।८।३७ में ब्राह्मणपद का प्रयोग भी देखें।) ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण पद समस्त मानव जाति का द्योतक रहा होगा और उस के लिए विहित नियम सब पर समान रूप में लागू होते रहे होंगे।

(iii) वेदब्रह्मचर्यम्—वेदाय ब्रह्मचर्यम्। वेद पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत।

वस्त्रों और मेखला के भेद का कारण

७९. शाखा०[1]—यजुर्वेद में बहुत से पशुओं को विभिन्न देवताओं से

१. पं० गुरुदेव ने आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१९।६—'वासांसि वसीरन्—काषायं ब्राह्मणो माञ्जिष्ठं क्षत्रियो हारिद्रं वैश्यः' के आधार पर ब्राह्मण के लिए गेरुए, क्षत्रिय के लिए मजीठे और वैश्य के लिए पीले वस्त्रों का विधान माना है।

सम्बद्ध कर के उन के गुणों का वर्णन किया गया है, यह भिन्न बात है कि हम उस वर्णन को ठीक ठीक न समझ पायें। परन्तु शाख और क्षौम आदि के गुणों का कोई वर्णन उपलब्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी उन के गुणों के ज्ञान के आधार पर ही ये सूत्र बने होंगे। इन के परिधान में इन वस्तुओं के गुणों का ध्यान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा होगा जितना विद्यार्थी के अध्ययन के विषय का द्योतन। आपफल भी कला, विज्ञान और वाणिज्य आदि के स्नातकों, प्रत्यक्षस्नातकों तथा गवेषकों की उपाधियों के लिये विभिन्न वस्त्रों का परिधान निर्धारित है। उत्तरीय और मेखला के भेदों के विधान के भी ये ही कारण हैं।

८० ऐणेयम्—कृष्णसार मृग का (चर्म)। य० २४।३६ में एणी का सम्बन्ध सर्पों से बताया गया है। श० ७।४।१।२५ में सब के साथ गतिशील होने के कारण लोकों को, तै० २।२।६।२ में देवों को सर्प कहा गया है। कौ० २७।४ में गौ, वाक् और पृथिवी को सार्पराज्ञी कहा गया है। इन गुणों के आधान को ध्यान में रख कर ही एणी के चर्म का परिधान ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया होगा। परन्तु यह सुस्पष्ट है कि इन परिधानों की प्राप्ति के लिए बहुत से पशुओं का वध आवश्यक रहा होगा। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इस प्रकार का विधान नहीं है। हो सकता है प्रारम्भ में 'ऐणेय' आदि पद गुणों के द्योतक रहे हों, फिर एणी आदि के बालों और तत्पश्चात् उन के चर्म का प्रयोग किया जाने लगा हो। यह स्थिति अज (=अजन्मा, बकरी) के प्रयोग में सुस्पष्ट है।

(11) य० २४।८ में 'एन्य' को 'मैत्र्य' कहा है। 'ऐणेय' को 'एनी' का रूप भी माना जा सकता है यद्यपि 'एणी' पद की उपस्थिति में ऐसा मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मित्र के अर्थों में सब का मित्र, सत्य का उत्पादक, ब्रह्म, बृहस्पति, घोरसंस्पर्श अग्नि, प्राण, वायु, अह, शुक्ल और कृष्ण पक्ष आदि मिलते हैं।

८१. **रौरवम्**[1]—रुरोः इदमिति रौरवम्। य० २४।३९ में रुरु को रौद्र=रुद्र सम्बन्धी कहा गया है। वैदिक कोष में ब्राह्मणग्रन्थों से रुद्र के अर्थों में रुलाने वाला, अग्नि, पशुओं का पति, स्विष्टकृत्, देवों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ, घोर, प्राण, मह आदि दिये हैं। रुद्र के रूपों में भव, ईशान, उग्र, अशनि आदि भी हैं। त्र्यम्बक=नारिकेल[2] से उस का पोषक गुण लक्षित होता है। क्षत्रिय में इसी प्रकार के गुण अभीष्ट हैं।

८२. **आजम्**—अजस्य अजाया वा इदमिति आजम्। य० २४।३२ में 'अज' (बकरा) का सम्बन्ध 'पूषा' से बताया गया है। ब्राह्मणों में **पूषा** के अर्थ शूद्रवर्ण, पोषक, पृथिवी, वायु, पुष्टि, सूर्य, अग्नि, अन्न, पशु, रेवती नक्षत्र, विशां विट्पतिः, प्रजनन, मार्गों का अधिपति, ऐश्वर्य का आदाता, ऐश्वर्य का अधिपति, वृषा, देवानां भागदुघः, अदन्तक आदि दिये गये हैं। गव्यम्—गोः इदं गव्यम्। गाय का। गो+यत्। यजुर्वेद के पशुप्रकरण में अकेले 'गो' पद का प्रयोग नहीं मिला है। इस के पर्यायवाची 'धेनु' का सम्बन्ध य० २४।१३ में अतिच्छन्दस् से बताया गया है। अतिच्छन्दस् के

---

१. रुरु को लाल रंग का बताया गया है (पं० सुखदेव का अनुवाद) संशकोको० ने इसे काला हिरन बताया है। यह विश्वेदेवों के एक गण का नाम भी है। ब्राह्मणग्रन्थों में 'विश्वेदेवाः' के अर्थ 'समस्त देवता, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, इन्द्राग्नी, श्रोत्र, दिशाएं उपद्रव, प्रजापति के पुत्र, वैश्य, विश्, पशु, अश्व, गो, अन्न, सब कुछ' आदि दिये गये हैं। इस से क्षत्रिय में तेज, प्राणवत्ता, सब पर शासन, सब प्रकार के गुण, ऐश्वर्य, गतिशीलता, जागरूकता, व्याप्ति, उग्रता, प्रजापालन आदि गुणों के धारण की भावना प्रकाशित की गई है। वह अपने आप को वैश्य ही समझे। उन से भिन्न नहीं, क्यों कि विश्—समस्त प्रजा—वैश्य है। इस मूलभूत एकता की उपेक्षा से ही आर्य जाति में ऊंच-नीच की भावना उत्पन्न हो कर अनर्थ हुआ है। २. देखो कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) दग दी ओरिजिन ऑफ शिवकल्ट, आइऔकल० १९४८ (सं०)।

अर्थ 'उदर, ऋक्, छन्दों का रस, लोक और वर्ष्म आदि दिए गए हैं। 'गो' शब्द से मिलते हुए 'गोमृग' का सम्बन्ध य० २४।१ और २४।३० में प्रजापति और वायु से तथा गवय का य० २४।२८ में बृहस्पति से सम्बन्ध बताया गया है। प्रजापति के अर्थ 'प्रजापालक, अग्नि इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाक्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भृत, बन्धु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, सोम, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम, सुपर्ण गरुत्मान् मूधा, सदस्य, उद्गाता, उद्गीथ, अथर्वा, सत्य, गार्हपत्य, आत्मा, पुरुष, यजमान, पितर, प्रजनन, सब का धारक, विप्र, क्षत्र, चितति, ये लोक, यह सब कुछ, अतुलनीय, देवों में अन्नाद और वीर्यवान्, अमृत, पूर्ण' आदि, वायु के अर्थ पवन, सब का विवेचक, कामनायुक्त, अनुवत्सर, देव, अन्न, बृहस्पति, पवित्र, इन्द्र, मित्र, यम, यन्ता जातवेदम्, सब कुछ का करने वाला, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, तीनों लोकों में वर्तमान, सविता, सोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, प्राण, उग्र पुरोहित, मह, यश वाक्, देवों की आत्मा, शान्ति और बृहस्पति के अर्थ वाणी का पति, वाणियों का उत्पादक, वायु, प्राण, अपान, चक्षु, द्युम्न (=धन), ब्रह्म, देवों का ब्रह्मा, देवों का उद्गाता, देवों का पुरोहित आदि मिलते हैं। अतः यहां पर पावक, समृद्धिजनक, शान्ति, यात्रा आदि के गुण अभीष्ट हैं।

सब वर्णों की एकता

(ii) उपरोक्त देवताओं के वाचक अर्थों से एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है कि सब वर्णों में अधिकांश गुण समान ही अभिप्रेत हैं। उन में मूलभूत एकता है। उन में भेद किसी एक या अधिक गुणों की ओर प्रवृत्ति के कारण ही किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण आदि पद केवल गुणवाचक ठैरते हैं, जातिविशेषों के द्योतक नहीं। मानवों में जो वर्गीकरण उन के कर्म या व्यवसाय के आधार पर होता या वह ही मूलतः उन का वर्ण रहा हो सकता है।

८३. असति—√अस्+शतृ+सप्तमी एक वचन, नपुंसक०। अपने-अपने वर्ण के लिए नियत कर्मों के अभाव में। प्रधानत्वात्—यहां

पर हेतु में पञ्चमी है। 'गव्य' के सब अजिनों में प्रमुख होने के कारण। इस की प्रमुखता इस के विषय में दिए गए ऊपर के वर्णन से सुस्पष्ट है। इस से सम्बन्धित देवताओं के अर्थों से प्रकाशित गुण सब वर्णों में घट जाते हैं। अतः ऐणेय, रौरव और आज चर्मों के न होने पर 'गव्य' चर्म का प्रयोग किया जा सकता है। यहां पर पारस्कर आचार्य को 'गो' का अर्थ पशुमात्र भी अभिप्रेत हो सकता है, गाय मात्र नहीं। भाष्यकारों ने यह अर्थ भी दिया है कि देवों ने पुरुष के चर्म को गाय पर रख कर उसे पुरुषप्रधान बना दिया है। तु० क०—पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः। पुरुषप्रधानं हि गव्यं चर्म श्रुतौ पठ्यते। तेऽबच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमदधुरिति। —कर्कभाष्य।

८४—८६. संचं० में मेखलाधारण के लाभों में आन्तों के उतरने से रक्षा और शरीर में चुस्ती लाना दिए हैं। पारस्कराचार्य ने ब्राह्मण की मेखला मूंज की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या की और वैश्य की मूर्वा की बताई है। संस्कारकौ० ने क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की मानी है। वहां धनुर्ज्या को मूर्वानिर्मित माना गया है। महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण की मेखला मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष्संज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य की ऊन वा सन की मानी है। (संवि० पृ० ६१ पाटि०)। संचं० में इन वस्तुओं के गुण आयुर्वेद के आधार पर दिए हैं। मुंज को मधुर, कषाय, शीतल, त्रिदोषनाशक और वृष्य, दर्भ को त्रिदोषनाशक, मधुर, कसैला और शीतल बताया है। सन को खट्टा, कसैला, मलगर्भ, रुधिर को गिराने वाला, वमन लाने वाला, वात और कफ का शामक तथा तीव्र अंगों के टूटने को दूर करने वाला कहा गया है। मूर्वा के गुण भी इसी प्रकार से आयुर्वेद के ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। ओषधियों को खाने लगाने और पहनने से रोगों को दूर करने में जो सहायता मिलती है वह सुप्रत्यक्ष। इसी दृष्टि से ये मेखलायें धारण की जाती थीं। उपरोक्त वस्तुओं के गुणों और ब्राह्मण आदि के कर्मों का समन्वय ज्ञातव्य है।

(ii) **मौञ्जी**—मुञ्जस्य इयं मौञ्जी । **मौर्वी**—मूर्वाया इयमिति मौर्वा । प० सुखदेव-रास की । भाष्यकारों ने इसे 'मुर' से व्युत्पन्न किया है । **धनुर्ज्या**—भाष्यकारों ने इसे तान्त की (=स्नायुमयी) या बांस का (वेणुमयी) माना है । दस० ने इसे धनुष् नामक घास बताया है ।

८७ कुशानि—कुश, अश्मन्तक[1] और बल्व[2] भी घासों के नाम हैं । बहुधा कुश और दर्भ को एक ही माना जाता है । ये तीनों क्रमश ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के गुणों के अभिलाषियों के लिये हैं (हरिहराचार्य) ।

दण्डधारण का प्रयोजन और उस के भेद का विवेचन

८८—९०—सच० में दण्डधारण के लाभ शरीररक्षा, मेरुदण्ड का सीधा रखना दिए हैं । पलाश आदि के दण्डों का विधान उन के गुणों की दृष्टि में किया गया है । सच० ने इन के गुण अभिनवनिघण्टु के आधार पर इस प्रकार दिये हैं—पलाश दीपन, बलकर्ता, दस्तावर, गरम कषैला चरपरा, कड़वा, स्निग्ध, व्रण गाले और गुदा के रोगों का नाशक, टूटी हड्डी का जोड़ने वाला, वातादि दोषों, संग्रहणी, बवासीर और कृमियों का नाशक है । बिल्व (या बेल) कषाय, कड़वी, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात और कफ नाशक, बलकारक, लघु उष्ण और पाचक होता है । उदुम्बर या गूलर शीतल, रूक्ष, भारी, मधुर, कषैला, वर्णकारक, कफ, पित्त और रुधिर के विकारों को दूर करने वाला, व्रण का शोधक और रोपक होता है । इस प्रकार इन वृक्षों के दण्डों का धारण कतिपय रोगों का प्रतिरोधक है । सच० का कहना है कि इस दण्डधारण से वनस्पतियों के प्रयोग का ज्ञानसंग्रह भी होता है, परन्तु यह लाभ प्रत्यक्ष नहीं है । विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न वृक्षों के दण्डों का विधान उन के गुणों से समता की दृष्टि में किया जाना स्वाभाविक था । उपरोक्त आयुर्वेदिक गुणवर्णनों से यह साम्य सुव्यक्त नहीं

१.-२. प० सुखदेव ने श्मन्तक पाठ रख कर बेरहुट अर्थ और बल्व का अर्थ कास किया है ।

होता। ऐसा प्रतीत होता है कि मौञ्जी, धनुर्ज्या और मौर्वी तथा पलाश, बैल्व और औदुम्बर पदों का ऐरेय आदि के समान अग्नि, रुद्र और पूषा आदि देवताओं से सम्बन्ध है। इसी के आधार पर ये विधान किए गये हो सकते हैं। ये प्रस्तावित सम्बन्ध मृग्य हैं।

९१. पलाश आदि के गुणों में साम्य होने के कारण कोई भी वर्ण किसी भी वृक्ष का दण्ड धारण कर सकता है।

(ii) अजिन, मेखला और दण्ड के ये वैकल्पिक सूत्र गणसूत्रों से पहले के काल में समस्त वर्णों की एकता और सब के लिए एक जैसे विधान की सत्ता के द्योतक हैं। इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ऐरेय आदि का प्रयोग वर्णभाव की दृष्टि से नहीं किया गया है।

वर्णों के लिए दण्डों के विभिन्न माप का कारण

९२. दण्डों के माप का यह विधान पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है। वह इस में पीछे से मिलाया गया है। संस्कं० ने इस मापभेद को वर्णभेद का द्योतक माना है। वस्तुतः केश-पद उ० ५।३३ में √क्लिश् से व्युत्पन्न हुआ है। अतः इस के द्वारा कष्टों के सहन करने—तप करने का लक्ष्य सामने रक्खा है[1]। ललाट तक दण्ड के विधान से शारीरिक बल को बुद्धि के अधीन रखने का सन्देश दिया गया है। प्राण—नासिका प्राण और अपान की प्रतीक है। इस माप में ब्रह्मचारी को राष्ट्र के प्राण बनने का निर्देश किया गया है। वैश्य ही विश्—प्रजा—राष्ट्र के प्राण हैं। वे ही विश्वे देवाः और मरुत् हैं, सब के मित्र भी। प्राण भी विश्वेदेवाः हैं।

(ii) इस मापविधान में एक और भाव भी हो सकता है। योगचूडामण्युपनिषत् ३५ में लिखा है कि कुण्डलिनी को जाग्रत करने से मनुष्य वेदज्ञाता होता है—

---

१. ध्यान रहे कि जहां ब्राह्मण को तपस्वी माना गया है, वहां य० ३०।५ में शूद्र ही का सम्बन्ध तप से बताया है, ब्राह्मण को नहीं।

"कुण्डलिन्या समुद्भवा गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्ता वेत्ति स वेदवित्॥"

अतः इस मापविधान में कुण्डलिनी को जाग्रत कर शरीर में कण्ठप्रदेश में स्थित विशुद्धचक्र, भ्रूवों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र और शिर में स्थित उड्यानचक्र[1] । (=सहस्रदलकमल) के भेदन की ओर लक्ष्य किया हो सकता है। हरिहराचार्य ने दण्डों के मान को केशों के मूल, भ्रूमध्य और ओष्ठों तक बता कर इसी झुकाव की ओर संकेत किया हो सकता है।

६३ आहूतः—आ+√ह्वे+क्त। बुलाया हुआ। उत्थाय—उद्+√स्था+ल्यप्।

६४. शयानम्—√शी+शानच्+पु० द्वितीया एक व०। आसीनम्—√आस्+शानच्+पु० द्वितीया एक व०।

स्नातक की कीर्ति

६५. अमुत्र—परलोक में विष्णु लोक में जहां भूरिशृङ्ग, और अय गौएं=किरणें रहती हैं—यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० १।१५४।६)। स्वर्गस्थान, मोक्षस्थान। भाव यह है कि ऐसा ब्रह्मचारी इस लोक में रहता हुआ भी स्वर्ग के सुखों का उपभोग करता है। कुछ, विद्वान् इस में मरने पर मुक्ति की कल्पना करते हैं। परन्तु, मुक्ति इतनी सरल नहीं है। यहां पर 'अमुत्राऽत्र वसति' की पुनरावृत्ति विषय की महिमा पर बल देने के लिये की गई है। स्नातक—विद्या या व्रत समाप्त कर के गृहस्थाश्रम में आने वाला विद्यार्थी।

स्नातकों के भेद

९६ त्रयः—इन तीनों का व्याख्यान अगले सूत्रों में दिया है। इन में विद्याव्रत स्नातक श्रेष्ठ है, शेष दो समान माने गए हैं—तु० क० तेषामुत्तम श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ (गोभिलगृह्यसूत्र ३।५।२३—गुरुदेव संस्करण)।

---

१. योगशिखोपनिषत् ४।१०-१२।

९७. **वेदम्**—एक या अधिक वेद का अध्ययन। **असमाप्य व्रतम्**—ब्रह्मचर्यव्रतपालन करने की अवधि को पूरा किए बिना ही। भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत तो अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् अभी ३६, ४४ या ४८ वर्ष की आयु नहीं हुई है, परन्तु, वेद का जितना अध्ययन अभीष्ट था वह पूरा कर लिया। अतः ब्रह्मचारी अधिक दिन गुरुकुल में न रह कर व्रत की अवधि को अपूर्ण छोड़ कर संसार में जीवन बिताने चला आता है।

९८. यहां पर व्रत की अवधि तो पूरी बीत जाती है, परन्तु वेद का अभीष्ट अध्ययन पूरा नहीं होता, फिर भी ब्रह्मचारी संसार में प्रविष्ट हो जाता है।

९९. यहां वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन की अवधि दोनों ही पूरी कर के ब्रह्मचारी घर को लौटता है। **समावर्तते**—सम्+आ+√वृत्+लट् प्रथम पु० एक व०। लौटता है, गृहस्थ बनने के लिए गुरुकुल छोड़ कर लौटता है।

उपनयन की चरम सीमा

१००—१०३—उपनयन की क्षिप्रतम या निम्नतम सीमा का निर्देश तो किया जा चुका है। तो भी परिस्थितियों के कारण यदि किसी का उपनयन उस काल में न हो सके तो ब्राह्मण का उपनयन १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष की आयु तक कराया जा सकता है। इस के पश्चात् उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं रहता और वे गायत्री के उपदेश से वंचित हो जाते हैं। सावित्री के उपदेश के बिना वे वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं बनते हैं। **पतितसावित्रीकाः**— पतिता अधिकार भावात्तिरस्कृता सावित्री येभ्यस्ते। मनु ने इस अवधि को केशान्त संस्कार का काल माना है। (२।६५)। म० २।३८ भी देखें।

१०४. इस में पतित सावित्रिकों को उपनयन, अध्यापन, याजन और व्यवहार से वञ्चित किया गया है। वह व्यवहार कुछ दिन पूर्व हिन्दू समाज में प्रचलित जातिच्युत और धर्मच्युत करने की प्रथा के अनुरूप है।

मनु के काल मे ऐसे लोगों को व्रात्य कहा जाता था (देखो मनु०२।३९)। इतना कठोर व्यवहार करने पर भी उन्हें व्रात्यस्तोम नामक यज्ञ करके पुनः सभ्य (=आर्य) समाज में स्थान पाने का अधिकार दिया गया था। कालान्तर में इस अधिकार का प्रयोग स्वेच्छा से न करने वाले या न करने के लिए अन्यों द्वारा विवश किए हुए लम्बा ही पतित—आधुनिक शूद्र बने होंगे। यदि ऐसा न हो तो विचारणीय यह है कि ये व्रात्य ■ शूद्र कैसे कहलाए जाने लगे।

(ii) उपनयेयु — उप+√नी+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। अध्यापयेयु —अधि+√इ+णिच्+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। याजयेयु —√यज्+णिच्+विधिलिङ्। प्रथम पु० बहु व०। व्यवहरेयु.— वि+अव+√हृ+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। इस का भाव विवाह शादी आदि धार्मिक और सामाजिक कर्म हैं।

१०५ कालातिक्रमे—कालस्यातिक्रम। उपरोक्त चरम अवधि के बीत जाने पर। जयराम और हरिहर भाष्यकारों ने इस का अर्थ गर्भाधान आदि समस्त संस्कारों के निश्चित समय का पालन न करना समझा है। परन्तु यहां पर समस्त प्रकरण उपनयन संस्कार का ही है। अतः उतना ही भाव अभिप्रेत है, भाष्यकारों का विस्तृत अर्थ नहीं। नियतवत्—भाष्यकारों के मत में इस का भाव यह है—नित्य कर्मों के न करने के पाप से छुटकारा पाने के लिए श्रौत सूत्रों में विहित स्मार्त अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करे। इस प्रायश्चित्त के करने पर संस्कारों का पुनः अधिकार प्राप्त हो जाता है। श्री हरिहराचार्य लिखते है कि यहां काल का अतिक्रमण केवल उपनयन विषयक ही नहीं है, प्रत्युत अन्य कर्मों का अतिक्रमण करने पर भी यही अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करना होता है, इस का कारण यह है कि गृह्यसूत्रकार ने अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है। इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है—नियत=नियमों के पालक—संयमी के समान आचरण करे। जैसा संयमी विद्वान् आचरण करे या उपदेश करे वैसा ही आचरण आदि करें। हिन्दी अनुवाद भाष्यकारों के आधार पर किया गया है।

१०६. त्रिपुरुषम्—त्रीन् पुरुषान् यावत् इति त्रिपुरुषम् । तीन पीढ़ियां—पिता, पुत्र, और पौत्र—जिन की सावित्री के उपदेश को प्राप्त नहीं कर सकी हैं । अपत्ये—जिन की तीन पीढ़ियों में उपनयन संस्कार नहीं हुआ है उन की सन्तान । चौथी पीढ़ी और उस के आगे । संस्कारो नाध्यापनं च—इस में 'न' का सम्बन्ध मध्य में स्थित दीपक के समान संस्कारः और अध्यापनम्—दोनों से है । हरिहर आचार्य के विचार में 'न' का सम्बन्ध केवल अध्यापनम् से है । अतः वे मानते हैं कि उपनयन तो किया जा सकता है । परन्तु अध्यापन नहीं—'त्रिपुरुषं त्रीन पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपौत्रास्तेषामपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति ।' परन्तु यह मत समीचीन नहीं । उपनयन होते ही उपनेता से उपनीत को अध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है । पं० सुखदेव समझते हैं कि 'नियत प्रायश्चित्त करने पर भी जिन लोगों का तीन पीढ़ी तक उपनयन न हुआ हो, उन की चौथी पीढ़ी के पुरुष का उपनयन नहीं हो सकता न वह वेद पढ़ने का अधिकारी है ।'

१०७. तेषाम्—इन सावित्री के उपदेश से और उपनयन के अधिकार से वञ्चित पूर्व सूत्र में वर्णित पुरुषों में से । ईप्सुः—√आप्+सन्+उ+पुल्लिंग प्रथमा एक व० । व्रात्यस्तोम—एक यज्ञ होता है जिस में पतितों को शुद्ध किया जाता है और उन्हें फिर से यज्ञ आदि कर्मों का अधिकार दिया जाता है । स्वामी दयानन्द ने इसी के आधार पर पिछली शताब्दी में विधर्मियों को शुद्ध करने और दलितों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था ।

(ii) यहां यह जानना भी परम आवश्यक है कि पारस्कराचार्य ने पतितसावित्रीकों को व्रात्य नहीं कहा है । यह नामकरण मनु आदि पिछले लेखकों का है । अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में व्रात्य नीचता का द्योतक नहीं । वहां वह सृष्टि के आदिकारण परमात्मा और विद्वान् सदाचारी पूजनीय अतिथि आदि का द्योतक है । (देखो अर्थ० १५।१०; १२; १४–१८ । व्रात्य-

काण्ड के डा० सम्पूर्णानन्द और प० क्षेमकरण और जयदेव आदि के भाष्य देखें)। अवे० १५।१२ के अनुसार व्रात्य की आज्ञा के बिना यज्ञ से अभीष्ट लाभ नहीं होता। अध्ययन और अध्यापन भी यज्ञ हैं। अतः व्रात्य को सन्तुष्ट कर के ही पतितसावित्रीक इन यज्ञों से लाभ उठा सकते हैं। यही भाव व्रात्यस्तोम यज्ञ के किए जाने का प्रतीत होता है।

(iii) कामम्—इच्छानुसार, अथवा निर्विवाद रूप से। अधीयीरन्—अधि + √इ + विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। व्यवहार्याः—वि+अव+√हृ+ण्यत्+पुल्लिंग प्रथमा बहु वचन। इस प्रमाण का स्थल मृग्य है।

(iv) यहां पर प० मुरारदेव ने वेदारम्भ संस्कार का विधान माना है।

१०८. यहां से अन्त तक का भाग पारस्कर गृह्यसूत्र का अंश नहीं है। गुजराती प्रेस के संस्करण में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। पञ्च भाष्यकारों में से गदाधर और विश्वनाथ ने अपने भाष्यों में पूर्व प्रकरण के भाष्य के अन्त में सूत्र० १०८-१२४ में वर्णित क्रियाओं का मन्त्रों के विनियोग को दर्शाते हुए विधान किया है।

(ii) इस भाग में छे वेदव्रतों का विधान किया गया है। इन में सावित्र व्रत छे रात्रियों या तीन रात्रियों में या तुरन्त ही उपनयन के समय पूरा किया जा सकता है। इस में सवितृदेवता के मन्त्रों का पाठ और अध्ययन अभीष्ट है।

(iii) शेष पांच वेदव्रत एक वर्ष की अवधि वाले हैं। आग्नेय में 'समिधाग्निम्' (य० ३।१) आदि अग्निविषयक मन्त्रों के, शुक्रिय व्रत में 'अच्छ वाच प्र पन्ते' (य० ३६।१) आदि के शुक्रिय विभाग के, औपनिषद व्रत में 'द्वयाह् प्राजापत्य' (?) आदि उपनिषद् भाग के, गौदान व्रत में 'आ ब्रह्मन्' (य० २२।२२), 'उदीरतामवर' (य० १६।४६), 'आ नो भद्रा' (य० २५।१४), 'आशु शिशानो' (य० १७।३३) और 'इमा नु क' (य० २५।

४३)—इन शौलभि की ऋचाओं के अध्ययन, पाठ और श्रवण अभिप्रेत हैं। गोदान व्रत की अवधि की समाप्ति पर गुरु को गायों का जोड़ा देने का विधान है। इन में से शुक्रिय, औपनिषद और शौलभ में अवगुण्ठन भी होता है जिस की विधि सूत्र० ११९ में बताई गई है।

(iv) इन सब व्रतों में अग्नि का परिसमूहन, समिदाधान आदि सब कर्म किए जाते हैं। और व्रत की समाप्ति पर उस का विसर्जन भी किया जाता है। इस की विधि का विस्तार गदाधर और विश्वनाथ आचार्यों ने अपने भाष्यों में किया है। यह सब अनावश्यक होने से यहां उद्धृत नहीं किया जाता है।

११०. उद्वीक्ष्य—उत्+√ईक्ष्+ल्यप्। देख कर, अर्थात् पूरा कर के। अपः—भाष्यकारों के क्रियादर्शन के अनुसार और 'अप्स्वन्तर्' मन्त्र के विनियोग के कारण यहां सप्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग हुआ है। अप्स्वन्तः—इस प्रकरण में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग के अनुकूल अथवा अन्य कोई अर्थ नहीं दिया जा रहा है, क्यों कि यह सारा प्रकरण ही मूल लेखक को अनभिप्रेत है। वैसे भी यहां की क्रियाएं उपनयनो-त्तरकालीन और वेदाध्ययन विषयक हैं। इन समस्त मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थ को विशालकाय बना देगा। इन के अर्थ दयानन्द भाष्य में देखे जा सकते हैं।

११२. उपव्रतम्—भाष्यकारों ने व्रतों की समाप्ति पर व्रत के विसर्ग का विधान किया है। यही विसर्ग यहां 'उपव्रत' मालूम पड़ता है।

११३. अवगुण्ठनम्—यहां पर शुक्रों, औपनिषदों और शौलभिनियों से श्रावण (=सुनना) ही अवगुण्ठन माना गया है।

११५. अविद्यमाने—यदि सूत्र० ११३–११४ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रयोग न किया जाए तो 'आ ब्रह्मन्' आदि सूक्त में प्रदत्त मन्त्रों रूपी वेदशिरस् (=वेदज्ञान के सार)[1] से अवगुण्ठन किया जावे।

---

१. तु० क० प्राणोऽग्निः शीर्षम्। कौ० ८।१ तथा शीर्षं शिरः। श० १।४।५।५।

११६ सूत्र० ११३ में मन्त्रों को ही अवगुण्ठन बताया था। यहा पर उन के साथ प्रतीक रूप में वस्त्र के परिधान का भी वर्णन पाया जा रहा है।

११८ इस की विधि का सूत्र० १२२ की विधि से साक्षात् विरोध है जिस का समाधान विचारणीय है। व्युष्टायाम्—उषा काल हो जाने पर। अरण्य—इसे अरण्य=ज्ञान से व्युत्पन्न मान कर अध्यात्म में मन्त्रों रूपी सूत्र० ११३ में वर्णित अवगुण्ठन का विसर्जन मानने पर सूत्र० १२२ से विरोध का कुछ समाधान दिखाई पड़ता है। वहा पर वस्त्र की अवगुण्ठनी का विधान है, जो गुरु को दी जाती है।

११९. इन मन्त्रों का अर्थज्ञान पूर्वक जप प्रातः काल में अभीष्ट है।

१२१ शान्तिभाजनम्—अवगुण्ठनी के समान यह भी दो प्रकार का है—'ओं शान्तिः' इस मन्त्र के रूप में और दूसरा धात्वादि से निर्मित पात्र जो गुरु का आश्रम में उन के प्रयोग के लिए भेंट कर दिया जाता था।

१२३. गोदानम्—यह उपनयन संस्कार की दक्षिणा में दी जाती होगी। इस में ब्रह्मचारी द्वारा अपने ज्ञान के अन्यों को प्रवचन आदि द्वारा प्रदान करने की प्रतिज्ञा का अवशेष प्रतीत होता है क्यों कि गो=वाक् ज्ञान और यश का प्रतीक है। तु० क० तैउ० स्वाध्यायप्रवचनाभ्या मा प्रमद। तथा ऋ० १०।६०।१६, ११७।६, अने० ५।११६ आदि।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप जी गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, आचार्य डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य और आचार्य डा० फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी द्वारा प्रणीत पार स्करीय उपनयनसूत्रों की सुकाशिनी टिप्पणिया समाप्त हुई।

—○•○—

पारस्करीयोपनयनसूत्राणि

अकारादिवर्णानुक्रमेण पदानां विषयाणां चानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में पदों आदि के आगे सूत्रों का संख्या दी गई है। उस के आगे कोष्ठकों में टिप्पणियों में बताये गए संदर्भों के अंक हैं। जहां पृ० लिखा है वहां उस के आगे की संख्या टिप्पणियों के पृष्ठ की है।)

॥ ॐ ॥

वेदलावण्ये
ऋक्सूक्तानि

(प० ३१ च)

ॐ

वेदलावण्यम्

भूमिका

ऋग्वेद का परिचय

वेदशब्द

१—वेद शब्द √विद् से बनता है। यह धातु ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण अर्थों मे प्रयुक्त होता है। इस से करण और अधिकरण मे घञ् प्रत्यय लगता है। अत यह पद ज्ञान, सत्ता, प्राप्ति और विचार अर्थों का द्योतक है। दयानन्द सरस्वती ने अपनी भूमिका में लिखा है—विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वा सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः[१]। प्राचीन काल में ही 'वेद' पद ज्ञानमात्र तक सीमित न रह कर कुछ ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होने लगा जिन से ऊपर वर्णित फलों की प्राप्ति सम्भव मानी गई है। ये ग्रन्थ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सामवेद मे केवल ७५ मन्त्र ही ऐसे हैं जो ऋग्वेद मे नहीं आए हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद मूल वेद है, शेष अर्वाचीन। इन में कर्मकाण्ड की दृष्टि से ऋग्वेद से मन्त्र ले कर निया के क्रम से रख दिए गए हैं। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती का विचार है कि विभिन्न वेदों मे समान मालूम पड़ने वाले मन्त्रों का रूप एक सा दिखाई पड़ता है, उन के अर्थ भिन्न-भिन्न अभिप्रेत हैं[२]। इस की पुष्टि अनेक बार ऐसे

१-ऋभाभू० पृ० २५।

२-वेभाप०, ४०।२४-२५।

मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि और देवता मिलने से भी होता है ३।

शाखासंहिताएँ

२—इन चार वेदों की शाखा संहिताएँ भी उपलब्ध होती हैं। किसी समय इन की संख्या ११२७ रही बताई जाती है ४। आज-कल इन में से कुछ ही मिलती हैं। उपलब्ध ऋग्वेदसंहिता शाकल शाखा की बताई जाती है। इस के आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि कुछ ग्रन्थों में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के पाठभेद मिले हैं, जिन की परीक्षा से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि उपलब्ध ऋक्संहिता प्राचीन है और पाठभेद अर्वाचीन। इन अर्वाचीन पाठभेदों में मूल पाठों को सरल करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है ५।

३—यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय मिलते हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता। इन दोनों संहिताओं में पर्याप्त साम्य है। वैषम्य के स्थलों पर लगभग सर्वत्र ही काण्व संहिता माध्यन्दिन संहिता से अर्वाचीन और उस का सरल संस्करण मालूम पड़ती है ६। इसी संहिता में सर्वप्रथम मन्त्रों के विनियोगों का विधान पाया जाता है, माध्यन्दिन में नहीं ७। इन दोनों संहिताओं में केवल मन्त्र ही मन्त्र हैं, काण्वसंहिता के अभी निर्दिष्ट विनियोगवर्णन के अतिरिक्त इन में ब्राह्मणभाग नहीं है। कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मणभाग

३–वही, १७।१०६; वीएसडी० पृ० १७०-१७२, आर्यसिद्धान्त विमर्श, पृ० १८७।

४–ऋभाभू० पृ० ३४८; वेमाप० २०।७३; वेंवा पृ०६६।

५–नेवेशा०, पृ० १३, संदर्भ २।

६–वही, पृ० ५–८, १३ (संदर्भ ३)

७–वेमाप०, ५।४६।

भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। ब्राह्मण वेदमन्त्रों का अनेक दृष्टियों से संक्षिप्त व्याख्यान देते हैं। इन में मन्त्रविषयक क्रियाकाण्ड का विस्तृत वर्णन और विवेचन पाया जाता है। अतः इस सम्प्रदाय की तीनों उपलब्ध संहिताओं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक को माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अर्वाचीन, सरलीकृत और विस्तृत व्याख्यानों से युक्त संस्करण कहा जा सकता है ८।

४—सामवेद की दो शाखाएँ हैं—कौथुम और जैमिनीय। अथर्ववेद की भी दो हैं—शौनक और पैप्पलाद। इन की पारस्परिक तुलना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कौथुम और शौनक शाखाएँ प्राचीनतम हैं, शेष अर्वाचीन और सरलीकृत संस्करण हैं।

५—मध्यकालीन परम्परा के विद्वान् शाखासंहिताओं को भी मूल वेद ही मानते हैं। वे भी उन की दृष्टि में अपौरुषेय हैं१०। आधुनिक विद्वान् शाखा-संहिताओं को एक ही अपनी-अपनी मूल वेद संहिता का भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न कुछ पाठभेदों वाले संस्करण मानते हैं ११। परन्तु ये मत ठीक नहीं। जैसा स्वा० दयानन्द सरस्वती ने लिखा है, शाखासंहिताओं को पूर्व संदर्भों में लिखे वर्णन के अनुसार मूल-संहिता का व्याख्यान या सरलीकृत संस्करण मानना उचित होगा १२।

८—वेभाप० ४।१।

९—नेवेशा० पृ०८—१३। वेसा० पृ० १०० पर इस मत पर आपत्ति करते हुए राणायनीय शाखा को मूल वेद माने जाने का कथन किया गया है। परन्तु राणायनीय संहिता अभी उपलब्ध ही नहीं हुई है। देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त), १९३५, पृ० २१३।३।

१०—वेसा०, पृ० ९९।

११—नेवेशा०, पृ० १—२।

१२—वेसा० पृ० ९९—१०० पर इस मत पर आपत्ति तो की है, परन्तु कोई विवेचन नहीं किया है।

ब्राह्मणग्रन्थ

६—प्रत्येक वेद और उस की संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे थे। आज-कल न तो सब शाखासंहिताएँ मिलती हैं, न उन के सब ब्राह्मण। अब तक थोड़े-से ही ब्राह्मण उपलब्ध हुए हैं—ऋग्वेद के ऐतरेय,कौषीतकि और शाङ्खायन१३, यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण१४और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद१५ के ताण्ड्य, जैमिनीय, जैमिनीयोपनिषद्, मन्त्र, आर्षेय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिले हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है ये वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। इन में अपनी-अपनी संहिता से सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है। सामान्यतः इन्हें कर्मकाण्ड का ही ग्रन्थ माना जाता है और इन के वेदव्याख्यानों को याज्ञिक। परन्तु यज्ञपद का जिस सीमित अर्थ में इस कथन में प्रयोग किया जाता है ब्राह्मणों की दृष्टि उतनी सीमित नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-पद के अर्थों पर विहंगम दृष्टि से सुव्यक्त हो जाता है कि वहाँ प्रत्येक लोकोपकारक पदार्थ, कर्म, भाव और स्थिति यज्ञ है। उन के वेदार्थ और कर्मकाण्ड के विवेचन में यह दृष्टि ओतप्रोत है। इस प्रकार उन के वेदार्थ अनेकविध हैं। उन में देवता सीमित अर्थ में याज्ञिक नहीं। वहाँ

१३–कुछ विद्वान् कौषीतकि और शाङ्खायन ब्राह्मण को एक ही मानते हैं। डा० टी० आर० चिन्तामणि ने इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ प्रमाणित किया है। देखो आइओका० ६, पृ०१६४॥

१४–इस की दो शाखाएँ माध्यन्दिन और काण्व मिलती हैं।

१५–मन्त्र, आर्षेय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मण किसी समय ताण्ड्य ब्राह्मण के अंश रहे होंगे। हाल ही में एक छान्दोग्य ब्राह्मण कलकत्ता में छपा है। मन्त्रब्राह्मण को भी छान्दोग्य ब्राह्मण कहा जाता है। दोनों का स्वरूप अध्येतव्य है।

वरुण क्लोम भी है, सविता यकृत् भी और दोनों ब्रह्म और वाक् भी। इन ग्रन्थों में वेदार्थ के लिए महान् सामग्री भरी पड़ी है, जिस की कतिपय भ्रान्त व्याख्याओं के कारण और ठीक ठीक अवगत न करने के कारण महान् उपेक्षा की गई है। आजकल कुछ विद्वान् अपने वेदार्थ आदि में इन का पर्याप्त प्रयोग कर रहे हैं[१६]।

आरण्यक

७—ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भागों को आरण्यक कहते हैं। सायण आदि विद्वानों के मत में अरण्य में पढ़े जाने के कारण इन का नाम आरण्यक पड़ा है। इस की अपेक्षा इन्हें अरण=शान्तिविशेष-आह्लादायक ज्ञान—ब्रह्मज्ञान आदि का व्याख्यानग्रन्थ होने के कारण आरण्यक कहा जाना अधिक समीचीन जान पड़ता है[१७]।

८—आरण्यकों में महाव्रत और होम आदि यज्ञों का विवरण, यज्ञों के दार्शनिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप का विवेचन किया गया है[१८]। इन में मन्त्रों को अनेकार्थक माना गया है[१९]।

९—आजकल उपलब्ध आरण्यकों की संख्या अल्प ही है। अब तक ऋग्वेद के ऐतरेय और शांख्यायन या कौषीतकि आरण्यक, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रायणी (या बृहत्) आरण्यक, शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन बृहदारण्यकोपनिषद् (और काण्व बृहदारण्य-कोपनिषद्) और सामवेद का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[२०] या तवलकार आरण्यक उपलब्ध हुए हैं।

१६—देखो डा० फतह सिंह, वैदिकदर्शन, भारतीय समाजशास्त्र मूलाधार, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, उरुज्योति आदि।

१७—वेभाप० ७।२।

१८—वैसा० पृ० १५०—१५१।

१९—वेभाप० ७।६।

२०—इस में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—तीनों मिले हुए हैं।

उपनिषद्

१०—बहुधा आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। काण्व यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से प्रख्यात है। इन ग्रन्थों में ब्रह्मविद्या—ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का सूक्ष्म और रोचक विवेचन किया गया है।

११—उपलब्ध उपनिषदों की संख्या बहुत विशाल है। इन्हें वैदिक और अवैदिक दो भागों में रक्खा जाता है। वैदिक उपनिषदों में सब प्रमुख और प्रामाणिक उपनिषद्—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकि, प्रश्न—आ जाते हैं। श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषद् भी उच्च कोटि के हैं। शेष में तान्त्रिक, योग, अथर्ववेदीय और साम्प्रदायिक उपनिषद् हैं। इन की संख्या बहुत है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों की महिमा के कारण अवर व्यक्तियों ने अपने विचारों के प्रसार के लिए उपनिषद् बना डाले।

सूत्र

१२—वैदिक साहित्य का अन्तिम अङ्ग सूत्रों में मिलता है। ये बड़ी संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं[२१]। बहुधा टीकाओं और भाष्यों की सहायता के बिना इन्हें समझना सम्भव नहीं होता है।

१३—समस्त सूत्र ग्रन्थ छै वेदाङ्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। ये वेदाङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। वेदार्थ जानने के लिए इन का ज्ञान परम आवश्यक माना गया है। शिक्षा में उच्चारण सम्बन्धी नियम मिलते हैं। व्याकरण में

२१—तु० क०— स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ वेभाप० १०१२ भी देखें।

ज्ञात होता है कि कुछ मूर्तियाँ-खिलौने आदि अवश्य बनते होंगे। वैदिक वर्णन कुमार-देष्णा पद से भी यही भाव निकलता है। सिन्धु घाटी की लिङ्गपूजा भी वैदिक रुद्र = नारिकेल का ही विकसित रूप है ३०।

३०—सिन्धु घाटी की खुदाई में एक अग्निकुण्ड के स्थान भी मिला है ३१ जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। तथापि अग्निकुण्ड का अभाव इस सभ्यता को प्राग्वैदिक सिद्ध नहीं करता है। आज भी प्रतिदिन अग्निहोत्र करने वालों के घरों में अग्निकुण्ड बहुत कम पाया जाता है।

ज्योतिषविषयक

३१—श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथब्राह्मण से एक कथन खोजा है जिस के अनुसार उस समय कृत्तिकाएँ प्राचीन दिशा में ही उदय होती थीं, परन्तु आजकल वे कुछ उत्तर की ओर उदय होती हैं। ज्योतिष की गणना के अनुसार ब्राह्मणकालीन स्थिति अब से ३,००० वर्ष ई० पू० रही थी ३२। तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद शतपथब्राह्मण से प्राचीनतर हैं। दोनों के निर्माण के बीच २५०-५५० वर्ष मान कर ऋग्वेद का काल ३५०० ई० पू० ठहरता है।

३०—ऋग्वेद में शिश्नदेवा: पद को विद्वानों ने लिङ्गपूजकों का निर्देशक माना है। परन्तु भारतीय विद्वान् इस का भाव ब्रह्मचारी लेते हैं। सीदसडी० पृ० २२८-२३३ भी देखें।

३१—२८-आर मण्डल के वर्ग २ विभाग की मकान XI कमरा सं० ८१ के निम्नतम तल में उपलब्ध निम्न स्थान।

३२—डा० गोरखप्रसाद भारतीय ज्योतिष का इतिहास पृ० ४०, पादटि० १ में इस गणना को अशुद्ध बताते हैं। उन्होंने २५०० ई० पू० को ठीक गणना बताया है।

३२—पं० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने समस्त वैदिक काल को चार युगों में बाँटा है—अदितियुग, मृगशिरायुग, कृत्तिकायुग और अन्तिम युग। अन्तिम युग वेदांग ज्योतिष की रचना (१४००ई० पू०) से बुद्ध भगवान् के निर्वाण काल (५०० ई० पू०) तक रहा। वेदांग-ज्योतिष में श्रविष्ठा के आदि में सूर्य और चन्द्रमा के उत्तर की ओर घूमने का वर्णन आया है। यह स्थिति आज से १४०० ई० पू० में थी। यह ग्रन्थ इस काल के प्रारम्भ में प्रणीत हुआ। यह काल बुद्ध भगवान् के निर्वाण ५०० ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में समस्त सूत्रग्रन्थ श्रौत, स्मार्त आदि रचे गये। कृत्तिकायुग इस से पूर्व रहा। इस के प्रारम्भ में वसन्तसम्पात (= दिन और रात का बराबर होना) कृत्तिका नक्षत्र में होता था। शतपथब्राह्मण के उपरोक्त कथन के अनुसार ये नक्षत्र पूर्व दिशा में उदय होते थे, जिस का समय लगभग २५०० ई० पू० था। इस काल में तैत्तिरीय संहिता और शतपथब्राह्मण का निर्माण हो चुका था। इस से पूर्व वसन्तसम्पात मृगशिरा नक्षत्र में होता था। मृगशिरा से कृत्तिका तक पहुँचने में लगभग २००० वर्ष लगे होंगे। इस काल में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र रचे गये। इस मृगशिरा युग से भी पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसम्पात का उल्लेख मिलता है, जिस का समय २००० वर्ष और अधिक प्राचीन हो कर ६००० से ४००० ई० पू० तक रहा। इस में मन्त्रों की रचना हुई जो कालान्तर में संहिताओं में संकलित किए गए। जैकोबी भी इसी प्रकार ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का काल निरूपित करते हैं, परन्तु वे ४५०० से अधिक पहले जाना उचित नहीं समझते हैं। श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने भी अपने ढंग से ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का रचनाकाल आज से तीन लाख वर्ष पूर्व माना है। श्री पी० सी० सेनगुप्त ने अग्नि का काल २६ जुलाई ३६२८ ई० पू० और इन्द्र के मघवा बनने का काल ४१५० ई० पू० निर्धारित किया है। श्री आर० के० प्रभु ऋग्वेद को

१०,००० ई० पू० में और वाडेर १५,००० ई० पू० के पहले रखते हैं।

३३—श्री कीथ, विण्टरनित्ज़ और के० सी० चट्टोपाध्याय आदि इन निष्कर्षों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। उन का कहना है कि ज्योतिष विषयक उपरोक्त आधारों की योजना में बहुत सी कल्पनाओं से काम लिया गया है, तथा उन-उन स्थलों के, जहाँ ये प्रमाण मिलते हैं, अपेक्षाकृत सरल अर्थ किए जा सकते हैं। अतः वे इन ज्योतिषविषयक युक्तियों और तत्सम्बन्धी गणनाओं का पुनः परीक्षण आवश्यक समझते।

भूगर्भविज्ञान के आधार पर

३४—डा० अविनाशचन्द्र दास ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थितियों–समुद्रों और नदियों के अवस्थान आदि, ऋतुपरिवर्तन, वर्ष के वाचक पद–हिम और शरद् आदि के आधार पर ऋग्वेद के काल को ७५,००० वर्ष पूर्व ले जाते हैं।

३५—स्वामी महादेवानन्द गिरि का कहना है कि वसन्तसम्पातों का एक चक्र २१,००० वर्षों में पूर्ण होता है, जिस के पश्चात् बड़ा भयंकर शीत युग या हिम युग (ग्लेसियल युग) आता है। इन की गणना के अनुसार पिछला हिम युग १०,००० ई० पू० में हुआ था। ऋग्वेद (२। १२; १७.५; १। ३२। १; १।१३१।४ आदि) में भी इस प्रकार के शीत युगों का वर्णन पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने सृष्टिरचना से अब तक कुल चार हिम युगों की चर्चा मानी है। ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में वर्णित हिमयुग इन में से कौन-सा है यह विचारणीय है। श्री नारायण भवनराव पावगी ने भी भूगर्भ-विषयक ऋग्वेद में वर्णित स्थितियों के आधार पर वेद का रचनाकाल

६,००० ई० पू० रक्खा है। वैदिक संस्कृति में श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी ने इस के स्थान पर २,४०,००० से ६, ००, ००, ००, ००० ई० पू० काल दिया है।

३६—वैदिक साहित्य के प्रारम्भ को इतना प्राचीन मानने में सामान्यतः विद्वानों को बड़ा संकोच होता है। इस का एक कारण यह है कि इतने प्राचीन काल में भारत में या अन्य किसी प्रदेश में उस समय मानव का अस्तित्व था भी, या नहीं। यदि हाँ, तो क्या वह इतने विकसित मस्तिष्क का था कि इस प्रकार की उदात्त रचनायें उपस्थित करता। इस संशय की निवृत्ति आधुनिक काल में प्राप्त अस्थिपञ्जरों से स्वतः हो जाती है।

३७—एक युक्ति यह भी दी जाती है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एक सा है। अतः जिस काल में वेद की रचना जाए उस काल की अन्य देशों की सामाजिक स्थिति आदि से वैदिक संस्कृति की तुलना की जाए तो समान भावों की सत्ता मिलनी चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समय निर्धारण ठीक नहीं माना जा सकता। परन्तु सब देशों का मानसिक और बौद्धिक विकास एक ही भाग में एक ही गति से नहीं होता है। आज भी तो सभ्य और अर्धसभ्य जातियों के विकास में महान् अन्तर पाया जाता है। अतः यह सिद्धान्त उचित नहीं।

निष्कर्ष

३८—इस प्रकार ऋग्वेद के काल के निर्णय में बहुविध मत हैं, जिन में बड़े भारी भेद हैं। अतः विद्वानों ने बहुत ही उचित कहा है कि ऋग्वेद की निम्नतम सीमा ही निर्धारित की जा सकती है—ऋग्वेद इस से पीछे का नहीं हो सकता। इस से अधिक कहना सम्भव नहीं। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इस स्थिति को अनुभव कर के और इन्हें

सुदूर प्राचीन काल में रचित जानते हुए इन्हें सृष्टि के आरम्भ में रचा मान कर तिथिनिर्णय के विवाद को समाप्त कर दिया जा सकता है। वेद के अध्ययन और अध्यापन में तिथिनिर्णय बौद्धिक व्यायाम मात्र है, वेदार्थ और वेदविषयों को समझने में कुछ भी सहायक नहीं है।

ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विकास

३६—परम्परा के अनुसार स्वयम्भु परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में मानवों के कल्याण के लिए चार ऋषियों—अग्नि, आदित्य, वायु और अंगिरस् द्वारा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद का निःश्वास के समान प्रकाश किया। इन के पश्चात् भी बहुत से ऋषि हुए जिन्हों ने मन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार किया और संसार को अपनी देन दी। वेदमन्त्रों से सम्बद्ध ऋषिनाम इन्हीं मन्त्रद्रष्टाओं के हैं।३३

४०—एक अन्य विचारधारा भी भारतीय परम्परा में पाई जाती है। इस के अनुसार जिन-जिन मन्त्रों के जो-जो ऋषि बताए गए हैं वे-वे उन मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, रचयिता नहीं ३४। इस मत के अनुयायी सायण के भाष्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि क्रियात्मक रूप से सायण ऋषियों को मन्त्र रचयिता मानते हैं।

४१—वेदोत्पत्ति विषयक परम्परा से प्राप्त कुछ अन्य मत भी हैं जिन का अन्तर्भाव उपरोक्त दो मतों में ही जाता है ३५।

३३—ऋ०भा०भू०—वेदोत्पत्तिविषय। सं०—भा१३०—१३३। इन में उद्धृत प्रमाण भी देखें। स्वयं वेदमन्त्रों का भी यही कहना है।

३४—आर्यसिद्धान्तविमर्श में ऋषियों पर लेख देखें।

३५—इन का वर्णन स्वा० कर्मानन्द ने वैदिक ऋषिवाद और श्री एम० मोनियर विलियम्ज ने अपनी रचना—'इंडियन विज्डम',

४२—परन्तु आधुनिक विचारधारा वेद को ईश्वरकृत मानने के लिए तय्यार नहीं है। यहाँ वेदों को भी उसी प्रकार मानवों की रचना माना जाता है जिस प्रकार काव्य लौकिक कवियों की रचनाएँ होते हैं। जब भारतीय आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तब वे अपने साथ एक धर्म लाए ये जिस में देवता प्रमुख रूप से प्रकृति की शक्तियाँ थीं जिन को पुरुषाकार में वर्णित किया गया है। इन में से कुछ देवता जैसे द्यौः भारोपीय काल के हैं, और अन्य, जैसे मित्र, वरुण और इन्द्र भारतीय—ईरानी काल के हैं। वे अपने साथ अग्नि और सोम की पूजा भी लाए। जैसा ऋग्वेद और अवेस्ता की तुलना से सुव्यक्त हो जाता है। इन ऋषियों को बहुविध छन्दों में धार्मिक कविताएँ रचने की कला भी ज्ञात थी। इन प्राचीन सूक्तों का लक्ष्य वर्हि (यज्ञवेदी पर बिछी घास) पर रक्खे हुए सोम रस और तपाए हुए घी की अग्नि में आहुतियाँ देते हुए स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना था। भारतीय आर्यों के आक्रमण के प्राचीनतम काल मे प्राप्त और ऋग्वेदसंहिता में सुरक्षित सूक्त सामान्यतः ऋषियों के कुलों में पैतृक परम्परा से रचे गए हैं। इन को ऋषियों ने अपने-अपने कुलों में मौखिक रट कर सुरक्षित रक्खा है। इस काल में मन्त्रों को लेखबद्ध नहीं किया गया। वंशों में प्रचलित इन सूक्तों को एकत्र किया गया और इस में कुछ अन्य सूक्तों को जोड़ कर इन्हें ऋक्संहिता का प्रारम्भिक रूप दे दिया गया। श्री मैक्डोनल

१८९३ ई० पृ० २—३ में किया है और इन में विरोध दिखाने का प्रयास किया है। यह प्रयास उन के वैदिक दर्शन के घोर अज्ञान का परिचय देता है। इस दर्शन में प्राण, गायत्री, अदृष्ट, काल, पुरुष, वाक्—सब ब्रह्म के नाम हैं। दूसरे मत के समर्थक आर्यसमाजियों की युक्तियाँ पहले मत पर ही केन्द्रित हो जाती हैं।

के विचार में आधुनिक ऋक्संहिता का रूप ब्राह्मणकाल की समाप्ति पर उपनिषदों से पूर्व ६०० ई० पू० में बन चुका था। इस संहिता के सम्पादकों ने कुछ स्थलों पर स्वरसन्धि के नियम लगाए जिन के कारण कुछ स्थलों पर छन्दोभंग हो गया है। इस प्रकार छन्दः काल में मन्त्र रचे गए और कुछ काल पश्चात् संहिता के रूप में संकलित हुए [३६]।

४३—इस मत की पुष्टि मन्त्रों के अपने लेखों से भी होती है। वहाँ पर अनेक बार मन्त्रकार, मन्त्रकृत् आदि पदों का प्रयोग हुआ है। सर्वानुक्रमणी ने भी ऋषि का लक्षण—मन्त्र की रचना करने वाला किया है—यस्य वाक्यं स ऋषिः। साथ ही प्रत्येक मन्त्र का ऋषि भी सर्वानुक्रमणीकार ने बताया है। बहुत से मन्त्रों में उन के रचयिता ऋषियों के नामों का प्रयोग हुआ है। निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानते हों [३७]। मन्त्रों में प्राचीन और नवीन ऋषियों और मन्त्रों का भी कथन आया है [३८]।

४४—ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध ऋषियों की स्थिति बड़ी विचित्र है। मन्त्रों में वर्णित ऋषिनामों और उन से सम्बन्धित इतिहास आदि में कोई सामञ्जस्य नहीं है, उन वर्णनों का पुराणों और सर्वानुक्रमणी आदि के विवरणों से स्पष्ट विरोध और विषमता दृष्टिपथ में आते हैं [३९]। अनेक मन्त्रों के ऋषि और देवता एक ही पद हैं। बहुत से

३६—देखो मै०—कीथ० भूमिका, तथा वैदिक साहित्य के इतिहास—।०५

३७—देखो कर्मानन्द वैदिक ऋषिवाद, सूरजभान, ऋग्वेद के बनाने वाले ऋषि आदि।

३८—यथा ऋ० १।१।२ आदि।

३९—सुधीर कुमार गुप्त, ऋग्वेद में इतिहास नहीं है (ऋग्वेद का-प्रा० में सङ्कलित)।

मन्त्रों में ऋषिनाम विशेषण के रूप में आए हैं। एक ही मन्त्र के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न ऋषि दिए गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त में बहुत से ऋषिनामों के निर्वचन और अनेकविध अर्थ दिए गए हैं। यहाँ पर वेदमन्त्रों का स्रोत ब्रह्म को माना है, ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में व्यावर्तन के नियम से कुछ ऋषिनाम परस्पर में पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। यजुर्वेद में ऋषिपद 'वेदमन्त्रार्थ' का भी द्योतक मालूम पड़ता है। कुछ मन्त्रों के प्रयोगों में कवष आदि को व्यक्ति मानना सम्भव नहीं है। इन पदों को ऋषि न माने जाने का अवशेष माधवभट्ट के कमवाल: के भाष्य में उपलब्ध होता है। कुछ ऋषि नामों का यजुर्वेद में पारिभाषिक पदों के रूप में प्रयोग हुआ है ४०। ऐसी स्थिति में मन्त्रकृत् और ब्रह्मकृत् आदि पदों से कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं ४१।

४२—अतः वेदमन्त्रों को उन से सम्बद्ध ऋषियों की रचना अथवा दर्शन मानना सम्भव नहीं। वे पद उन के अर्थों को बताने वाली संज्ञाएँ ही हैं। प्राचीनकाल में भी ऋषिज्ञान को वेदार्थज्ञान के लिए परम आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कालान्तर में उस का वास्तविक स्वरूप विस्मृत हो गया। यह सब कुछ होते हुए भी आज विकासवाद के युग में वेदमन्त्रों को ईश्वररचित मानना बुद्धिग्राह्य नहीं है, भले ही हम उन के वास्तविक रचयिताओं को जानने में समर्थ हों या नहीं।

४०—विस्तार के लिए देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सोवर्स ऑफ दी ऋग्वेद, वेदर मैसेज एण्ड फिलोसोफी (और उस का हिन्दी अनुवाद); वेमाप० ४।७८—१२४;५।१२—२४; १७।२८—६६ आदि।

४१—सीएएडी० में ओरिजन एण्ड अॉथरशिप ऑफ दी रिग्ज ऑफ दी ऋग्वेद देखें।

वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन

४६—वेदमन्त्रों की रचना और संकलन के शीघ्र बाद ही उन की सुरक्षा के लिए विलक्षण उपाय किए गए और उन को बिना किसी अक्षर के नाश, विकार और प्रक्षेप के सुरक्षित रक्खा गया।

४७—वेद का कण्ठस्थ करना सरल काम नहीं था, परन्तु इस को प्राचीन काल में अनिवार्य किया गया। इसी से आज-तक वेद सुरक्षित चला आ रहा है। यह परम्परा अब क्षीण हो रही है, जिस से वेद की अक्षुण्ण रक्षा को आघात पहुँचना स्वाभाविक है। हस्तलेखों और मुद्रित प्रतियों को नष्ट किया जा सकता है, उन में लेख या छापे की भूलें रह जाती हैं, परन्तु कण्ठस्थ करने वालों में यह दोष नहीं रहता है। यद्यपि दुष्ट मनुष्य वहाँ भी विकार उत्पन्न कर सकता है, परन्तु अन्य वैदिकों का उस पर अंकुश रहता है।

४८—इस के साथ ही कुछ पाठों की रचना की गई। इन में सब से पहला पदपाठ कहलाता है। पदपाठ में सब पदों को अलग-अलग स्वतन्त्र रूप में पढ़ा गया है, प्रगृह्य पदों के आगे इति और समास के पूर्व और उत्तर पदों तथा प्रकृति-प्रत्यय आदि के बीच में अवग्रह लगा कर उन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसे वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान कहा जा सकता है। यह विशेषता अन्य पाठों में उपलब्ध नहीं। आजकल शाकल्य का पदपाठ ही सर्वत्र उपलब्ध होता है। रावण का भी पदपाठ मिला है। गार्ग्य के सामवेद के पदपाठ में लगभग सभी पदों में अवग्रह लगाया गया है, यथा मिऽत्रम्। अऽग्ने। अन्ऽये। चन्द्रऽमस.। सुऽऊर्यस्य४२। ये दोनों अभी मुद्रित नहीं हुए हैं। अन्तिम

४२—भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग २ (२), प्रथम संस्करण से साभार सगृहीत।

पदपाठ स्वा० दयानन्द सरस्वती का मिलता है। यह शाकल्य के पदपाठ के समान है परन्तु इस से अनेक स्थानों पर भिन्न है ४३। भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदपाठ से अपना मतभेद प्रदर्शित किया है। ऋग्वेद में छै मन्त्र ४४ ऐसे भी हैं जिन का पदपाठ नहीं मिलता है। उन्हें ज्यों का त्यों ही पदपाठ में रख दिया गया है।

४९—इस के पश्चात् क्रमपाठ बनाया गया। इस में पदपाठ का प्रत्येक पद दो बार पढ़ा जाता है—अपने से पहले और अपने से अगले पद के साथ—क ख, खग, गघ। यह पदपाठ के समान प्राचीन है। इस के पश्चात् जटापाठ की रचना की गई। इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और फिर सीधा भी पढ़ा जाता है—कख, खक, कख, खग, गख, खग; गघ, घग, गघ। इस की चरम सीमा घनपाठ में मिलती है। इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और तीन पदों को मिला कर सीधा और उलटा भी पढ़ा जाता है। इस का क्रम यह है—कख, खक, कखग, गखक, कखग; खग, गख, खगघ, घगख, खगघ आदि।

५०—प्रातिशाख्यों में शिक्षा, व्याकरण और छन्दों का विवरण मिलता है। इन में अपनी-अपनी संहिताओं का पदपाठ भी मिलता है। ऋग्वेद का प्रातिशाख्य शौनक की प्रणीत है।

४३—देखो वेमा१० २६, श्रीएसडी०—दी पदपाठ श्रॉफ दी ऋग्वेद एंड मिशन बाई दयानन्द

४४—ऋ० ७।५९।१२; १०।२०।१; १२१।१०; १९०।१—३। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि शाकल्य इन्हें प्रक्षिप्त मानते थे। परन्तु सम्भव है कि शाकल्य ने इन के अर्थ ऐसे समझे हों जिन में पदपाठ एक से अधिक प्रकार बनता हो। वेमाप० ९।

५१—अनुक्रमणियों में सूक्तों के प्रथम मन्त्र की प्रतीक, ऋषि, देवता, छन्द और मन्त्रसंख्या दी गई हैं। मन्त्रों से सम्बधित आख्यान भी दिए गए हैं। ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी कात्यायन की रचना है। शौनक के बृहद्देवता को भी इसी श्रेणी का कहना उचित होगा।

ऋग्वेद में विकार

५२—इन साधनों की सहायता से ऋग्वेद के मन्त्रों और पदों को इस प्रामाणिकता के साथ सुरक्षित रक्खा गया है कि इतने वर्षों से अब तक उन में कोई विकार—नाश, परिवर्तन और प्रक्षेप—नहीं आने पाया है। इस प्रकार अन्यत्र कहीं भी ग्रन्थों की सुरक्षा नहीं की गई है।

५३—इतना होने पर भी बहुत से आधुनिक विद्वानों ने वेद के पाठों में विकार माना है और अनेक बार उन में परिवर्तन करने का सुझाव दिया है। श्री राजवाडे ने एक लेख में इस प्रकार के कतिपय स्थल एकत्रित किए हैं। पं० विश्वबन्धु ने अपने बम्बई प्राच्यसम्मेलन के वैदिक विभाग के सभापतिभाषण में भी इस प्रकार के कतिपय स्थलों का विवेचन किया है। बम्बई के पादरी श्री एस्टलर तो समस्त वेदमन्त्रों को विकृत मान कर उन का मूल पाठ बनाने में संलग्न हैं। इन विद्वानों ने अनेक स्थलों पर यह सोचने का प्रयास नहीं किया है कि जहाँ वे अर्थ के आधार पर पाठ में विकार मानते हैं वहाँ अर्थान्तर भी हो सकता है जो न उन्हें सूझ रहा है, न आधुनिक नियमों की कसौटी पर पूरा उतर रहा है ४५।

४५—इस का एक उदाहरण ऋवे० १।१४।३ का शमोप्यात् पाठ है, जिसे सायण ने समोप्यात् कर दिया है, और आधुनिक विद्वान् उसे ग्रहण करते हैं। यह पाठ परिवर्तन नितान्त अनावश्यक है। देखो सुधीर कुमार गुप्त, ए न्यू इण्टर-प्रैटेशन ऑफ ऋवे० १।१४।

ऋग्वेद का विस्तार और विभाजन

४४—विस्तार—ऋग्वेद में कुल १०१७ सूक्त हैं। यदि इन में अष्टम मण्डल में प्राप्त ग्यारह बालखिल्य सूक्तों को भी जोड़ लिया जाए तो कुल सूक्त १०२८ हो जाते हैं। इन में लगभग १०६०० मन्त्र हैं। इस प्रकार सामान्यतः एक सूक्त में दस मन्त्रों का परिमाण आता है। सब से छोटे सूक्त में एक मन्त्र और सब से बड़े में ५८ मन्त्र हैं। अकेले ऋग्वेद का विस्तार इतना है जितना होमर के समस्त उपलब्ध काव्यों का।

४५—विभाजन—ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाजन किया गया है। पहला अष्टक विभाग है। यह अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन है और पूर्णतः यान्त्रिक है। इस में समस्त ग्रन्थ को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। ये सब लगभग बराबर ही हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में पाँच या छः मन्त्रों वाले कुछ वर्ग मिलते हैं। स्वाध्याय और प्रवचन की दृष्टि से यह विभाजन विशेष उपयोगी है।

४६—दूसरे विभाजन में समस्त ग्रन्थ को दस मण्डलों या खण्डों (मै०—ग्रन्थों; श०—मन्त्रों) में बाँटा है। प्रत्येक मण्डल को सूक्तों में और सूक्तों को मन्त्रों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक मण्डल में सूक्तों की संख्या और सूक्तों में मन्त्रों की संख्या विभिन्न है, इस में अष्टक विभाग के समान कोई स्थिर नियम लक्षित नहीं होता है। यह विभाजन प्राचीन और ऐतिहासिक है। इस से ऋग्वेद के मूल संघटनाक्रम का परिचय मिलता है। उद्धरण आदि देने में यह विभाजन अधिक सुगम पड़ता है। अतः इस विभाजन का प्रमाण आदि देने में पुष्कल प्रयोग किया जाता है।

ऋग्वेद की संघटना

५७ प्राचीन भारतीय परम्परा केवल ऋग्वेद के मन्त्रों का ही नहीं प्रत्युत चारों संहिताओं के मन्त्रों का एक ही समय में ईश्वर से प्रादुर्भूत हुआ मानती है। इस दृष्टि से सब वेद सुसम्बद्ध हैं और उन में देश और काल विषयक कोई पौर्वापर्य नहीं है।

५८ विकासवाद के सिद्धान्तानुसार वेद को विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ मानने ही यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रों की रचना में पौर्वापर्य रहा होगा। इस की पुष्टि सर्वानुक्रमणियों में प्रदत्त वैदिक ऋषियों की वंशावलियों से होती है। वहाँ एक ऋषि की सन्तति पुत्र, पौत्र प्रपौत्र आदि की रचनाएँ मिलती हैं जिन्हें किसी भी अवस्था में समकालीन नहीं माना जा सकता।

५९ वंशमण्डल—इस आधार पर आधुनिक विद्वानों ने ऋग्वेद के दो भाग किये हैं—१ मूल भाग—यह ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इस में मण्डल २ से ७ आते हैं। २ अर्वाचीन भाग—इस में मण्डल १, ८, ९ और १० आते हैं। मूल भाग के मण्डल स्वरूप में एक समान हैं। देसी परम्परा के अनुसार उन में से प्रत्येक मण्डल के सूक्त एक ही वंश के ऋषियों की रचनाएँ हैं जो उन्हें अपनी संहिता के रूप में सुरक्षित रखते रहे।

६० इस परम्परा की पुष्टि अन्त साक्षियों—सूक्तों में वर्णित ऋषिनामों और प्रत्येक मण्डल में प्रयुक्त ध्रुवका से होती है। इन वंशमण्डलों में संघटना एक जैसी है—इन में से प्रत्येक मण्डल विभिन्न देवताओं के सूक्तों के वर्गों में समान रूप से विभक्त किया गया है। दूसरी ओर मण्डल १, ८ और १० में ये विशेषताएँ नहीं मिलती हैं। उन के वर्गों में सूक्त विभिन्न वंशों के ऋषियों की रचनाएँ हैं और वे किसी एक-एक वंश के ऋषियों द्वारा नहीं रचे गये हैं। मण्डल ९ अन्य मण्डलों से इस लिए विशिष्ट है कि इस

में समस्त मन्त्र सोम देवता के ही हैं और इस के वर्ग छन्द की समानता पर बनाये गये हैं।

६१. वंशमण्डलों में सूक्तों का प्रथम वर्ग नियमित रूप से अग्नि देवता का है, और दूसरा इन्द्र का और शेष अन्य अप्रधान देवताओं के हैं। इन देवताओं के वर्गों में सूक्त मन्त्रों की घटती हुई संख्या के अनुसार रखे गये हैं। उदाहरण के लिए दूसरे मण्डल के अग्निदेवता का दस सूक्तों का वर्ग १६ मन्त्रों वाले सूक्त से प्रारम्भ होता है और ६ मन्त्रों वाले सूक्त पर समाप्त होता है। अगला वर्ग २१ मन्त्रों के सूक्त से प्रारम्भ हो कर ४ मन्त्रों के सूक्त पर समाप्त हो जाता है। यदि प्रक्षेपों की सम्भावना को ध्यान में रखा जाये तो वंशमण्डलों का क्रम घटती हुई सूक्तसंख्या के अनुसार रखा गया है। इस प्रकार मण्डल २ में ४३, मण्डल ३ में ६२, मण्डल ६ में ७५ और मण्डल ७ में १०४ सूक्त हैं। वंशमण्डलों की एकरूपता से ऐसी प्रबल सम्भावना होती है कि ये मण्डल ऋग्वेद के मूल आधार थे जो पीछे की मिलावटों से आधुनिक रूप को प्राप्त हो गये।

६२. अर्वाचीन मण्डल—मूल मण्डलों के साथ पीछे से सम्बद्ध मण्डलों में प्रथम मण्डल का उत्तरार्द्ध (सूक्त ५१ से अन्त तक) सब से पहले जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस में नौ वर्ग हैं जो प्रत्येक अलग-अलग ऋषि की रचना है। इन भाग में वंशमण्डलों की अन्तःसंघटना को अपनाया गया है।

६३. मण्डल ८ प्रमुख रूप से कण्व वंशजों की रचना होने से वंशमण्डलों के सदृश है। परन्तु यह अग्नि के सूक्तों से प्रारम्भ नहीं होता है। साथ ही इस में प्रगाथ छन्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस में सूक्तसंख्या सप्तम मण्डल से कम है। इन से प्रतीत होता है कि यह वंशमण्डलों के समुदाय का अंग नहीं था। सीमित साम्य के कारण यह अन्त में सब से पहले जोड़ा गया होगा।

६४. प्रथम मण्डल का पूर्वार्द्ध (सूक्त १–५०) अनेक अंशों में मण्डल ८ के समान है। अधिकांश सूक्तों के रचयिता काण्व ऋषि रहे प्रतीत होते

है। उन का प्रिय छन्द प्रगाथ भी यहाँ उपलब्ध होता है। दोनों सग्रहों में बहुत से समान भाव और पदसमूह भी मिलते हैं। इन दोनों सूक्तसमुदायो में कोई-न-कोई भेद अवश्य रहा होगा। परन्तु अभी तक यह नही दिखाया *जा सका है कि ये दोनों मूल भाग के आदि और अन्त में जोड़े जा कर* अलग-अलग कैसे हो गये।

६५ पहले आठ मण्डलो के एक सूत्र में बँध जाने पर मण्डल ९ भी जोड दिया गया। इस में समस्त सूक्त पावमान सोम के हैं। वशमण्डलों में सोम का एक भी सूक्त नही है। प्रथम और अष्टम दोनों मण्डलों में मिला कर सोम देवता के सामान्य पक्ष के वर्णन करनेवाले केवल तीन ही सूक्त पाये जाते हैं। मण्डल ९ के सूक्तो के रचयिता वे ही ऋषि हैं जो वशमण्डलों के क्यों कि उस में वशमण्डलो के ऋषियों के प्रिय ध्रुवक मिलते है। अत यह माना जा सकता है कि प्रथम से अष्टम तक के सब मण्डलों से पवमान सोम के समस्त मन्त्र निकाल कर मण्डल ९ में १–८ मण्डलों की सहिता के अन्त में रख दिये गये। इस प्रकार यह उद्गाता के लिए एक पृथक् सहिता बन गयी। शेष भाग होता से सम्बन्धित रह गया।

६६ मण्डल ९ की शैली और सूक्तो में गूढ आख्यानिक निर्देशों से ज्ञात होता है कि यह मण्डल पहले आठो के पीछे की रचना है। इस के कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन हो सकते हैं जितना भारत-ईरानी काल से प्राप्त सोमयज्ञ।

६७ इस मण्डल को दो भागो में रखा जा सकता है। प्रथम भाग (सूक्त १–६०) में सूक्तों का सकलन मन्त्रो की घटती सख्या के अनुसार किया गया है। प्रथम सूक्त में दस मन्त्र हैं और अन्तिम में कुल चार। दूसरे भाग (सूक्त ६१–११४) में यह क्रम नही मिलता है। इस में बहुत लम्बे-लम्बे सूक्त भी हैं, यथा—एक में ४८ और दूसरे में ५८ मन्त्र हैं। दोनों भागों में छन्द का भी भेद है। प्रथम भाग में केवल चार मन्त्रों

को छोड़ कर शेष सब गायत्री छन्द में है, दूसरे भाग में अन्य छन्दों—जगती, त्रिष्टुप् आदि के वर्गों का प्राधान्य है।

६८. दशम मण्डल सब से अन्त में जोड़ा गया। इस की भाषा और विषयों से ज्ञात होता है कि यह शेष मण्डलों से पीछे की रचना है। इस के ऋषि शेष मण्डलों के ऋषियों से परिचित हैं। इस के संहिता के अन्त में होने और सूक्तों की संख्या प्रथम मण्डल के सूक्तों के बराबर (अर्थात्–१९१) होने से यह सुव्यक्त है कि यह संहिता का परिशिष्ट है। इस के सूक्तों की रचना अनेकों ऋषियों ने की है, जिन में कुछ ऋषि वे ही हैं जो अन्य मण्डलों में भी आये हैं, परन्तु परम्परागत मन्त्रों का ऋषिवर्णन बहुत से सूक्तों के सम्बन्ध में किसी मूल्य का नहीं है।

६९. इस मण्डल का स्वरूप सामान्यतः अर्वाचीन होने पर भी इस में कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन और काव्यमय हैं जितने सामान्य रूप से अन्य मण्डलों के। इन सूक्तों को इस मण्डल में इस लिए स्थान मिला हो सकता है कि शेष मण्डलों के संकलन के समय वे किसी कारण से इन में सम्मिलित न किये जा सके।

७०. इस दशम मण्डल की भाषा में प्राचीन रूपों और पदों का प्रयोग क्षीण हो रहा है और नये पद और अर्थों का विकास हो रहा है।

७१. विषय की दृष्टि से इस मण्डल में अमूर्त भावों, दार्शनिक विवेचनों और अथर्ववेद के क्षेत्र से सम्बन्धित जादू-टोने आदि की प्रवृत्ति और वर्णन प्रमुख है।

७२. परन्तु ऋग्वेद के विभाजन की ये युक्तियां पूर्णतः सबल नहीं। इन का प्रमुख आधार सर्वानुक्रमणियों में वर्णित मन्त्रों से सम्बन्धित और बहुधा मन्त्रों में प्रयुक्त तथाकथित ऋषिनामों को इन का रचयिता मानना है। यह मान्यता निर्भ्रान्त और निर्विवाद नहीं। ये ऋषिनाम रचयिताओं के

नहीं हैं, प्रत्युत उन-उन सूक्तों के अर्थों की प्रकाशक संज्ञाएँ हैं।[46] जब ऋषि और उन के वंश ही नहीं रहे तब वंशमण्डलों और प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों के अनुसार मण्डलों के पौर्वापर्य या सूक्तों के वर्गीकरण की कल्पना का प्रसंग ही नहीं रहता।

७३ वंशमण्डलों में और अन्य मण्डलों में देवताओं के सूक्तवर्गों में भेद भी आपातत ही है। ऋग्वेद का देवतावाद 'एक सत्' का विस्तार है। वहाँ अग्नि और इन्द्र तथा अन्य देवताओं में मूलत भेद नहीं है। बाह्य दृष्टि (आधिभौतिक और आधिदैविक) में अग्नि एक अग्नि नहीं, वह विविध विषयों की समान गुणों के आधार पर एक परिभाषा है। यही इन्द्र आदि सदा की स्थिति है।[47] वैसे भी देवताओं के आधार पर वर्गीकरण में भी कुछ अपवाद हैं। मण्डल २ में सूक्त ३ में कई देवताओं के मन्त्र हैं। इसी प्रकार ऋ० ३।२ वैश्वानर अग्नि का ३।४,८ आदि बहुदेवतार हैं। ऋ ३।३३ इन्द्रसूक्त नहीं है। ऋ ७।३।१ रुद्र का है, अग्नि का नहीं, ऋ ४।१८।१, ५–७ वामदेव के हैं, इन्द्र के नहीं। ऐसी ही अव्यवस्था मण्डल ५,६ और ७ में पायी जाती है।

७४ सूक्तों के सकलन में वंशमण्डलों में भी सर्वत्र एक-सा नियम नहीं है। उदाहरण के लिए ऋ ३।२७–२९ के अग्निवर्गीय सूक्तों में मन्त्रसंख्या

---

४६ देखो सुधीर कुमार गुप्त—ऋग्वेद के ऋषि और उन का दर्शन, वेदवाणी ७।१–२ विकृतिविदाव १९५८, सीयर्स ऑफ दी ऋग्वेद, देयर मैसेज ऐण्ड फिलोसोफी तथा वेभाप० ४,५,६,१७ के ऋषि विषयक सदर्भ। इस से ही श्री मैक्डोनल्ड आदि विद्वानों के सर्वानुक्रमणियों के ऋषिवर्णन पर अविश्वास का वाद भी निराधार हो जाता है। ४७ इस देवतावाद के वर्णन के लिए देखो सुधीर कुमार गुप्त, महर्षि दयानन्द और देवता शब्द का अर्थ, ऋग्वेद का धर्म, वेभाप० ४,५,६,१७ के देवताविषयक अनुच्छेद।

क्रम से १५,६ और १६ हैं। ऋ. ४।१५, ६।१५; १६ और ऋ. ७।१५-१७ आदि इस नियम के अपवाद हैं। स्वयं मण्डलों का क्रम भी मन्त्रसंख्या के अनुसार नहीं है। यथा मण्डल २ में ४३,३ में ६२,४ में ५८,५ में ८७, ६ में ७५ और ७ में १०४ सूक्त हैं।

७५. मण्डल ९ में प्रथम आठ मण्डलों के सोमसूक्तों का संग्रह मानना और साथ ही इसे पहले आठ मण्डलों के पीछे रखा हुआ मानना परस्पर विरोधी विचार है।

७६. दशम मण्डल और वंशमण्डलों में विषय और भाव की दृष्टि से न मौलिक भेद है, न बहुत अधिक। ऋग्वेद के पद विशिष्ट भावों की परिचायिका परिभाषाएँ हैं जिन के ठीक-ठीक भाव को जानने की समस्या आज विद्वानों के सामने है। इस रचना में विष्णु और इन्द्र सूक्तों की टिप्पणियों से यह सुव्यक्त हो जायगा कि ये सूक्त भी दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत हैं। ऋ. ४।४२।४,६ आदि में ऋ. १०।१२५ के वाक्सूक्त की शैली ही अपनायी गयी है। प्रतीयमान जादू-टोने आदि के सदृश विषय यत्र-तत्र ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिल जाते हैं।

७७. भाषा के आधार पर पौर्वापर्य निश्चय करना सम्भव नहीं। पाणिनीय व्याकरण के रूप जो दशम मण्डल में प्रचुर हैं और अर्वाचीन माने जाते हैं वंशमण्डलों में भी मिलते हैं। पदप्रयोग विषयानुकूल करने में ही अर्थ-सम्पत्ति सिद्ध होती है।

७८. अतः ऋग्वेद में मण्डलों या उन के अंशों में पौर्वापर्य का निर्णय उपलब्ध सामग्री के आधार पर करना संभव नहीं। हो सकता है समस्त संहिता का संकलन किसी एक ही व्यक्ति ने किया हो और विभिन्न दृष्टियों से सूक्तों की संघटना की हो।

ऋग्वेद की भाषा

७९ ऋग्वेद की भाषा आधुनिक लौकिक संस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप है जो पाणिनि के नियमों में जकडी जा कर आधुनिक रूप को प्राप्त हो गयी है। इस में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा रूपसम्पत् बहुत अधिक है। *संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्तियों में रूपों की प्रचुरता है।* इस में शतृ शानच् और क्त्वान्त पदों के रूप अनेकविध हैं। क्रियापदों में यह रूप समृद्धि सविशेष लक्षित होती है क्या कि ऋग्वेद में लेट् का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह लोकभाषा में बिल्कुल भी नहीं है। ऋग्वेद में तुमुन् के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्यय हैं जिन में से लोकभाषा में केवल एक तुमुन् ही शेष बचा है।

८० ऋग्वेद की भाषा में उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग किया जाता है। यह स्वर संगीतात्मक हैं और कण्ठध्वनि के आरोहावरोह पर निर्भर है। लौकिक भाषा में ये स्वर नहीं लगाये जाते हैं। यहाँ स्वर *अब परिमाणात्मक रह गया है ध्वन्यात्मक नहीं है।* इस का भाषा विज्ञान में कोई मूल्य नहीं है जब कि वैदिक स्वर भाषाविज्ञान में और शब्दों का अर्थ करने में महान् सहायक है।

८१ ऋग्वेद की *सन्धि लौकिक सन्धि से अधिक स्वाभाविक और* प्राचीनतर है। पदान्त न् और च छ या त थ के बीच में श् या स् का आगम ऋग्वेद में अल्पतर है और ऐतिहासिक है परन्तु लौकिक भाषा में यह आगम अनिवार्य हो गया है। पदान्त ए और ओ के पश्चात् ऋग्वेद में अ बहुधा बना रहता है पूर्वरूप नहीं होता है। लोकमें यह अ नियमित रूप से पदान्त ए, ओ में एकरूप हो जाता है।

ऋग्वेद में छन्दःप्रयोग

८२ सम्पूर्ण ऋग्वेद पद्यात्मक है। प्रत्येक मन्त्र में सामान्यतः चार पाद होते हैं, परन्तु कुछ मन्त्र तीन पादों और पाँच पादों के भी हैं। कुछ ऋचाएँ

द्विपदा भी मानी गयी है यथा ऋ. ५।२४।१। परन्तु ऐसे स्थानों पर दो-दो मन्त्रों को मिला कर एकवत् भी माना गया है। ऋग्वेद में और आगे सर्वत्र पाद (श०—एक-चौथाई भाग) छन्दों की इकाई है। इन पादों में बहुधा आठ, ग्यारह या बारह वर्ण (एक बार में बोला जाने वाला स्वर या स्वरसहित व्यञ्जन) होते हैं। सामान्यतः मन्त्र के सब पाद एक समान होते हैं, परन्तु कुछ विरले प्रयुक्त छन्दों में विभिन्न परिमाण के पादों का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह छन्दों का प्रयोग पाया जाता है।[48] उन में से सात छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इन में भी त्रिष्टुभ्, गायत्री और जगती प्रमुख हैं और ऋग्वेद के लगभग दो-तिहाई भाग में प्रयुक्त हुए हैं। त्रिष्टुभ् में ग्यारह-ग्यारह वर्णों के चार पाद, गायत्री में आठ-आठ वर्णों के तीन पाद और जगती में बारह-बारह वर्णों के चार पाद होते हैं। प्रत्येक छन्द में चार-चार वर्ण बढ़ाने से अन्य छन्द बन जाता है। कई बार छन्दों में वर्ण-संख्या कम पड़ जाती है। उस अवस्था में सन्धिच्छेद कर के अक्षरसंख्या पूरी की जाती है। यथा विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् में वीर्याणि को वीरिआणि पढ़ने से छन्द की पूर्ति की जाती है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य के मत में अर्थ के अनुसार सन्धिच्छेद और पादों को आगे-पीछे कर के मन्त्रों के छन्दों को बदला भी जा सकता है।[49]

८३. वैदिक छन्दों में परिमाणात्मक लय पायी जाती है जिस में लघु और गुरु का बारी-बारी से प्रयोग किया गया है। पाद के अन्तिम चार या पांच वर्णों का क्रम नियमित है। ग्यारह, बारह तथा अधिक वर्णों वाले पादों

---

४८. इस कथन में छन्दों के अवान्तर भेदों, प्राजापत्य, दैव और आसुर छन्दों के विभागों को सम्मिलित नहीं किया गया है। प्रातिशाख्य के पूर्वविध छन्दोविस्तार का आधार मन्त्रों के अनेकविध अर्थ हैं। इस विस्तार में छन्दोनामों को वेदार्थज्ञापक संज्ञाएँ माना गया है। देखो वेभाप० १०।९–३१।

४९. वही, १०।१४।

में यति भी होती है। डा० मैकडानल का विचार है कि इस प्रकार वैदिक छन्द अवेस्ता के छन्दों और लौकिक संस्कृत के छन्दों के बीच के ठहरते हैं क्योंकि अवेस्ता में केवल वर्णसंख्या होती है और लौकिक संस्कृत में उन का परिमाण भी नियत होता है। परन्तु इन दोनों ही प्रकार के छन्दों में वैदिक छन्दों की-सी अर्थानुसारी योजना का अभाव पाया जाता है। अतिच्छन्दस् विच्छन्दस् भूरिक् विराट् और निचृत् छन्दों के लक्षणों से ज्ञात होता है कि परम्परा वैदिक छन्दों में वर्णसंख्या पर ही विशेष बल देती है वर्णपरिमाण पर नहीं।

८४ सामान्यतः एक सूक्त में एक ही छन्द के मन्त्र मिलते हैं। कई बार सूक्तसमाप्ति पर एक मन्त्र भिन्न छन्द में भी पाया जाता है। कुछ सूक्तों में दो या तीन तीन मन्त्रों के जोड़े भी पाये जाते हैं। युग्म मन्त्रों में भिन्न भिन्न छन्दों के दो मन्त्र एक साथ प्रयुक्त होते हैं। इन्हें प्रगाथ कहते हैं। मण्डल ८ में इन का बाहुल्य है। तीन मन्त्रों के जोड़ों—तृचों में तीनों मन्त्रों का छन्द एक ही होता है। बहुधा यह छन्द गायत्री होता है।

ऋग्वेद का धर्म

८५ आधुनिकों के मत में ऋग्वेद के धर्म में विभिन्न देवताओं की पूजा प्रधान है। ये देवता मुख्य रूप से प्राकृतिक दृश्यों की पुरुषविध कल्पनाएँ हैं। वैदिक सूक्त इन्हीं देवताओं से की गई प्रार्थनाएँ हैं। इन के साथ सोम और घी की आहुतियाँ देनी भी अभीष्ट रही हैं। इस प्रकार यह धर्म बहुदेवतावादी है और ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीनतम सूक्तों में विश्वदेवतावादी (विराड्वादी) लक्षित होता है।

८६ ऋग्वेद में देवताओं की संख्या सामान्यतः ३३ बतायी गयी है। इन्हें तीन क्षेत्रों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विभक्त किया गया है। प्रत्येक श्रेणी में ग्यारह ग्यारह देवता हैं। इन में मरुत् आदि सब देवताओं की गणना नहीं की गयी है।

८७. देवताओं का जन्म भी हुआ है। उन का आदि है। परन्तु वे सब एक साथ उत्पन्न नहीं हुए। ऋग्वेद में प्राचीन देवताओं का उल्लेख आया है। कुछ देवताओं को अन्यों की सन्तति बताया गया है। सोम पी कर अथवा अग्नि और सविता से सोम पा कर देवता अमर बने हैं। अतः पहले वे अमर नहीं—मर्त्य मानव थे।

८८. देवताओं को पुरुषविध रूप में वर्णित किया गया है। उन के शरीर के अंगों का बहुतः वर्णन किया गया है। ये अंग विविध प्राकृतिक दृश्यों आदि के रूपकात्मक वर्णन हैं। उदाहरण के लिए सूर्य की किरणें ही उस के हाथ हैं और अग्नि की ज्वालाएँ ही उस की जिह्वा और शरीर के अंग हैं। कुछ देवता, विशेषतः इन्द्र योधा के रूप में वर्णित किये गए हैं। अग्नि और बृहस्पति आदि कतिपय देवता पुरोहित बताये गये हैं। सब देवताओं के रथ हैं जिन्हें घोड़े खींचते हैं। कुछ देवताओं के रथों को अज अथवा अन्य पशु चलाते हैं। इन वाहनों से देवता आकाश में से होते हुए यज्ञ पर आते हैं। देवताओं और मनुष्यों का प्रिय भोजन दूध, घी, अन्न, भेड़, बकरियों और ग्राम्य पशुओं का मांस है। ये वस्तुएँ देवताओं को यज्ञ में आहुति देकर भेंट दी जाती है। यज्ञ में आहुत पदार्थों को अग्नि स्वर्ग में देवताओं तक पहुँचा देता है। देवता स्वयं भी यज्ञ वेदी पर बिछी घास पर आ कर इन आहुतियों को ग्रहण करते हैं। देवताओं का इष्ट और मादक पेय पदार्थ सोमलता का रस है। विष्णु का उच्चतम पद—तीसरा द्युलोक—स्वर्ग देवताओं का निवास स्थान है। यहाँ वे सोमरस से तृप्त हो कर आनन्द का जीवन बिताते हैं।

८९. देवताओं के गुण अनेकविध हैं। इन में सर्वप्रधान उन की शक्ति है। वे महान् और परम शक्तिशाली हैं। वे प्रकृति को नियम में रखते हैं और पाप की गुप्त शक्तियों को नष्ट करते हैं। उन का शासन समस्त प्राणियों पर है। कोई उन के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वे प्राणियों की आयु का मान करते हैं। मानव की कामनाएँ उन की कृपा से ही पूर्ण होती

[हैं। देवता दयालु हैं और मनुष्यों को समृद्धि देते हैं। केवल एक रुद्र ही ऐसा देवता है जो उग्र स्वभाव है और हिंसा की प्रवृत्ति भी रखता है। देवता सत्य हैं। किसी को धोखा नहीं देते हैं। वे सच्चे और धार्मिकों के रक्षक हैं परन्तु पाप और अपराध को क्षमा नहीं करते हैं।

९० देवताओं का स्वरूप अभी पूरा विकसित नहीं हुआ है। अभी उन में से प्राकृतिक तत्त्वों का निराकरण नहीं किया गया है। अतः उन का स्वरूप अनिश्चित और व्यक्तित्व से विहीन है। कई बार दो देवताओं की एक साथ स्तुति की जाती है और उन्हें समान गुणों से विभूषित किया जाता है। इन में से कुछ गुण तो एक देवता से ही सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे के क्षेत्र से बाहर होते हैं। इस प्रकार समस्त देवताओं को समस्त गुणों से विभूषित करने की प्रवृत्ति से एक दूसरे से तादात्म्य की भावना सुगम हो गयी। ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीन मन्त्रों में यह भावना व्यक्त भी हुई है। परन्तु यह एकेश्वरवाद में कभी विकसित न हो सकी। एक सूक्त में अदिति और प्रजापति का समस्त देवताओं और प्रकृति से तादात्म्य बताया गया है।

देवताओं का वर्गीकरण

९१ समस्त देवताओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—१ द्युस्थानीय, २ अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवीस्थानीय। प्रथम वर्ग में द्यौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, अश्विनौ उषस् और रात्री आते हैं। इन्द्र, अपां नपात्, रुद्र, मरुत्, वायु पर्जन्य और आपः अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं तथा पृथिवी, अग्नि और सोम पृथिवीस्थानीय।

प्रमुख देवता

९२ ऋग्वेद में ये देवता बहुत प्रमुख हैं और अनेकों सूक्तों के देवता हैं। वरुण ऋत का देवता है। वह पापियों को अपने पाश से बाँधता है।

मित्र, सूर्य, सवितृ और पूषन् सूर्य के विभिन्न पक्ष हैं। उषस् उषाकाल की देवता है। यह प्रतिदिन आती है। पुरानी होते हुए भी सदा नयी है। इस के आने पर यज्ञ होते हैं। यह सूर्य की पत्नी और पुत्री है। इन्द्र ऋग्वेद में युद्ध का देवता है। यह वृत्र आदि राक्षसों का वध करता है और सात सिन्धुओं को मुक्त करता है। रुद्र सुखकारक भी है और पापियों को दण्ड देने वाला भी। यही आगे चल कर पौराणिक शिव में परिवर्तित हो गया है। सम्भवतः इन के वर्णनों के मूल में त्र्यम्बक नारिकेल का पुरुषविध रूप भी हो।[50] अग्नि का भौतिक रूप ही प्रमुख रूप से वर्णित हुआ है। यह विद्युत् और सूर्य के रूप में भी आती है। यह हवियों को देवताओं के पास ले जाती है और यज्ञ का साधन है। सोम एक लता का रस है। जिसे पी कर इन्द्र असुरों को जीतता है और देवता अमर हो जाते हैं।

अल्पस्तुत देवता

९३. कुछ अल्पस्तुत देवता भी हैं। त्रित विद्युत् प्रतीत होता है। यह भारत-ईरानी काल का है। मातरिश्वा स्वर्ग से मनुष्यों के लिए अग्नि लाता है। पार्थिव देवताओं में सिन्धु, विपाश् और शुतुद्री आदि नदियाँ आती हैं। इन में सरस्वती सर्वप्रमुख है और बहुधा वर्णित हुई है। ऋग्वेद के समस्त वर्णनों में इस का नदीभाव कभी भी विस्मृत नहीं हुआ है।

अमूर्त देवता

९४. विचारों के विकास के साथ कतिपय अमूर्त देवताओं की भी कल्पना की गयी। ऐसे कुछ देवता तो प्रमुख देवताओं के विशेषण मात्र हैं जो कालान्तर में देवता के रूप में कल्पित कर लिये गये। धाता पृथिवी,

---

५०. देखो सुधीन्द्रकुमार गुप्त, कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) एण्ड दी ओरिजिन ऑफ शिव कल्ट, आर्टओका० (सं.) १९४८।

गुलाव, चन्द्र और सूर्य को बनाता है। विधातृ, धर्तृ, त्रातृ और नेतृ का वर्णन अप्रासंगिक है। त्वष्टा का अनेक बार वर्णन हुआ है परन्तु उस का कोई सूक्त नहीं है। वह देवशिल्पी है। उस ने इन्द्र का वज्र और चमस बनाया है। वह सोम का रक्षक और सरण्यु का पिता है। प्रजापति संसार का रचयिता है। विश्वकर्मन् और हिरण्यगर्भ भी पहले विशेषण थे। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम—किस देव की हम हवि से सेवा करें' से हिरण्यगर्भ के विशेषण से देवता रूप में विकसित होने का क्रम लक्षित होता है। बृहस्पति ही ऐसा देवता है जो ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन दोनों भागों में पाया जाता है।

९५ अमूर्त देवताओं के दूसरे वर्ग में भाववाचक संज्ञाओं से बने देवता आते हैं। इन में मन्यु 'क्रोध', श्रद्धा, अनुमति '(देवों की) अनुकूलता', अरमति 'भक्ति', सूनृता, असुनीति और निर्ऋति आते हैं। मन्यु के दो सूक्त हैं और श्रद्धा का एक।

देवियाँ

९६ एक अन्य अमूर्त देवता अदिति की ऋग्वेद में सर्वत्र ही स्तुति मिलती है। इस का प्रमुख कर्म भौतिक यन्त्रणाओं और नैतिक पापों से मुक्त करना है। वह आदित्यों की जननी है। दिति का केवल तीन ही बार नाम आया है।

९७ ऋग्वेद में देवियों का स्थान अति गौण है। इन में सर्वप्रमुख उषा है। फिर सरस्वती का स्थान आता है। इस के दो सूक्त हैं। वाक् का एक सूक्त है। पृथिवी, रात्री और अरण्यानी के भी एक एक सूक्त हैं। देवताओं की पत्नियां अग्नायी, इन्द्राणी और वरुणानी आदि का व्यक्तित्व नगण्य है। उन का कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता।

युग्म देवता

९८. ऋग्वेद के धर्म की एक विशेषता युग्म देवता है। ये द्वन्द्व समास से व्यक्त किये गये हैं। दोनों ही देवतानाम द्विवचन में प्रयुक्त होते हैं और एक दूसरे के वाचक हैं। इन में सब से अधिक स्तुति मित्रावरुणा की हुई है। द्यावापृथिवी का नाम बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। यह जोड़ा भारोपीय युग का है।

संघ देवता

९९. देवताओं के कुछ अनिश्चित से समूह भी मिलते हैं। इन का किसी विशेष देवता से सम्बन्ध होता है। मरुतों का सम्बन्ध इन्द्र से है। इन की संख्या सर्वाधिक है। आदित्यों का नायक वरुण है। ये सदैव अदिति के साथ वर्णित किये गये हैं। इन की संख्या सात है जो मार्तण्ड को गिनकर आठ हो जाती है। एक मन्त्र में इन में से छह का नाम आया है–मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष, अंश। सम्भवतः सूर्य सातवाँ था। वसुओं का न व्यक्तित्व स्पष्ट है न उन की संख्या बतायी गयी है। इन का प्रमुख इन्द्र है। विश्वे देवाः की स्तुति बहुत से सूक्तों में की गयी है। यद्यपि नाम से यह सब देवताओं का द्योतक मालूम होता है परन्तु अनेक बार इन की स्तुति अन्य देवताओं यथा वसु और आदित्यों के साथ की गयी है।

लघु देवता

१००. ऊँचे और प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ छोटे देवता भी हैं। इन में प्रमुख ऋभु हैं जिन के ग्यारह सूक्त हैं। ये अपने कौशल से ही देवता बने हैं। इन्हों ने त्वष्टा के एक चमस को चार बनाया। इन्हों ने अपने माता-पिता को पुनः जवान बनाया। इन के इन दोनों और अन्य तीन चमत्कारों के अनेकविध व्याख्यान दिये गये हैं।

१०१ ऋग्वेद में अप्सराओं का भी बहुधा उल्लेख मिलता है। ये गन्धर्वपत्नियाँ हैं। ये एक से अधिक हैं परन्तु नाम केवल उर्वशी का ही आया है। गन्धर्व एक ही है जो अन्तरिक्ष में रहता है, दिव्य सोम की रक्षा करता है और जलों से सम्बन्धित है।

रक्षक देवता

१०२ कुछ देवता रक्षक स्तर के भी हैं। वास्तोष्पति घर का देवता है। वह घर में शुभवश का दाता रोगों को दूर करने वाला रक्षक और समृद्धि देने वाला है। क्षेत्रस्य पति पशु और घोड़े देता है और कुशलक्षेम का स्वामी है। सीता से खेती और समृद्ध कामनाएँ प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गयी है।

पार्थिव वस्तु—देवता रूप में

१०३ प्रकृति के प्रमुख दृश्यों के अतिरिक्त भूमि के विभिन्न स्वरूप और कृत्रिम पदार्थ भी देवता रूप में कल्पित किये गये हैं। इन में पर्वतों को अन्य देवताओं या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के साथ वर्णित किया गया है। ओषधियों का एक सूक्त है। ये रोगों को दूर करती हैं। यज्ञ की वस्तुओं में यूप, बर्हि द्वारा देवी, ग्रावाण, उखल और मूसल हैं। ग्रावाण अमर अजर, द्युलोक से भी अधिक समर्थ और राक्षसों तथा नाश के अपहर्ता हैं। वर्म, इषु इषुधि धनुष् और ढोल की भी एक सूक्त में स्तुति की गयी है।

असुर

१०४ ऋग्वेद में वर्णित असुर दो प्रकार के हैं—१ ऊँचे और शक्ति शाली असुर देवताओं के आकाशीय शत्रु हैं। इन्हें असुर बहुत कम कहा गया है। दास या दस्यु से इन्हें बहुधा पुकारा गया है। यह नाम सामान्यतः भारत के आदि निवासियों के माने जाते हैं। ऋग्वेद में देवासुर युद्ध नियमित

रूप में एक देवता और एक असुर में ही होता है यथा इन्द्र और वृत्र का संग्राम। वृत्र का ही सर्वाधिक उल्लेख आया है। उस की माता दानु है। दूसरा शक्तिशाली असुर वल है। यह गौओं की अपया (गुफा, बाड़ा) का ही पुरुषविध रूप है। वह इस अपया की रक्षा करता है। अंगिरस आदि अपने सहायकों के साथ इन्द्र इस बाड़े से गायों को निकालता है। इन्द्र के अन्य शत्रु राक्षसों में से अर्बुद एक दुष्ट हिंसक पशु है। इन्द्र इस की गौओं को छीन लेता है। विश्वरूप त्वष्टा का पुत्र है। इस के तीन सिर हैं। त्रित और इन्द्र इसे मार कर इस की गौओं को छीन लेते हैं। स्वर्भानु सूर्य को निगलने वाला है। कुछ अन्य दास भी है जिन्हें इन्द्र मारता है। राक्षसों का एक वर्ग-पणि इन्द्र का प्रमुख शत्रु है। इन्द्र सरमा (एक कुतिया) की सहायता से उन के स्थान को खोज कर उन से गौओं को छुड़ाता है।

१०५. दूसरे वर्ग में पार्थिव राक्षस आते हैं। ये मनुष्यों के शत्रु हैं। इन का सामान्य नाम रक्षस् है। इन का वर्णन सामान्यतः किसी देवता के साथ आता है। वह देवता इन राक्षसों का वध करता है। यातु और यातुधान अनेक बार राक्षसों के साथ वर्णित हुए हैं। संभवतः ये गुप्तचर हों। पिशाचों का ऋग्वेद में वर्णन विरल है।

१०६. लगभग तीस सूक्तों में देवताओं की स्तुति आदि से भिन्न विषय मिलते हैं। इन में से लगभग एक दर्जन सूक्तों में जादू और तान्त्रिक क्रियाओं का वर्णन है। ये अधिकांश रूप में दशममण्डल तक ही सीमित हैं। उन के विषय शकुन (२।४२–४३), विषापनयन (१।१९१), रोग की निवृत्ति (१०।१६३), बच्चों के हिंसक राक्षस के नाश (१०।१६२), शत्रुओं के लिए दुर्भावना (१०।१६६) या सपत्नीमर्दन (१०।१४५) है। कुछ सूक्तों में आयुरक्षा (१०।५८, ६०), निद्रा लाना (५।५५) या सन्तति प्राप्त करना (१०।१८३) का वर्णन है। एक सूक्त (७।१०३) में मण्डूकों की स्तुति है जो वर्षा के लिए की जाती है।

ऋषि दयानन्द का मत

१०७ इस के विपरीत ऋषि दयानन्द ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में इस बात की घोषणा की है कि ऋग्वेदीय धर्म एक ईश्वर की पूजा का विधायक है।[51] अपने वेदभाष्यों में इन्हों ने अग्नि[52] सविता,[53] इन्द्र,[54] और वरुण आदि पदों का परमात्मा अर्थ किया है। अपने भाष्यों में आप ने कहीं भी यह भाव नहीं झलकने दिया है कि वेद में अग्नि देवता, सूर्य देवता, वर्षा देवता, आँधी देवता आदि किन्हीं देवताओं की सत्ता है। आप ने अग्नि और सूर्य का अर्थ क्रम से आग,[55] और सूरज,[56] अवश्य किया है परन्तु उन का अर्थ प्रकाश और गर्मी पहुँचाने वाले आग और सूर्य ही है। संसार में भिन्न २ ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को उन का समुचित प्रयोग करना चाहिए। 'उदाहरणतः भौतिक अग्नि के या बिजली के रूप में कलों में आग का प्रयोग अतुलनीय सम्पत्ति प्रदान कर सकता है।[57] सूर्य की किरणों का प्रयोग स्वास्थ्य, और रोगों से मुक्ति प्रदान कर सकता है और उस का कला आदि में प्रयोग समृद्ध बना देता है।[58]

---

५१ सत्यार्थ प्रकाश (कलकत्ता) पृ० ११४, भूमिका पृ० ५८, ८३। ५२ ऋ० १।७४।१, २, आदि। ५३ ऋ० १।२२।८। ५४ ऋ० १।३।५। ५५ ऋ० १।२५।३। ५६ ऋ० १।५०।३। ५७. ऋ० १।२३।१७ ५८ ऋ० १।१२।७ ८। ५९ ऋ० १।१२।१, ७, ८, इत्यादि। ६० ऋ० १।२।६। इत्यादि।

१९-१-१९५२ के ट्रिब्यून के अङ्क में पृ० ५, कालम ५ (नीचे) पर एक समाचार के अनुसार डा० पं० जवाहरलाल नेहरू ने १७-१-१९५२ को बनारस में एक सभा में भाषण देते [illegible] कहा था कि भारत में कुछ वैज्ञानिकों ने भोजन पकाने के लिए सूर्य की शक्ति के प्रयोग का उपाय खोज निकाला है और पं० जी ने स्वयं इस प्रकार पके हुए भोजन का स्वाद चखा है।

विवेचन

१०८. ऊपर के लेखों से सुस्पष्ट है कि आधुनिक सम्प्रदाय का विचार है कि वेदों में अनेकों देवी-देवताओं की उपासना का विधान है।[६१] आचार्य मैक्समूलर के विचार से वैदिक धर्म हिनोथीयिस्टिक (Henotheistic) है।[६२] उन के मत से यद्यपि ऋग्वेद में अनेकों देवताओं को मान्यता दी गयी है तो भी प्रत्येक शेष अन्यों से स्वतन्त्र रूप में वर्णित किया गया है। पूजा या प्रार्थना के समय एकमात्र वह देवता ही भक्त के मन में उपस्थित होता है। कोई भी देवता अपने पद में ऊँचा या नीचा नहीं माना गया है। पूजा के समय प्रत्येक देवता को 'सत्य, परम और एकमात्र देवता' (as a real divinity as supreme and absolute)' के रूप में अनुभव किया जाता है।[६३]

१०९. प्रो० मैकडॉनल इस विशेषता को वैदिक कवियों की अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

११०. आपको यह बलात् मानना पड़ा है कि वैदिक देवताओं का पुरुषाकार परिच्छेदात्मक वर्णन और चरित्रगत व्यक्तित्व से हीन हैं। वे अभी किञ्चित् मात्र ही विकसित हुए हैं। उन के व्यावर्तक गुण बहुत कम हैं। परन्तु उन में कान्ति, शक्ति, परोपकारिता और बुद्धिमत्ता आदि बहुत से समान गुण पाये जाते हैं। अनेकों बार एक देवता की विशेषताओं को दूसरे देवता में भी बताया गया है। इस से एक देवता के दूसरे देवता से तादात्म्य सम्बन्ध की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद में बहुधा पायी जाती है (उदाहरणार्थ देखो ऋ० ५।३।१)। "अपि च-अग्निपूजक ब्राह्मणों की दृष्टि

---

६१. देखो गुरुदत्त विद्यार्थी, दी टर्मीनोलोजी आफ वेदाज एण्ड यूरोपियन स्कालर्ज. पृ. ४९।

६२. लैक्चर्ज आन दी साइन्स ओफ रिलीजियन पृ० १४१–१४२।

६३. एन्शियेन्ट संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ५३३।

में परम महत्त्वशाली देवता अग्नि के स्वरूप, पृथ्वी पर भिन्न भिन्न अग्नियों के रूपों में उस की विविध अभिव्यक्तियां, बिजली में प्राप्त अन्तरिक्षस्थ अग्नि तथा सूर्य में प्राप्त दिव्य अग्नि, उस के अन्य रूपों—जिन को वैदिक कवि पहेलियों में उल्लिखित करने की बड़ी रुचि रखते हैं—पर रहस्यपूर्ण विचार से यही प्रतीति होती है कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। यह भाव ऋग्वेद के अर्वाचीन सूक्तों के अनेक वाक्यों में पाया जाता है। ऐसे कथन बताते हैं कि ऋग्वेद काल की समाप्ति तक ऋषियों में बहुदेवतावाद में एकेश्वरवाद का पुट लग चुका था।[६४]

१११ श्री मैक्समूलर और श्री मैक्डोनल द्वारा दिये गये वैदिक धर्म के विवरण की सामालोचनात्मक परीक्षा तथा विश्लेषण यह व्यक्त कर देते हैं कि तथाकथित वैदिक देवताओं की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उन का एक-दूसरे से तादात्म्य है तथा उन में गुणों की समानता है। अतः ऋग्वेद के देवताओं के नाम एक ही दिव्यशक्ति परमात्मा के ही विविध नाम हैं। वही शक्ति ऋषियों की भिन्न-भिन्न रुचियों तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण इन विभिन्न नामों से आकारित की गयी है। इस तथ्य को इन दोनों विद्वानों ने समझ लिया है। अतः उन्हों ने घोषणा की है कि देवताओं की इस सारभूत एकता अथवा वैदिक धर्म की एकेश्वरवादिता का ऋषियों द्वारा स्पष्ट उल्लेख शिष्ट सूक्तों की अपेक्षा अर्वाचीन है।

११२ ऋ० १।१६४ का दर्शन अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में दीर्घतमा औचथ्य ने, ऋ० १०।११४ का अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में वैरूप सध्रि ने, ऋ० ५।३।१ का भूम की तीसरी पीढ़ी में वसुश्रुत आत्रेय ने किया था। भूम का पुत्र, अत्रि अनेक बार अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में भरद्वाज का समकालीन वर्णित किया गया है। अतः भूम अङ्गिरा की दूसरी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि वह अङ्गिरा का समकालीन ही हो। इस

६४ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ७०

प्रकार वसुश्रुत अङ्गिरा की चौथी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। अतः समस्त देवताओं की एकता के स्पष्ट रूप से सूचक और प्रख्यापक ये तीन सूक्त और उन के मन्त्र बहुत से उन सूक्तों से प्राचीनतर और कुछ के समकालीन हैं जिन में प्राकृतिक दृश्यों के पुरुषाकार का वर्णन माना जाता है। अतः वैदिक धर्म न बहुदेवतावादी (Polytheistic) हो सकता है न विश्वदेवतावादी (Pantheistic) और न तात्कालिक देवतावादी (Henotheistic)। इस की एकेश्वरवादिता।

> "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद् वदन्ति ।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥"

आदि उपनिषद् वाक्यों, वेदान्त सूत्र (१. १. ४) तथा अन्य ग्रन्थों में जोरदार शब्दों में प्रतिपादित की गयी है। इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि पद परमात्मा के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं—इस तथ्य के घोषक मन्त्र सारी संहिताओं में बिखरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में विश्वामित्र के पिता गाथी कौशिक द्वारा दृष्ट ऋ० ३।२०।३[६६], अङ्गिरा की चौथी पीढ़ी के भृगु के गोत्र लिये

---

६५. ऋग्वेद० २।१५; ऐतरेयब्राह्मण० ५।६ भी देखें।

६६. ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का विषय 'विद्वांसः कथं वर्त्तेरन्' दिया है परन्तु उन का भाष्य बताता है कि यहां पर परमात्मा का वर्णन है। 'देव' पद का हिन्दी अनुवाद अशुद्ध है। 'पृष्ठबन्धो' के संस्कृत और हिन्दी अनुवाद में विषमता प्रतीत होती है। मेरी प्रवृत्ति भावार्थ की भावना के आधार पर हिन्दी अनुवाद को ही शुद्ध मानने की ओर है। प्रकरण के उपयोगी पद 'भूर्णीपि अमृतस्य नाम' हैं।

६७. इस मन्त्र का दयानन्द का व्याख्यान इस से भिन्न है। यह अनुवाद ग्रिफिथ आदि आधुनिक विद्वानों का है, जो प्रकृत कथन को प्रमाणित कर रहा है।

हुए पाते गृत्समद द्वारा दृष्ट ऋ० २।१।३[६७], य० ३२।१, और अथ० १३।४ (१)।४,५ का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद के दोनों मन्त्र ऋग्वेद काल के प्राचीनतम युग के हैं।

११३ प्रा० वेंट्री हादमेश का विचार है कि प्रारम्भिक विचारक की दृष्टि को पदार्थों की एकता की अपेक्षा उन की विषमता ही अधिक प्रभावित करती है। यह प्राकृतिक दृश्यों में परम सत्ता का अनुमान नहीं कर सकता। ऋग्वेदीय धर्म यद्यपि कुछ विकसित हो चुका है तो भी उस में एक से अधिक देवता हैं। तथाकथित ऋग्वेदीय एकेश्वरवादिता के मुख्य आधार ऋ० १।१६४।४६ में दो बल्कि तीन पद हैं जो विशेष रूप से हमारे मन में इस दिशा के लिए एकेश्वरवादी परिभाषा कल्पित करने के औचित्य पर संशय उत्पन्न कर देते हैं। प्रथम तो यहाँ पर देवता के किसी व्यक्तिगत रूप को नहीं वरन् नपुंसक सद् एकम् को वास्तविक आधार बनाया है। दूसरे हम इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि यहाँ पर यह माना गया है कि यह मुख्य आधार (नपुंसक) अनेक रूपों (बहुधा) में व्यक्त हुआ माना गया है। चाहे कुछ भी हो इसी कथन के द्वारा ऋग्वेदीय धर्म की स्थिति में प्रारम्भिक एकेश्वरवाद की भावना व्यावर्तित हो जाती है।[६८]

११४ भाषावैज्ञानिकों तथा भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने यह माना है कि अपनी मातृभाषा के पदों को सीखते समय एक बालक पहले विषमता के स्थलों या व्यावर्तन कर के भिन्न भिन्न पदार्थों के अन्तर्गत एकता के या समानता के सूत्रों को पकड़ता है। वह धीरे-धीरे ही दो पदार्थों के भेद को देख और समझ सकता है। इस लिए जब वह आग, सूर्य, दीपक अथवा अन्य किसी प्रकाशमान वस्तु को देखता है तब वह उन सब के समान गुण—चमक या प्रकाश—से ही प्रभावित होता है। जब वह एक गाय, घोड़े या भैंस को

६८ ऐनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिटयूट अंक सं० २८, १९४७ कैथेनोथिज़्म एण्ड दानस्तुतिज़।

देखता है तब वह उन के समान गुण चतुष्पादत्व से ही प्रभावित होता है। प्रत्येक अवस्था में वह समान गुण वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक ही समझता है।

११५. इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में मानव ने अग्नि, सूर्य और तारे आदि सभी पदार्थों के समान गुणों का ही अवलोकन किया हो सकता है। अपने ज्ञान की प्रथम अवस्था में उन ने उन्हें नियत रूप से समान माना होगा। पीछे जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा उस ने भिन्न-भिन्न पदार्थों में भेद किया होगा। इस प्रकार यह समानता ही है विषमता नहीं जिस ने मानव के चिन्तन की प्रथम अवस्था में उस के मन को ग्रहण किया हो सकता है। सभ्य और संस्कृत लोगों में भी जब दो पदार्थ किसी मनुष्य के सामने लाये जाते हैं तो उन की समानताएं तुरन्त ही उस के मन को आकर्षित कर लेती हैं। भेद का भाव क्रम से पीछे आता है और आयाससाध्य होता है। यह ठीक है कि अधिकांश अवस्थाओं में यह आधान मनुष्य की अव्यक्त चेतना में होता है और इसी लिए प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले व्यक्ति को इस का सप्रयास ज्ञान नहीं होता है। अतः तथाकथित मूल-एकेश्वरवाद (Urmonotheism) ही प्राचीनतम प्रारम्भिक धर्म की एकमात्र आधारभूत विशेषता हो सकती है।

११६. ऋग्वेदकालीन मानव सभ्यता और संस्कृति के मार्ग पर बहुत दूर पहुँच चुका था। उस ने मूल-एकेश्वरवाद, विश्वदेवतावाद तथा बहुदेवतावादों की अवस्थाओं को पार कर लिया था। उस ने प्रकृति के दृश्यों और पदार्थों की सारभूत एकता को मालूम कर लिया था उस ने इस एकता के स्वरूप पर भी विचार कर लिया था। वह इसे न पुल्लिङ्ग कह सकता था न स्त्रीलिंग और न ही नपुंसक लिंग। ऋ० १।१६४।४६ के 'तद् एकम्' में नपुंसक लिङ्ग इसी अनुभव का परिचायक है। यह भाव ऋ० ८।३०।१; केनोपनिषद् उप० ४।३ और ५।१० में व्यक्त किया गया है। पानी और हवा के समान वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। अतः यह प्रत्येक व्यक्ति को उस के अपने विचारों के अनुसार भिन्न रूप वाला प्रतीत होता है।

इस लिए विभिन्न व्यक्ति उस का भिन्न भिन्न ही वर्णन करते है। प्रो० हाइमेन्न को 'अनेक रूपा में अभिव्यक्ति' तथा भिन्न व्यक्तियो द्वारा भिन्न भिन्न वर्णना के परिच्छेदात्मक रूप को समझने में भ्रान्ति हुई है। मन्त्र में ऐसी कोई व्यञ्जना नही है जैसी श्री हाइमेन्न ने निकाली है। इस का यथार्थ भाव यही है कि परमात्मा एक केवल एक ही है। ये मनुष्य ही है जो उस को भिन्न रूपा में वर्णित करते है।

११७ आधुनिक विद्वानो के ऋग्वेदीय धर्म के सम्बन्ध में विचारो का आधार उन की यह कल्पना हो है कि ऋग्वेद काल में मनुष्य अभी बहुत ही अविकसित अवस्था में था। इस कल्पना ने ही वेद और अन्य ग्रन्थो की प्राचीन साहित्यिक परम्परा की प्रभूत साक्षी को ठुकराया है। यही कल्पना वैदिक ग्रन्थो में एकान्तत अविद्यमान देवताओ के नामो के अर्थ में अग्नि और सविता आदि के जाने के लिए उत्तरदायी है। अत इस निराधार होने का कारण त्यागना और दयानन्द के विचारो को यथार्थ मान कर ग्रहण करना ही उचित है।

ऋग्वेद में लौकिक सामग्री

लौकिक सूक्त

११८. ऋग्वेद के कोई बीस सूक्तों में लौकिक (=धर्मेतर) सामग्री मिलती है। इन से भारत की प्राचीनतम संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। इन में से एक विवाह सूक्त (१०।८५) है, पांच सूक्त (१०। १४–१८) मृत्युविषयक हैं। इन में से पहले चार में मृत्यु के देवताओं का वर्णन है और अन्तिम में शव के संस्कार के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

संवादसूक्त

११९. ऋग्वेद में कतिपय पौराणिक संवाद सूक्त भी आते हैं। इनमें वक्ता दिव्य प्राणी हैं (४।६२; १०।५१-५२; ८६; १०८)। दो सूक्तों में मानव ही पात्र हैं। पुरूरवस् और उर्वशी सूक्त (१०।९५) में उर्वशी के प्रेमी पुरूरवस् के आत्मगत विचार हैं। इस में उस कहानी का प्राचीनतम रूप है जिस को कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में गुम्फित किया है। एक सूक्त (१०।१०) यम और यमी का संवाद है, जिन्हें सामान्यतः मानव जाति के आदि माता-पिता और परस्पर में भाई-बहन माना जाता है।[69] ये संवादसूक्त आगे आने वाले नाटकों का प्रारम्भ कहे जा सकते हैं।[70]

---

६९. क्रम० ने इस में निर्वाण का वर्णन माना है। यमी उन के अनुसार यम की बहन नहीं है, बल्कि कोई अन्य स्त्री है।

७०. देखो सुशील कुमार गुप्त, संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, १०। ७–१३।

नीतिसूक्त

१२० ये सख्या में चार है। एक (१०।३४) में एक जुआरी का जुआ खेलने से बिगड़ी हुई अपनी दशा का चित्रण है। एक (९।११२) में मनुष्यों की लक्ष्मी के पीछे दौड़, एक (१०।७१) में वाणी की प्रशंसा, एक (१०। ११७) में शुभ कर्मों की महत्ता के चित्रण मिलते हैं।

पहेलियाँ

१२१ दो सूक्तों में पहेलियाँ हैं। एक (८।२९) में नामों को छिपा कर विभिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है। एक ५२ मन्त्रों के सूक्त (१।१६४) में अनेक समस्याएँ रक्खी गयी हैं जिन में से अधिकांश को डा० मैक्डॉनल सूर्य से सम्बन्धित बताते हैं। इस की भाषा रहस्यात्मक और प्रतीक रूप है। उदाहरण के लिए एक समान वृक्ष पर स्थित दो पक्षी ईश्वर और जीव हैं, और वृक्ष प्रकृति।

सृष्टिसूक्त

१२२ लगभग आधे दर्जन सूक्तों में ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना का वर्णन है। नासदीय सूक्त (१०।१२९) में सृष्टि से पहले सत् और असत् की सत्ता का निषेध कर अपने सामर्थ्य से विद्यमान एक सत् का वर्णन किया गया है। उसी से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

दानस्तुतियाँ

१२३ कुछ सूक्त और मन्त्रों में दानस्तुतियाँ हैं। ये अर्ध-ऐतिहासिक हैं। इन से वैदिक ऋषियों और उन के आश्रयदाताओं की वंशावलियों और कुछ जातियों के नामों का पता मिलता है। ये अर्वाचीन हैं। इन में से अधिकांश प्रथम, दशम और ८ वें मण्डल के परिशिष्ट भाग में उपलब्ध होती हैं।

भौगोलिक सामग्री

१२४. ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक परिस्थितियों, विशेष रूप से नदी सूक्त से आधुनिक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय वैदिक आर्यजन पंजाब और पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर प्रान्तों के प्रदेश में रहते थे। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों के निर्देश से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

१२५—परन्तु ऋग्वेद के ऋषि समुद्र से परिचित थे। इस का उल्लेख चौथे, पांचवें और दसवें मण्डल में एक-एक बार आया है। नदी सूक्त में वर्णन पूर्व से पश्चिम की ओर चलता है। यह गंगा से प्रारम्भ होता है। अतः मन्त्र रचनाकाल में आर्य उत्तरप्रदेश के बहुत से भाग में अवश्य स्थित थे। यदि पूर्व उद्धृत सी–१४ के अनुसन्धान के परीक्षण के निष्कर्षों को स्वीकार किया जाए तो उस समय आर्य मध्यप्रदेश में भी फैल चुके थे। यह अन्तिम निष्कर्ष अभी अन्वेषणीय है।

ऐतिहासिक सामग्री

१२६—ऋग्वेद में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से यह सुव्यक्त होता है कि आर्य अभी भारत के आदि निवासियों से युद्ध में व्यस्त थे। वे अनेकों विजय प्राप्त कर चुके थे और विजेता के रूप में आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि वे अनेकों जनों में विभक्त थे परन्तु उन में धार्मिक और जातीय एकता की भावना प्रबल थी। वे यहां के निवासियों को यज्ञ न करने वाले, नास्तिक, कृष्ण वर्ण, अनार्य दास वर्ण कहते थे।

१२७—परन्तु यह मत विचारणीय है। जैसा इस संग्रह में रुद्रसूक्त में दिखाया गया है कृष्ण और दास वर्ण पारिभाषिक पद हैं और सृष्टि से पूर्व के[31] अन्धकार के द्योतक हैं। ऋग्वेद में दास हेय नहीं हैं वे आर्यों के

---

३१. देखो ऊपर पा० भूमिका—सृष्टि की स्थिति।

समान स्तर के ही प्राणी है। अत इस समस्या पर पुन नई दृष्टि से विचार आवश्यक है।

सामाजिक अवस्था

१२८—सूक्तों में इधर-उधर बिखरी हुई सामग्री से तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर काफी प्रकाश प्राप्त होता है। वश में पिता सर्वोपरि होता था। कुटुम्ब ही समाज की इकाई और आधार थे। स्त्रियों को बहुत स्वतन्त्रता और सम्मान प्राप्त थे। बहुत से अपराधों का भी वर्णन मिलता है जिन में पशुओं की चोरी प्रमुख थी। ऋण लेने की प्रथा भी थी। इस का एक कारण जुआ खेलना भी था। वस्त्रों में एक उत्तरीय और एक अधोवस्त्र होते थे। ये भेड की ऊन से बनाए जाते थे। कडे, नूपुर, हार और बालियाँ पहनी जाती थी। लोग दाढ़ी-मूछ रखते थे। कुछ उन्हें मुडवाते भी थे। भोजन सामग्री में दूध, घी, अन्न, सब्जियाँ और फल प्रमुख थे। आधुनिक कतिपय विद्वान् मानते हैं कि जब यज्ञो मे पशुओ की बलि दी जाती थी तभी आर्य लोग मास खाते थे। डा० मैकडानल का विचार है कि सामान्यत यह मास गौ का होता था क्या कि यज्ञ में बैलो की ही बलि विशेष रूप से दी जाती थी। परन्तु यह विचार मान्य नहीं। वेद में कोई ऐसा स्थल नहीं जहाँ निर्विवाद रूप स ऐसी ध्वनि निकाली जा सके।[72] पशुयज्ञ आलकारिक है।[73] हवन की सामग्री भी पशु है।

१२९—कई प्रकार की शराब भी बनाई जाती थी। सोम यज्ञो में

---

७२ देखो सुधीरकुमार गुप्त, ऋग्वेद में मास भक्षण की समस्या, वेद सम्मेलन, सूरजा अधिवेशन (सक्षेप) तथा सीएमडी०, सोट ईटिग इन दी ऋग्वेद।

७३ वैभाष० ६।

पिया जाता था, परन्तु किसी अन्न से निकाली हुई शराब-सुरा सामान्य अवसरों पर प्रयोग की जाती थी। परन्तु यह मत गवेषणीय है। एक मन्त्र में (ऋ० १।११६।७) में सुरा शराब नहीं हो सकती यह अश्व के शफ से निकाली जाती है। शेष स्थलों पर इसे बुरी दृष्टि से देखा गया है (तु० कु० दुर्मदासो न सुरायाम्)।

व्यवसाय

१३०—भारतीय आर्यों की एक प्रमुख व्यापृति युद्ध थी। यह युद्ध पैदल भी होता था और रथ पर भी। परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि घोड़ों पर चढ़ कर भी युद्ध किया जाता था। सामान्य शस्त्र बाण और धनुष थे। भाले और कुल्हाड़ी का भी प्रयोग किया जाता था।

१३१—जीवन का प्रधान आधार पशुपालन प्रतीत होता है। अनेक बार गौओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। कृषि भी बहुत होती थी। खेतों में हल चलाए जाते थे। इन में बैल जोते जाते थे। अन्न दरांतियों से काटा जाता था और कूट कर साफ किया जाता था।

१३२—हिंसक वन्य पशुओं को जाल में पकड़ा जाता था या धनुष और बाण से मार दिया जाता था। इस में कुत्तों की भी सहायता ली जाती थी।

१३३—नौकाओं को पतवारों से खेया जाता था। नौका ही नदी तरण का प्रमुख साधन थी। वाणिज्य विनिमय द्वारा होता था जिस का साधन गाय थी। मैक्डोनल के विचार में कुछ व्यवसाय और शिल्प कलाएँ अविकसित रूप में थे। परन्तु ऋभुओं के रथ और चमस के निमार्ण, त्वष्टा और वृषु तक्षा के कार्यों की दृष्टि में यह कथन मान्य नहीं। रथकार और बढ़ई एक ही होते थे। लुहार लोहे की भट्टी पर पिघलाते थे और इस से धातु के बर्तन आदि बनाते थे। चमार पशुओं के चमड़े को

साफ करते थे। स्त्रियाँ घास या मूज की चटाई बनाती थी। वे सीती और बुनती भी थी।

मनोविनोद

१३४—मनोविनोदों में रथो की दौड़ प्रमुख थी। सर्वप्रिय सामाजिक विनोद द्यूत क्रीडा था। नाच अधिकतर स्त्रियों में प्रचलित था। लोग संगीत के प्रेमी थे। वे दुन्दुभि, वीणा और वाण का प्रयोग करते थे। गाने का भी उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन

१३५—सामान्य रूप से ऋग्वेद सरल शैली में लिखा गया है। इस में सामान्यत समासो का अभाव है। जो समास हैं उन में दो से अधिक पद नहीं मिलते हैं। शब्दों का चुनाव कौशलपूर्ण है। समस्या-मन्त्रो को छोड कर सामान्यत भाव-प्रकाशन में क्लिष्टता और दुरूहता नहीं है। शब्दो से खिलवाड भी लक्षित नही होती है। ग्रन्थ की प्राचीनता की दृष्टि से यह मानना पडेगा कि छन्दों की रचना में महान् कौशल है और भाषा पर पूरा अधिकार है। इस ग्रन्थ की रचना का लक्ष्य यज्ञो में मन्त्रो को प्रयुक्त करना था। उस काल में याज्ञिक रीतियाँ बहुत सरल थी। वे पर्याप्त नियमित हो चुकी थी। अत इसके मन्त्रो में बहुत उपलब्ध याज्ञिक सकेतों ने इस काव्य के सौदर्य को बिगाड दिया है। यह स्थिति अग्नि और सोम के सूक्तो में सविशेष परिलक्षित होती है। यहाँ पर मिथ्या कल्पनाओ और अस्पष्ट रहस्यमय वचनो का प्रबल प्रभाव है। देवताओ की स्तुतियो में बहुत सुन्दर और उदात्त कल्पनाएँ मिलती हैं। यद्यपि विभिन्न सूक्तो में साहित्यिक गुणो में पर्याप्त भेद है, परन्तु सामान्यत इस ग्रन्थ का साहित्यिक स्तर पर्याप्त ऊँचा है।

१३६—उषस् सूक्त ऋग्वेद के सुन्दरतम अशो में से है। ये अन्य साहित्यों की धार्मिक गीतियो से किसी अवस्था में अवर नहीं हैं। इन्द्रवृत्र

युद्ध के वर्णन में कतिपय चित्रमय रोचक वर्णन मिलते हैं। मरुत्सूक्तों में स्तनयित्नु, विद्युत् और झंझावात के दृश्यों के वर्णन में ओजस्वी कल्पनाएं पाई जाती हैं। वरुण के नैतिक शासन के विविध रूपों के वर्णन में काव्य का उत्कृष्ट रस ओतप्रोत है। कुछ पौराणिक संवादसूक्त स्थिति को परम ललित भाषा में प्रस्तुत करते हैं यथा सरमा और पणियों तथा यम और यमी के संवादों में। अक्षसूक्त करुणकाव्य का सुन्दर रत्न है। एक सूक्त (१०।१८) में मृत्यु से सम्बन्धित भावों को प्रभावोत्पादक और गम्भीर सौंदर्य से पूर्ण भाषा में व्यक्त किया गया है। नासदीय सूक्त से सुव्यक्त हो जाता है कि गूढ़ दार्शनिक भाव भी उत्तम काव्य का विषय बन सकते हैं।

१३७—यद्यपि ऋग्वेद में पुनरावृत्ति बहुत है। वे ही शब्द और भाव पुनः पुनः आते हैं, परन्तु उस में" विरसता नहीं आने पाई है।

१३८—आधुनिक वेदाध्ययन ऋग्वेद को साहित्यिक काव्य मानता है। इस दृष्टि से यह मूल्यांकन ठीक है। परन्तु ऋग्वेद की भाषा शुद्ध साहित्यिक है, यह और कुछ नहीं, ऐसा मानना कठिन है। ऋग्वेद के पुन-रुक्त अंशों का व्यावर्तन शैली पर अध्ययन बताता है कि वैदिक पद कृत्रिम हैं, वे जान-बूझ कर रची गई परिभाषा है, जिन को सामान्य काव्य के पदों के सदृश मानना कदाचित् पूर्णतः समीचीन न हो। परन्तु उन पदों की योजना इस विलक्षण ढंग से की गई है कि आपाततः मन्त्र काव्य के पद मालूम पड़ते हैं और उन में काव्य का महान् आनन्द भी प्राप्त होता है।

ऋग्वेद की व्याख्यान पद्धति

१३९—वेद की व्याख्यापद्धति की समस्या वैदिक काल में ही जन्म ले चुकी प्रतीत होती है। आधुनिक अध्ययन में यह मान कर चला जाता है कि वेद ऋषियों की इसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिस प्रकार की रचनाएँ कवियों के काव्य होते हैं। वे किसी एक अर्थ को लक्ष्य कर के लिखे गये।

अत उनका एक ही अर्थ मिलना और होना चाहिए। परन्तु जब ब्राह्मणों पर दृष्टि डालते हैं तो वहाँ अग्नि, इन्द्र आदि पदों के अनेक विध अर्थ दिए गये है। इन अर्थों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों के साथ-साथ ऐतिहासिक और नैरुक्त आदि सिद्धान्तों का प्रयोग भी लक्षित होता है। शांखायन आरण्यक में 'चित्र देवानाम्' मन्त्र के लगभग १३ दृष्टियों से अर्थों का उल्लेख किया है। निघण्टु में वैदिक पदों का सकलन, विशेषत पदनामों का सग्रह वेदाध्ययन में सहायता पहुँचाने के लिए किया गया। निरुक्तकार ने बहुत से वेदार्थ के सम्प्रदायों-नैरुक्त, ऐतिहासिक, आख्यान समय पूर्व याज्ञिक याज्ञिक नैदान पारिव्राजक आर्ष आदि का उल्लेख किया है। उन के मत भी दिए हैं और उन की आलोचना भी की है। साथ ही औपमन्यव, शाकटायन, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि आदि अनेकों वेद व्याख्याताओं के नाम और उन के मतो का निर्देश किया है। वहाँ कौत्स के नाम से मन्त्रों के अर्थहीन होने का विवाद प्रस्तुत कर मन्त्रों की सार्थकता और उन के अध्ययन की उपयोगिता बताई है। वेदार्थ करने के लिए यास्क, स्कन्द और वेंकट माधव ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदार्थ करने के नियम भी दिये हैं। वेंकटमाधव ने तो वेदार्थ की समस्या को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर वेदार्थ का एक नया सम्प्रदाय—ऐतिहासिक-पौराणिक चलाया।

१४०—पिछली शताब्दी में जब पश्चिमी विद्वानों को ऋग्वेद का परिचय मिला तो उन को उसे समझने में बड़ी कठिनता हुई। उस से पूर्व वे लौकिक सस्कृत से परिचित थे। परन्तु यह भाषा वेद की भाषा से साम्य रखते हुए भी उस से अनेक बातों में भिन्न है। सौभाग्य से उन्हें सायणाचार्य का वेदभाष्य मिल गया और उस की सहायता से ऋग्वेद का अध्ययन चालू हो गया। पहले तो विद्वानों ने समझा कि सायण ने परम्परा के अनुसार अर्थ दिए हैं। अत विल्सन आदि ने उस के आधार पर अपने अर्थ प्रस्तुत किए।

१४१—परन्तु शीघ्र ही इस धारणा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इस प्रतिक्रिया के प्रमुख नायक रौथ थे। इन्हों ने सायण के बहिष्कार

का नारा लगाया। उन्हों ने दिखाया कि सायण और यास्क के अर्थ विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि उन का प्रमुख आधार व्याकरण की प्रक्रिया है। सायण वैदिक काल से बहुत दूर के युग में हुए। उन को अविच्छिन्न परम्परा नहीं मिली हो सकती। सायण ने यास्कीय निरुक्त को आधार और प्रमाण बनाकर अपना भाष्य रचा है, परन्तु बहुत से मन्त्रों के अर्थ में यास्क स्वयं निश्चयात्मक रूप से नहीं लिख सके हैं और इस कारण वहां एक-एक पद के कई-कई अर्थ भी दिए हैं जैसे जातवेदस् के पांच अर्थ। उन का कोई प्रामाणिक आधार नहीं था। उन ने बहुत से आचार्यों और वेदार्थ सम्प्रदायों को उद्धृत किया है जिन में परस्पर महान् मतभेद लक्षित होता है। नासत्यौ का व्याख्यान और्णवाभ ने 'सत्य, असत्य नहीं', आग्रायण ने 'सत्य के प्रणेता' और स्वयं यास्क ने 'नासिका से उत्पन्न' किया है। जब यास्क सन्देह में होते हैं तो वे निर्वचन का आश्रय लेते हैं। उन के व्याख्यान बहुधा कल्पनामात्र हैं। यह अवश्य है कि सायण की अपेक्षा यास्क के पास वेदव्याख्यान के अधिक अच्छे और विश्वस्त साधन रहे होंगे।

१४२—सायण ने अपने भाष्यों में कई बार यास्क से भिन्न अर्थ किया है। इन दोनों में से एक ही शुद्ध हो सकता है। अतः या तो यास्क भूल करते हैं अथवा सायण ने परम्परा का उल्लंघन किया है। सायण ने एक ही पद के एक ही स्थान पर अथवा विभिन्न स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न व्याख्यान दिए हैं—यथा असुर 'दिव्य सत्ता' के अर्थ 'शत्रुओं का नाशक, शक्तिदायक, जीवन देनेवाला, अनिष्ट का नाशक, पुरोहित, प्राणहारक, जलप्रद, जल निकाल लेनेवाला' आदि दिए हैं।

१४३—अतः सायण और यास्क ऋग्वेद के बहुत से पदों के विषय में निश्चित ज्ञान से वञ्चित थे। इस कारण उन अर्थों को सम्भावना, प्रकरण और समान वाक्यों से पुष्ट होने पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

१४४—इस प्रकार सायण और यास्क के अर्थों का तिरस्कार और

यहिश्वार तट के भाषाविज्ञान के प्रवर्तक रौथ ने आलोचनात्मक शैली का प्रतिपादन किया। उन्हों ने प्रकरण व्याकरण और निर्वचन की दृष्टि में रूप और भाव में समान समस्त पदों की सूक्ष्म तुलना रूप अन्तःसाक्षी पर अर्थनिर्णय का मार्ग निकाला। इस में लौकिक संस्कृत से तुलना करते हुए वैदिक भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन और भाषाविज्ञान तथा अवेस्ता से प्राप्त सामग्री का प्रयोग स्वीकार किया। इस शैली के क्रियात्मक प्रयोग में रौथ ने भारतीय परम्परा की साक्षियों की उपेक्षा की और निर्वचन पर विशेष बल दिया है।

१४५—रौथ की इस शैली के विरुद्ध भी एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। पिश्चल गल्डनर और सीग आदि ने वैदिक सूक्तों का विशुद्ध भारतीय माना और उन के अर्थ का प्रत्यग्वैदिक साहित्य और उस में वर्णित परम विकसित संस्कृति से सम्बद्ध किया।

१४६—डा० मैकडोनल लिखते हैं कि आधुनिक समालोचनात्मक वेदाध्यायी का केवल वही सामग्री उपलब्ध नहीं है जो परम्परागत शैली के पण्डितों को सुलभ थी जिस पर यह यास्क की तुल्नात्मक और ऐतिहासिक शैली का प्रयोग कर सकता है प्रत्युत आज उस के पास ऐसी बहुमूल्य सहायक सामग्री है जो प्राचीन परम्परा को उपलब्ध नहीं थी। यह सामग्री अवेस्ता तुलनात्मक भाषाविज्ञान तुलनात्मक धर्म और पुराण (माइथालोजी) तथा नृवंशविद्या (ऐथ्नोलोजी) है। यह आशा की जाती है कि आलोचनात्मक शैली और उपलब्ध समस्त सामग्री के निष्पक्ष प्रयोग से ऋग्वेद के अधिकांश भाग की अस्पष्टता और दुर्बोधता दूर हो जायेगी।[७४]

१४७—यह नई शैली वस्तुप्रधान (औब्जैक्टिव) अभीष्ट है, परन्तु क्रियात्मक प्रयोग में यह व्यक्तित्व प्रधान है। वस्तुत आधुनिक वेदाध्ययन

---

७४ वैदी० पृ० XXX—XXXI

मे व्यक्तित्व को कतिपय सीमाओं में खुली छुट्टी है। इस में वैदिक विषयों के व्याख्यान विद्वानों ने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप किए हैं। डा० आर० एन० दाण्डेकर ने बहुत ठीक कहा है कि वेदाध्ययन में विद्वानों ने वेद की उत्पत्ति और स्वरूप के सम्बन्ध में धारणाओं के अनुरूप विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए ए० बर्गेने वेद और आख्यान में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हैं। अरविन्दघोष का विचार है कि वेद रहस्यवादी और प्रतीकात्मक रचना है। जे० ह्वेंवेर वेद का अर्थ अवेस्ता से रहस्यवादी और दार्शनिक व्याख्यान द्वारा करना चाहते हैं। आ० पु० स्वामी वेदाध्ययन में रहस्यवादी अध्ययन और संसार की रहस्यवादी रचनाओं का पूर्णज्ञान विशेष आवश्यक समझते हैं। वे इस अध्ययन में उपनिषदों का विशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं। डा० वा० श० अग्रवाल अध्यात्मविद्या के अनुसार वेदार्थ करना चाहते हैं। डा० फतहसिंह ने दार्शनिक पृष्ठभूमि पर व्याख्यान किया है।

१४८—तुलनात्मक भाषाविज्ञान विभिन्न भार्यो० भाषाओं में समान पदों की तुलना कर के उन के समान भावों का अध्ययन करता है और उन समान भावों को मूल अर्थ मान कर उन के आधार पर वेदार्थ करता है। उदाहरण के लिए सं० अग्नि, लैटिन इग्निस्, सं० वरुण और ग्रीक ओरेनोस् के अर्थ क्रमशः आग और वरुण ही हो सकते हैं। परन्तु ये निष्कर्ष तभी यथार्थ और प्रामाणिक हो सकते हैं जब सब देशों और जातियों में एक सी अनुकूल प्राकृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक—संक्षेप में सांस्कृतिक परिस्थितियों में भाषा का विकास हुआ हो। यह भाषा का विकास भी एक निश्चित स्तर पर निश्चित अवधि में निश्चित नियमों के अनुसार हुआ हो। अन्यथा भाषाविज्ञान के समस्त निष्कर्ष कल्पनामात्र रहेंगे। यदि वे परम्परागत अर्थों को पुष्ट करते हैं तो ठीक, अन्यथा वे त्याज्य ही हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भाषाओं के विकास की भौतिक और सांस्कृतिक स्थितियां और गतियां समान नहीं हैं। शब्दों के अर्थों की

सम्पत्ति में ह्रास और वृद्धि होते हैं। नये जर्यों का विशेष परिस्थितियों में शब्द के प्रयोग से पूर्व एक भाषा में विकास हो जाता है। दूसरी भाषा में वे परिस्थितियाँ उत्पन्न ही नहीं हुईं, तो वह अर्थ वहाँ मिल ही नहीं सकता।

१४९—भाषाविज्ञान का वेदार्थ विषय में प्रयोग भी बड़े अनुचित रूप में किया गया है। प्रो० राजवाडे और डा० प्राणनाथ का भाषा विज्ञान के आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ *उपहासास्पद ही कहा जा सकता है।* भाषाविज्ञान के नियमों के आधार पर वेदमन्त्रों के मूलरूप के निर्माण का पादरी एस्टलर का प्रयास ठीक ऐसा ही है जैसा कि यह कहा जाए कि तुलसीदास और शेक्सपियर, कालिदास और गेटे आदि महाकवियों की भाषा में बहुत विकार आ गया है उस को समझने के लिए उस का मूल स्वरूप निर्माण करना आवश्यक है।

१५०—वेद के पद परम कृत्रिम हैं। वे साहित्यिक नहीं। उन की परिभाषाएं भाषाविज्ञान से नहीं सुलझ सकती। उदाहरण के लिए मृत्यु के अपेण्डिसाइटिस नामक रोग, क्षीर के कटे दूध का पानी, मण्डूक के प्राण, सिन्धु के धमनी करण के काम और सविता के यथार्थ अर्थ भाषाविज्ञान देने में असमर्थ रहा है। वेद में एक पद का एक ही अर्थ हो सकता है के भाषाविज्ञान के नियम ने बड़ी समस्याएं उत्पन्न की है। इस का समझने के लिए वृष पद के प्रयोगों पर दृष्टि डाली जा सकती है।

१५१—डा० यून्नर के मत में भाषाविज्ञान से और तुलनात्मक शैली पर अर्थ करने के लिए ज्योतिष भूगर्भ विद्या मानवविज्ञान, प्राणिनिहास, स्रोत साहित्य, पुरातत्व और भाषाशास्त्र के निष्कर्षों और उन के आधारों का साक्षात् ज्ञान परम अनिवार्य बनाया है। परन्तु प्रयोग में इस सिद्धान्त का स्थान नगण्य है।

१५२—आधुनिक शैली में भारतीय परम्परा की घोर उपेक्षा की जाती है। इस कारण मन्त्रों और पदों से असम्बद्ध भाषा की उन में कल्पना की गई

है। वेद का इन्द्र ईरान का रुस्तम बना दिया गया है, इन्द्रसेना नल और दमयन्ती की पुत्री और शिश्नदेवाः लिंगपूजकों का नाम।[75]

१५३—डा० देशमुख ने दिखाया है कि अवेस्ता[76] प्रत्यग्वैदिक ग्रंथ है। उस का कोई अंश अपरिवर्तित रूप में—मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। पिछला ईरानी धर्म वेद में उपलब्ध भारतीय-ईरानी धर्म से भिन्न है। अवेस्ता में इसी पिछले धर्म और अर्वाचीन सामग्री की प्रधानता है। अवेस्ता की भाषा में भी अन्तर आ गया है। वैदिक देव और असुर अवे० के दइव और अहुर से भिन्न ही कहे जा सकते हैं। वेद में अवेस्ता के अहुरमज्दा के समान कोई देवता नहीं है। यहां वैदिक द्यौः और वरुणः नहीं के बराबर है। अवेस्ता में कोई ऐसा वाक्य नहीं जो पूरा मन्त्र हो। भाषाविज्ञान के आधार पर विभिन्न कल्पनाओं को जन्म मिला है। जरथुष्ट्र जरदष्टि, जरद्-उष्ट्र, जरत्-त्वष्टा से सम्बद्ध किया गया है। वैसे भी अवेस्ता का अर्थ भी अनिश्चित प्रायः है। स्वयं अवेस्ता के अर्थ करने के लिए वेदाध्ययन आवश्यक माना गया है।

१५४—तुलनात्मक आख्यान, मानव और धर्म विज्ञानों का लक्ष्य सब धर्मों में समानता और विषमताओं के कारणों की खोज करना है। इन में वेदार्थ गौण स्थान रखता है। साथ ही यहां वेद को किसी भावविशेष को खोजने के लिए पढ़ा और व्याख्यान किया जाता है। वह निष्पक्ष अध्ययन

---

७५. देखो नीग्लबी०, दी मैथड औफ इण्टरप्रैटेशन औफ दी वेदाज।

७६. यह पारसियों की धर्म पुस्तक है और उन को इसी प्रकार मान्य है जैसे हिन्दुओं को वेद। यह ईरानी धर्म संस्थापक जरथुष्ट्र की रचना मानी जाती है। इस की भाषा वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। भावों में भी दोनों में महान् साम्य प्रतिपादित किया गया है।

नहीं है। उदाहरण के लिए वैदिक ऋत और अर्त का एक मानना तथ्य का निरस्कार करना है।

१५५—इतिहास और पुराण का भी 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥'[77] के लेख के आधार पर वेदार्थ में सहायक माना गया है। निरुक्त में इतिहास और आख्यान पद समानार्थक हैं। अथर्ववेद में पुराण सृष्टिविद्या का द्योतक है। यदि इस पद में य अर्थ अभीष्ट हैं तब ठीक है। परन्तु सामान्यतः पुराण से १८ पुराण और इतिहास से उन में तथा अन्यत्र वर्णित लौकिक इतिहास समझा जाता है। उन से वेदार्थ असम्बद्ध और जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋ० १।१३१।११ में ऋषि हिरण्यस्तूप अपने से छै पीढ़ियां के पश्चात् होने वाले आयु का वर्णन करते हैं।[78] आख्यानों की वैदिक पृष्ठभूमि से भी वेदार्थ में कोई सहायता नहीं मिलती है। हाँ, यह सम्भव है कि पौराणिक आख्यानों का भाव खोला जा सके।[79]

१५६—म० चन्द्रमणि पाली-रत्न ने पाली भाषा की सहायता से वेदार्थ करने का सुझाव दिया है। परन्तु उन के समस्त उदाहरणों में कोई ऐसा नहीं जो वेदार्थ पर कोई नवीन प्रकाश डालता हो। वस्तुतः यह भाषाविज्ञान के अन्तर्गत ही है। अतः इस के निष्कर्ष पोषक प्रमाण के रूप में परम सहायक हो सकते हैं।[80]

---

७७ वसिष्ठ धर्मसूत्र २७।६।

७८ देखो सुधीरकुमार गुप्त—ऋग्वेद में इतिहास नहीं, ऋग्वेद का धर्म में सम्मिलित।

७९ हमारी मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उस का सांस्कृतिक सन्देश में कुछ पौराणिक आख्यानों का व्याख्यान किया गया है।

८० देखो चन्द्रमणि, वेदार्थ करने की विधि।

१५७. कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदमंत्रों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ में विनियोग है। अतः मूलतः उन का याज्ञिक व्याख्यान अभिप्रेत है। निरुक्त में भी ऐसे दो सम्प्रदायों—पूर्व याज्ञिक और याज्ञिकों का निर्देश है। दोनों सम्प्रदायों में यह अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है कि पूर्व याज्ञिकों के व्याख्यानों में कर्मकाण्ड का पुट पर्याप्त कम है। अतः यज्ञ 'हवन आदि' वेदमंत्रों का प्रमुख विषय या लक्ष्य नहीं। वास्तव में वेद में यज्ञ पद बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यह प्रत्येक कल्याणकारी ज्ञान, कर्म और भाव आदि का द्योतक है।

१५८—ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में वेदार्थ और ऋषियों की अभीष्ट वेदार्थशैली पर पुष्कल सामग्री मिलती है। इन अंशों में उपलब्ध पर्यायवाची पदों के समानार्थक होने का आधार निर्वचन है। वहाँ स्वतन्त्र रूप में भी कतिपय निर्वचन दिये गये हैं। ऋषि, देवता और छंदों के नाम साधारण पद हैं, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ नहीं हैं। वहाँ समस्त देवों में एकता है। सर्वत्र एक सत् की ही भावना पाई जाती है। शाखाओं में यह शैली अक्षुण्ण रूप में पाई जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में इस शैली का विस्तार और क्रियात्मक प्रयोग किया गया है। उपनिषदों, पदपाठ, वेदांगों, अनुक्रमणियों, छः दर्शनों और स्मृतियों में भी यही शैली परिलक्षित होती है।

१५९—परम्परा की अविच्छिन्नता भी एक विचित्र पद समूह है। आज भी रहस्यवादी कविताओं के भी एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। किस भावना को ले कर कवि ने रचना की है, यह बात समस्त पाठकों को ज्ञात नहीं होती है। इस का यह अर्थ नहीं कि अर्थ की परम्परा विच्छिन्न हो गई है। विभिन्न विद्वान् अपनी-अपनी भावनाओं से अनुप्राणित हो कर अर्थ करते हैं और उन अर्थों का विस्तार और प्रसार उन की शिष्य परम्परा से होता रहता है। कवि स्वयं व्याख्या नहीं करते हैं। यदि करते हैं तो श्रोताओं की ग्रहण और विस्तार शक्ति के अनुरूप काव्यार्थ का विकास और ह्रास होता रहता है। यही स्थिति प्राचीन साहित्य, विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में

उपलब्ध वेद व्याख्यानों की है। वहाँ विभिन्न आचार्यों के विभिन्न दृष्टियों से अर्थ मिलते हैं। आदि से ही वेद को परम कृत्रिम रचना बनाया गया। उस की परिभाषाओं को उस से सम्बन्धित निकटतम साहित्य से ही जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए हिरण्यपाणि —ज्योतिर्मय, नासत्यौ—नासिकाप्रभवौ=प्राण और अपान के भावों को ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्पष्ट करते हैं।

१६०—अतः वेदमन्त्रों में प्राप्त वेदार्थ शैली—जिस का शाखा संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, निरुक्त, दर्शन, स्मृति, अनुक्रमणियों और वेदांगों में विस्तार किया गया है, तथा जो निर्वचन प्रधान है—ही अवलम्बनीय है। शेष सब सामग्री पोषक प्रमाण के रूप में ही ग्राह्य है। वेंकट माधव ने एक नई शैली—ऐतिहासिक-पौराणिक का सूत्रपात किया है। अतः इन के भाष्य का प्रयोग परम सावधानी की अपेक्षा रखता है।

प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप

विष्णु का स्वरूप

१६१—वेद की व्याख्यान शैली के अनुरूप विष्णु आदि देवताओं का स्वरूप भी बदल जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु को यज्ञ, सोम अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवों का द्वाररक्षक, आशाओं (= दिशाओं) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, श्रोत्र, पुरुष और यूप आदि समझा है। दयानन्द सरस्वती इसे परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि, विद्युत्, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ समझते हैं। सामान्यतः इसे √विष् व्याप्त होना से व्युत्पन्न किया जाता है।[८१]

१६२—परन्तु आधुनिकों की दृष्टि एकदम भिन्न है। इस दृष्टि में ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। इस की स्तुति केवल पाँच सूक्तों में की गई है। इस के पुरुषविध रूप और वर्णन भी अल्प हैं। वह तीन पद चलता है। वह विशालकाय युवा है, बच्चा नहीं है। इस का प्रमुख कर्म तीन पदक्रमण है। इसी कर्म के लिए उसे उरुक्रम (विस्तृत पदों वाला) और उरुगाय (दूरदेशगामी) कहा गया है। इन तीन चरणों से यह समस्त पार्थिव लोकों को पार कर लेता है—'पार्थिवानि विममे रजांसि'[८२]। इस के दो पद मानवों को दिखाई देते हैं, तीसरा उच्चतम पद पक्षियों के उड़ान और मनुष्यों की पहुँच के परे है। इस का परम पद द्युलोक में नेत्रवत् लगा हुआ है। यह परम प्रकाशमान है—'परममवभाति भूरि'। यह पद उस का

---

८१. देखो आगे मंत्र० ११३।

प्रिय निवास है—तदस्य प्रियमभि पाथ'। पुण्यात्माएँ और देवता यहाँ आनन्दमग्न रहते हैं—नरो यत्र देवयवो मदन्ति। विष्णु के ये तीन पद सूर्य की लीला द्वारा—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में गति का वर्णन करते हैं।

१६२ अ—विष्णु चक्र के समान अपने ९० घोड़ा (=दिनों) को उन के चार नामों (=चार ऋतुओं) के साथ घुमाता है। इस प्रकार वह वर्ष के ३६० दिनों का नियामक है। आदि में यह सूर्य की गति का ही पुरुषविध रूप रहा होगा। विष्णु इन पदों को जनहित के निमित्त चलता है। इन से मनुष्यों की स्थिति बनी रहती है और रहने के लिए पृथिवी रूप घर मिलता है।

१६३—विष्णु के गौण रूपों में से प्रमुख कर्म उस की इन्द्र से मैत्री है। वह बहुधा इन्द्र की वृत्रवध में सहायता करता है। विष्णु सूक्तों में केवल इन्द्र ही निपात देवता है। एक सूक्त में दोनों की सम्मिलित स्तुति की गई है। इन्द्र का सहायक होने के नाते विष्णु की इन्द्र के साथी मरुतों के साथ एक सूक्त में स्तुति की गई है।

१६४—इस मण्डल में संकलित सूक्त में टिप्पणियों के अनुसार विष्णु सृष्टि के पहले भी विद्यमान एक सत्त है। वह सृष्टि रचना के लिए प्रकृति के परमाणुओं का स्थूल और रजोगुण प्रधान बनाता है—'य पार्थिवानि विममे रजांसि'। इन गतिशील बने हुए परमाणुओं का वह जीवात्मा के सम्पर्क में लाता है—'यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थम्'। वह प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से सब कुछ को व्याप्त कर देता है—विचक्रमाणस्त्रे-धारुगाय। तथा 'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।' वह खोजने योग्य (मृग), सौम्य (न भीम), वाणीरूप (कुचर) वह हृदय में स्थित है (गिरिष्ठा)। उस की प्राप्ति गुरु और उपदेशकों से ज्ञान प्राप्त करके हो सकती है—'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै अत्राह तदुरुगायस्य परमं पदमवभाति भूरि॥'

इन्द्र का स्वरूप

१६५—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र को परमेश्वर, सूर्य, वायु, विद्युदादिपरमैश्वर्ययुक्त विद्वान्, विद्वान् सभाध्यक्ष, जीव, राजा, सेनाध्यक्ष, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला पुरुष, न्यायाधीश, शूरवीर, योधा, प्राण, दुष्ट शत्रुओं का नाशक, दुःखों का नाशक, अग्नि, स्तनयित्नु, पृथिवी पर राज्य देने वाला, ऐश्वर्यप्राप्ति, विद्युद्रचित शस्त्र आदि समझा है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अशनि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, शिश्न, उद्गाता, और अश्व आदि कहा है।

१६६—इस की व्युत्पत्तियां अनेकविध हैं। सब में √इन्द् धातु से व्युत्पत्ति ही अधिक आदरणीय है।[८२]

१६७—आधुनिक दृष्टि से यह वीर देवता ऋग्वेद में सर्वप्रमुख है। इस के सूक्त सब से अधिक हैं। यह वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देवता है। यह सब देवताओं से अधिक पुरुषविध वर्णनों से युक्त किया गया है। आख्यानिक कल्पनाएँ भी इसी के सूक्तों में सर्वाधिक समृद्ध हैं। मूलतः यह घोर तूफानी वर्षा और गर्जन का देवता है। यह अन्धकार के राक्षस का हनन कर के जलों और प्रकाश की किरणों को मुक्त करता है। अपने गौण रूप में यह युद्ध का देवता है और आर्यों को अनार्यों से युद्ध में सहायता दे कर उन्हें विजय दिलाता है।

१६८—उस के शारीरिक अंगों का बहुधा वर्णन किया गया है। सोम पीकर वह अपने जबड़ों और श्मश्रु को गति देता है। उस के पेट का भी बहुधा वर्णन किया गया है। उस का रंग हरा (हरि) है। उस के बाल

८२. देखो आगे संसं० ७।१४

और दाढ़ी-मूछ भी हरे हैं। वह वज्रबाहु और वज्रहस्त है। यह वज्र बिजली ही है। वज्र ही इन्द्र का एकमात्र आयुध है। इस वज्र को त्वष्टा ने लोहे (आयस) का बनाया था। यह सुनहरी, तीक्ष्ण और अनेक धाराओं वाला है। कभी-कभी इन्द्र को धनुष और बाण से युक्त भी कहा गया है। वह अंकुश भी रखता है।

१६९—उस का रथ सुवर्णमय है। उस में दो घोड़े (हरि) जोते जाते हैं। वह रथेष्ठा कहाता है। ये रथ और घोड़े ऋभुओं ने बनाए थे।

१७०—सोम इन्द्र का अभिमत पेय पदार्थ है। इस के बराबर और कोई देवता सोम नहीं पीता। इसी लिए वह सोमपा है। सोम उसे युद्ध के लिए उत्साह और शक्ति देता है। वृत्र का वध करने के लिए वह तीन सरः (—तालाब) सोम पी जाता है। एक सूक्त (१०।११९) में सोम की मस्ती में इन्द्र अपनी शक्ति और महिमा की उद्घोषणा करता है।

१७१—बहुधा उसे उत्पन्न हुआ कहा गया है। दो सूक्तों में उस के जन्म का वर्णन किया गया है। उस का पिता द्यौ मालूम होता है। कुछ मन्त्रों में वह त्वष्टा प्रतीत होता है। अग्नि और पूषन् इन्द्र के भाई हैं। उस की पत्नी इन्द्राणी है। मरुत् इन्द्र के प्रमुख सहायक हैं। वह इसी लिए मरुत्वान् इन्द्र कहलाता है। युग्मों में अग्नि, विष्णु, वायु, सोम, वरुण, बृहस्पति, पूषा और विष्णु के साथ इन्द्र की स्तुति की गई है।

१७२—इन्द्र बृहदाकार है। वह दस गुना पृथिवी से भी अधिक बड़ा है। देवता और मनुष्य उस की सामर्थ्य की सीमा को नहीं पहुँच पाते हैं। कोई देवता उस के समान नहीं है। इसी कारण उसे शक्र, शचीवान्, शचीपति और शतक्रतु कहा गया है।

१७३—सोमपान से समर्थ हो कर मरुतों के साथ वह अनावृष्टि के प्रमुख असुर वृत्र पर आक्रमण करता है। वृत्र को बहुधा अहि भी कहा

गया है। इस युद्ध के समय द्युलोक और पृथिवीलोक कांप उठते हैं। वह वृत्र को वज्र से मार कर अप्सुजित् कहलाता है। यह युद्ध पुनः पुनः होता है। इस के फलस्वरूप जल मुक्त हो जाते हैं। ये जल बहुधा पार्थिव हैं। कभी-कभी आकाशस्थ और द्युलोकस्थ भी बताए गए हैं। बादल ही पर्वत, अद्रि या गिरि हैं जहाँ वृत्र रहता है। जलों को गौ भी कहा गया है और जल-युक्त बादलों को भी। बादलों को ही उत्स, कवन्ध और कोश कहा गया है। वे आकाशीय असुरों के पुर हैं। ये पुर गतिशील हैं, शारदी, लोहे या पत्थर के बने हुए और ९०,९९ या १०० हैं। इन्द्र इन्हें नष्ट करता है। इन कर्मों के कारण वह पूर्भिद् और वृत्रहन् कहलाता है।

१७४—वृत्रवध से प्रकाशप्राप्ति का भी सम्बन्ध बताया गया है। वृत्र को मार कर जलों को मुक्त कर के इन्द्र सूर्य को आकाश में ऊँचा चमकाता है। अनेक बार वृत्र के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। केवल इन्द्र को प्रकाश लाने वाला ही कहा है। वह उषस् और सूर्य को उत्पन्न करता है और इन से अन्धकार को अनावृत्त कर देता है।

१७५—इन्द्र अनेकों महान् सृष्टिकर्मों का सम्पादक भी है। वह चञ्चल पर्वतों और पृथिवी को स्थिर करता है—'यः पृथिवीं व्यथमानाम-दृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्।' वह दृति के समान द्युलोक और पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् धारण करता है। उस ने एक क्षण में असत् को सत् बना दिया। कई बार द्युलोक और पृथिवीलोक के पृथक्करण और धारण को वृत्रवध का परिणाम भी बताया गया है।

१७६—योधा इन्द्र की बहुधा स्तुति करते हैं—'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते। समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते।' वह आर्यवर्ण की रक्षा करता है।—'आर्यं वर्णमावत्' और दास वर्ण को वशीभूत करता है—'दासं वर्णमधरं गुहाकः'। उस ने ५०,००० कृष्ण वर्णों का वध किया, दस्युओं को आर्यों के अधीन कर के उन्हें भूमि दी।

१७७—इन्द्र भक्तों का रक्षक, सहायक और मित्र है—'य सुन्वन्तमवति य पचन्त य शंसन्त य शशमानमूती'। वह उन्हें धन देता है—'य सुन्वते पचते वाज दर्दाय'। इसी लिए वह मघवा है।

१७८—वह उशना के रथ का अश्व है। वह सूर्य के घोड़ों को रोकनेवाला है। वह गायों का जीतना है। श्येन उसी के लिए स्वर्ग से सोम लाता है।

१७९—ऋग्वेद में सुदास आदि के लिए पार्थिव शत्रुओं से युद्ध करने की कथाएँ भी इन्द्र से सम्बद्ध की गई हैं।

१८०—इन्द्र के विजय द्वारा प्राकृतिक जगत् पर शासन और भौतिक उत्कर्ष है। वह उत्साही कर्मों में उग्र दुर्धर्ष योद्धा मानव जाति को खुले मन से समृद्धि देने वाला है। साथ ही वह इन्द्रियासक्त और कुछ दृष्टियों से अनैतिक भी है। वह अत्यधिक खाने-पीने वाला है। अपने ही पिता त्वष्टृ का वध करता है। वह वरुण से भिन्न स्वभाव का है। वरुण ऋग्वेद में शान्ति, ऋत और व्रतों का व्यवस्थापक है।

१८१—इन्द्र प्राग्भारतीय है क्योंकि अवेस्ता में वह एक राक्षस है। वहाँ भी वेरेथ्रघ्न (=वृत्रहन्) विजय का देवता है यद्यपि वह इन्द्र से सम्बन्धित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत ईरानी काल में वैदिक इन्द्र के अनुरूप एक वृत्रहन्ता देवता था।

१८२—इस संग्रह के सूक्त में इन्द्र विष्णु, और पुरुष के अनुरूप स्रष्टा और धर्ता के रूप में वर्णित किया गया है। वह सृष्टि के पहले से विद्यमान है। मनस्वी और अपनी सामर्थ्य से देवों को प्रकाश देने वाला है—'देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्'। वह सृष्टि के पहले के प्रकाश के अवरोधक अन्धकार को नष्ट कर के समस्त परमाणुओं में गति लाता है और सृष्टि रचना करता है—'येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः'। वह द्युलोक,

पृथिवीलोक, जल आदि, चारों वर्णो और समस्त प्राणियों का शासक है। जो पापी और नास्तिक हैं उन्हें उन के पुण्यों के क्षय द्वारा धीरे-धीरे नष्ट करता है—'यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान'। वह ही वनस्पतियों को उगाता और बढ़ाता है—'यो रौहिणमस्फुरद्।'

पुरुष का स्वरूप

१८३—यह पुरुष सूक्त का देवता है। यह सूक्त दार्शनिक है और सृष्टिरचना विषयक छः सूक्तों में से एक है। इस में देवता सृष्टि-यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ की सामग्री पुरुष स्वयं है। यहां सृष्टि को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है जिस में पुरुष ही बलि का पशु है। उन के शरीर से काटे गये अंग ब्रह्माण्ड के अंग बन जाते हैं।

१८४—इस सूक्त के *भाषा और विषय स्पष्ट इंगित करते हैं कि यह* सूक्त अर्वाचीन है। इस को तीनों वेदों का ज्ञान है। यह उन का नाम लेता है और ऋग्वेद में पहली बार चारों वर्णो का उल्लेख करता है। इस में धार्मिक दृष्टि भी प्राचीन भागों से भिन्न है। यह विराड्-वादी है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्'।

१८५—इस संग्रह की टिप्पणियों के अनुसार 'पुरुष' बहुविध शक्तियों से युक्त है। यह धारक और ग्रसन शक्तियों से संसार में व्याप्त रहता है। यह ब्रह्माण्ड उस का चतुर्थांश है। तीन चौथाई भाग अमर और मानव की पहुँच से बाहर हैं। पुरुष से विराट् उत्पन्न होता है, परन्तु दोनों में श्रेष्ठ पुरुष ही रहता है—'विराजो अधि पूरुषः'। पुरुष सृष्टि की साधक शक्तियां—जीव और प्रकृति के द्वारा अपने को साधन बना कर सृष्टि करता है। उसी से सब पशु आदि भौतिक पदार्थ और ऋग्वेदादि ज्ञानमय पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जब उस ने यह सृष्टि रची तो विभिन्न, शक्तियों के कारण उस के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि,

वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि और दिशा हो गये। इस यज्ञ में जो भावनाएँ और शक्तियाँ थीं वे ही संसार की धारक और आनन्द का स्रोत हैं—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥'

ॐ

ऋ० १०।९०—पुरुषसूक्तम्

ऋषिः—नारायणः । देवता—पुरुषः । छन्दः—१—१५ अनुष्टुप्; १६ त्रिष्टुप् ।

संहितापाठ	पदपाठः
२२. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वा- त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥	सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् । सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥१॥
यजुर्वेदे तृतीयपादस्त्वेवम्—	यजुर्वेदीय पदपाठ.—
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा-००००	सहस्रशीर्षेति सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्राक्षऽ इति सहस्रऽअक्षः । सहस्रपादिति सहस्रऽपात् । सः । भूमिम् । सर्वतः । स्पृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशाङ्गुलमिति दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

सायणभाष्यम्—"सहस्रशीर्षा" इति षोडशर्चं षष्ठं सूक्तम् । नारायणो नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः । अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुष-

"पुरुषान्न परं किंचित्" (क. उ. ३ । ११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता । तथा चानुक्रान्तौ—"सहस्रशीर्षा षोळश नारायणः पौरुषमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं तु" इति । गतो विनियोगः ।

१. सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्टय दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितम् देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [सहस्रशीर्षाः] हजारों सिरों वाला [सहस्राक्षः] हजारों आंखों वाला [सहस्रपात्] हजारों पैरों वाला (है) । [सः] वह [भूमिम्] विद्यमान उत्पन्न सब कुछ को [विश्वतः] सब ओर से [वृत्वा] आच्छादित कर के [दशाङ्गुलम्] दस अंगुलियों की दूरी पर [अत्यतिष्ठत्] वर्तमान है ॥ १ ॥

टिप्पणियां—१. सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्—सा०—सहस्र में उपलक्षण है । अतः असंख्य सिर आंखों और पैरों वाला । उत्पादित प्राणियों के सिर, पैर, और आंखें हैं । दस० का विचार है कि समस्त प्राणियों के ईश्वर में निवास करने के कारण ही ईश्वर को ये विशेषण प्राप्त हुए हैं ।

(ii) यहां पर सिर, आंख और पैर को ब्रह्म की इन पदों से द्योतित शक्तियां—१. चिति=ज्ञान, अनुभव २. दर्शन, निरीक्षण, शासन ३. गति, धारण, रक्षण, प्रापण अभिप्रेत हैं । ब्रह्म इन्हीं के द्वारा समस्त जगत् का संचालन आदि करता है । इसी लिए उपनिषदों में लिखा है कि—

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥" श्वेत० ३।१६॥

वेद में भी कहा है—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥"

ऋ० १०।८१।३, य० १७।१९ ।

२. पुरुष—सा०—सर्व प्राणियों की समष्टि रूप ब्रह्माण्डदेह विराट् । दया०—सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर (यजु०) । 'पुरुष उस को कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिस ने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को । उस में जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक और अन्तर्यामी है ।' ऋभाभू० पृ० १५१ ॥

(ii) डा० फतहसिंह ने वैद० ४८७ में वैदिक साहित्य से इस के ये निर्वचन और अर्थ संकलित किए हैं—

१. पुरि शेते इति । पुर् + √शी । प्राण अथवा शरीरस्थ आत्मा, वायु, भौतिक जगत् में रहने वाला प्राण ।

२. √पृ भरना से—सब वस्तुओं में व्याप्त ब्रह्म ।

३. पूर्व + √अस् (होना से)—सब पदार्थों से पूर्व विद्यमान प्रजापति ।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष को वायु, प्राण, सब पापों का दाहक, साम, ब्रह्म, अमृत, प्रजापति, पशुओं का अधिपति, यज्ञ, यम, अग्नि, सुपर्ण, संवत्सर आदि कहा है ।

३ भूमिम्—भवतीति भूमि । सा०—ब्रह्माण्डगोलक । मै०—पृथिवी । दया०—पृथिवी से प्रकृति पर्यन्त समस्त जगत् ।

४ विश्वतो वृत्वा—सब ओर से ढक कर व्याप्त कर के । सब को व्याप्त करने के साधन प्रथम दो पादों के प्रस्तावित अर्थों में वर्णित किए गए हैं । यजुर्वेद के 'सर्वतः स्पृत्वा' का भी यही अर्थ है ।

५ दशाङ्गुलम्—मै०—यह कहने का एक प्रकार है कि उस का आकार पृथिवी के आकार से भी बड़ा था । पीटर्सन—'दस अंगुलियों की लम्बाई' ।

यह पद ऋग्वेद में अन्यत्र नहीं आया है। रौथ ने इस अर्थ की पुष्टि में मनु० ८।२७१ उद्धृत किया है जिसमें दशांगुल (दस अंगुल लम्बे) शंकु का वर्णन है। सा०—दश अंगुलों से नपा हुआ स्थान। यह उपलक्षण है। अतः ब्रह्माण्ड से बाहर भी। शौनक—१ दस इन्द्रियां (२) दस अंगुल के माप का (नाभि से)[1] हृदय (तक का) स्थान; (३) नासिका का अग्र भाग। दस—१. पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों रूपी अंगों वाला जगत्। २. पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, जीव ३. दस अंगुल के परिमाण वाला हृदयदेश। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलक्षण है, इन सब को।

(ii) इन में से कुछ व्याख्यानों में 'भूमिम्' के भाव का ही विस्तार है। आगे मन्त्र ३ में भी ऐसा ही भाव है। अतः उन में या तो दशाङ्गुलम् को भूमिम् का लिंग व्यत्यय कर के विशेषण माना जाए अथवा उन को विचारणीय माना जाए।

(iii) भारतीय विचार के अनुसार सृष्टि में शनैः शनैः ह्रास होता रहता है और वह विनाशोन्मुख रहती है और अन्त में प्रलय हो जाती है। अतः इस विचारधारा में ब्रह्म या पुरुष इस ब्रह्माण्ड को व्याप्त तो करता है, परन्तु उस की ग्रसनशक्ति भी साथ-साथ कार्य करती है। यही भाव इस पद का प्रतीत होता है—दशतीति दश (उ० १।१५६ दस०) ग्रसित करने वाला। अंगति चेष्टतेऽनेन तदंगुलम् (तु. क. उ. ४।१२) चेष्टा, गति करने का साधन (= शक्ति)। दश च तत् अंगुलं चेति दशांगुलम्। ग्रसन करने वाली चेष्टा का साधन (= शक्ति)। तत् वर्तते यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा। क्रिया-विशेषण। अतः ग्रसनशील शक्ति के साथ (अत्यतिष्ठत्) सब कुछ को अतिक्रान्त कर के वर्तमान है।

१. देखो महीधर का भाष्य—नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः।

संहितापाठ	पदपाठ
२३. पुरु॑ष ए॒वेदं सर्वं॒	पुरु॑षः । ए॒व । इ॒दम् । सर्व॑म् ।
यद् भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म् ।	यत् । भू॒तम् । यत् । च॒ । भव्य॑म् ।
उ॒ताम॑ृत॒त्वस्येशा॑नो	उ॒त । अ॒मृ॒त॒त्वस्य॑ । ईशा॑नः ।
यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥	यत् । अन्ने॑न । अ॒ति॒ऽरोह॑ति ॥२॥

यजुर्वेद 'वेद'-स्थाने 'वेदं' 'भव्यम्'-स्थाने 'भाव्यम्' वर्तते ।

सायणभाष्य—यत् इद वर्तमान जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यत् च भूतम् अतीत जगत् यच्च भव्य भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमाना प्राणिदेहा. सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवा तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्राय । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशान स्वामी । यत् यस्मात् कारणात् अन्नेन प्राणिना भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीया कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमाना जगदवस्था प्राप्नोति तस्मात् प्राणिना कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेद तस्य वस्तुत्वमित्यर्थ ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[इदम्] यह [सर्वम्] सब कुछ—[यत्] जो [भूतम्] उत्पन्न हो चुका है [च] और [यत्] जो [भव्यम्] उत्पन्न होगा [उत] और [अमृतत्वस्य] अमरता का [ईशान] स्वामी (और) [यत्] जो [अन्नेन] अन्न से [अति रोहति] बढ़ता है—[पुरुष] पुरुष [एव] ही (है) ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१ पुरुष एव—इसमें 'रचयति' क्रिया का अध्याहार किया है।

२ यद् भूतं यच्च भव्यम्[3]—(यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों आदि के मेल से उत्पन्न (भूतम्) अतीत से वर्तमान काल पर्यन्त सत्ता में

---

१. प्राणिदेहा । २. वस्तुतत्त्वम् ।

३. यजुर्वेद के भाव्यम् के और ऋग्वेद के भव्यम् के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है । भाव्यम् के व्यम् में स्वतन्त्र स्वरित है ।

आया हुआ और (यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों के मेल से (भव्यम्)भविष्य में सत्ता में आने वाला (इदम्) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत्।

(ii) मही० और दस० (ऋभासू० १५२) ने 'च' में 'वर्तमान जगत्' का वर्णन माना है।

(iii) सा० और मही० का भाव यह है—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सदा ही सब प्राणी विराट् पुरुष के अवयव हैं। दस०—पुरुष ही सब कालों में सृष्टि का रचयिता है, अन्य कोई नहीं।

३. उतामृतत्वस्येशानः—सा०—और देवत्व का भी स्वामी है क्यों कि वह प्राणियों के भोग्य (फल) के कारण कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् का रूप धारण करता है। उवट—मोक्ष का भी स्वामी है। मही० १. देवों का स्वामी है। २. मोक्ष का स्वामी है, अतः वह कभी नहीं मरता है। दस० १. अविनाशी मोक्षसुख या कारण का अधिष्ठाता (यभा०)। २. सब का ईश्वर (होने से) मोक्षभाव का स्वामी (=) दाता है। इस मोक्ष को देने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है। मै०—अमरत्व अर्थात् देवताओं का स्वामी है। पुरुष देवों सहित समस्त जगत् के साथ-साथ फैला हुआ है।

(ii) पाद २, ३, ४, में पाद १ के 'इदं सर्वम्' का विस्तार है। अतः विचार्यमाण अंश (पाद ३) भी सृष्टि के अंग का वर्णन करता है जिस को यदन्नेनातिरोहति से भिन्न बताना अभीष्ट है। पाद २ में कालविषयक वर्णन है। अतः यहां उत्तरार्ध में देशापरिच्छिन्न वर्णन है—(उत) रसयुक्त (अमृतत्वस्य) अन्न आदि की अपेक्षा से मुक्त सूक्ष्म शरीर के धारक जन्ममृत्यु आदि के बन्धन से हीन मुक्त जीवों का स्वामी है। उत-पद 'उत्सः' (उ० ३।६८) के समान √उन्द् भिगोना से व्युत्पन्न हो कर भीगा हुआ, गीला, पानीयुक्त, अतः रसयुक्त। इस में आगे मन्त्र ३ के त्रिपादस्यामृतं दिवि में विशेषित अमरत्व का निर्देश भी माना जा सकता है।

४. यदन्नेनातिरोहति—मन्त्र में इस की योजना और अर्थ अनेक प्रकार से किए गए हैं। उवट का कहना है कि पुरुष मोक्ष का स्वामी है '(यत्) क्यों

कि (वह) (अन्नेन) अन्न से (अतिरोहति) अतिरोध करता है।' महीο दो अर्थ देते हैं—१. पुरुष देवों का स्वामी है '(यत्) क्यों कि (वह) (अन्नेन) प्राणियों के भोग्य फल के कारण (अतिरोहति) अपनी कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् के रूप को प्राप्त होता है।' सा० ने इस व्याख्यान को अपनाया है। २. '(यत्) जो कुछ भी जीवजात (अन्नेन) अन्न से (अतिरोहति) उत्पन्न होता है उस सब का स्वामी है।' दय० ने यजुर्वेदभाष्य में पाद ३ को 'पुरुष' का विशेषण माना है। उन का अर्थ यह है—जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला (उत) और '(यत्) जो (अन्नेन) पृथिवी आदि के सम्बन्ध से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता है उस' (इदम्) इस प्रत्यक्ष परोक्ष रूप समस्त जगत् को (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्षसुख का भागी का (ईशान) अधिष्ठाता (पुरुष.) सत्य गुणकर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है। उन्हों ने ऋभाभू (पृ० १०९–१५३) में भिन्न भाव लिया है— '(यत्) क्यों कि (अन्नेन) पृथिवी आदि जगत् के साथ (अतिरोहति) व्यापक हो कर स्थित है और इस से अलग भी।

(ii) म्यूर लिखते हैं कि भागवत पुराण के व्याख्यान में इस का भाव 'बढ़ते हुए उन ने मानवी अन्न का अतिक्रमण किया है' है। अथ० १९।६।४ में इस का पाठ—'उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह–वह अमरत्व का स्वामी है क्यों कि वह दूसरे से मिल गया है' है।

(iii) म्यूर ने इस का अर्थ 'क्यों कि वह अन्न से फैलता है' किया है। ग्रास० इसे अमृतत्वस्य से सम्बद्ध करते हैं—(अमरता) 'जो हमारे यज्ञों से पुष्ट की जाती है।' पिटर्सन इस का अर्थ चेतन जगत् (= और जो कुछ अन्न से पुष्ट होता है या बढ़ता है) करते हैं और इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् का जड़ जगत् (तु० क० आगे मन्त्र ४)। पाद ३ का वे अपने अनुवाद में पुरुष का ही विशेषण रखते हैं।

(iv) मैं० का विचार है कि मन्त्र १ के अत्यतिष्ठत्, मन्त्र ५ के अत्यरिच्यत से अतिरोहति की तुलना इंगित करती है कि पुरुष कर्त्ता है और यद् (देवता) कर्म और यह कि पहला (= पुरुष) पिछलों (= देवों) को अन्न से, अर्थात्

यशान्न द्वारा अतिक्रान्त करता है। 'जो (देवता) (यज्ञ के) अन्न से बढ़ते हैं', तथा 'और जो कुछ अन्न से उत्पन्न होता है उस का'—इन दोनों व्याख्यानों में 'अति' का भाव पूरा-पूरा प्रकट नहीं होता है।

(४) जैसा ऊपर पाद ३ की टिप्पणी में लिखा गया है यहां पर भी देश-परिच्छिन्न सृष्टि का उल्लेख है जो अमर— मुक्तों की अपेक्षा स्थूल शरीर धारण करती है। अतः इस का सीधा अर्थ 'जो कुछ भी अन्न = भोजन आदि पोषक पदार्थों से उत्पन्न, वृद्ध और विकसित होता है'— प्रतीत होता है।

संहितापाठः	पदपाठः
२४. एतावानस्य महिमा-	एतावान् । अस्य । महिमा ।
ऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।	अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि।
त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥	त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि॥३॥

सायणभाष्यम्—अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवस्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतदुभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोऽशः। अस्य पुरुषस्य अवशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सन् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० आ० ८।१; तैउ० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं, तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्य] इस (पुरुष) का [महिमा] विस्तार [एतावान्] इतना है। [च] और [पूरुषः] पुरुष [अतः] इस से भी अधिक [ज्या-

वान्] बड़ा है। [विश्वा] सम्पूर्ण [भूतानि] उत्पन्न पदार्थ आदि [अस्य] इस का [पाद्] एक चौथाई (भाग है), [दिवि] द्युलोक में [अमृतम्] अमर [अस्य] इस का [त्रिपाद्] तीन-चौथाई भाग है ॥ ३ ॥

१ टिप्पणियां—आधे भाग से विश्व की रचना—अथर्व० १०।७।८-९ में जिज्ञासा की गई है कि स्कम्भ = ब्रह्म ने विश्वरूप जिन परम अवम और मध्यम, तथा भूत और भविष्यत् की रचना की उन में उसका कितना अंश प्रविष्ट हुआ। अथर्व० १०।८।७ में कहा है कि ब्रह्म ने अपने एकनेमि सहस्राक्षर एकचक्र रूप के आधे भाग से सम्पूर्ण विश्व की रचना की। उस का शेष आधा भाग कहा है— अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव। इस भाव को यहां भिन्न रूप से वर्णित किया गया है।

२. पुरुषांतमस्य—ऋग्वेद के प्राचीन भाग में यह सन्धि नहीं मिलती है। वहां पर ऐसे स्थलों पर आन् को ओं हो जाता है। अतः प्रकृत सन्धि सूक्त की रचना के काल को सूचित करती है।

३. पूरुष —संहिता में दीर्घ हो गया है। पदपाठ में 'पुरुष' होगा।

४. अमृतम्—मा०—विनाशरहित पुरुष। उ०—१. ऋक्, यजु और साम रूप वाला २. आदित्य रूप। दय०—नाशरहित महिमा।

५. दिवि—महा०—द्योतनात्मक स्वप्रकाश स्वरूप में।

६. भाव यह है कि प्रकाशमान जगत् एक अंश मात्र है। प्रकाशक स्वरूप इस से तीन गुना है। इस से ब्रह्म की अनन्तता समाप्त नहीं होती। यह वर्णन तो ससीम मानव की बुद्धि को अवगत कराने की दृष्टि से किया गया है।

संहितापाठः	पदपाठः
२५. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः	त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः ।
पादो ऽस्येहाभवत्पुनः ।	पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्	ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् ।
साशनानशने अभि ॥४॥	साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

यजुर्वेदे 'व्य'–इत्यस्य स्थाने 'व्यु' इति वर्तते ।

सायणभाष्यम्—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयं ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य अस्य योऽयं पादः लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (भ० गी० १०।४२) इति । ततः मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् । किं कृत्वा । साशनानशने अभिलक्ष्य । साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभयं यथा स्यात् तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [त्रिपात्] तीन–चौथाई [ऊर्ध्वः] ऊपर को [उदैत्] फैला हुआ है [पुनः] और [अस्य] इस का [पादः] एक-चौथाई अंश [इह] यहां (इस जगत् में) [अभवत्] है । [ततः] उस से [विष्वङ्] सब कुछ का अन्तर्भाव करने वाला [व्यक्रामत्] प्रादुर्भूत हुआ (और) [साशनानशने] खाने वाले और न खाने वाले [अभि (अक्रामत्)] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियाँ—१. त्रिपात्—सा०—संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष जो समस्त पुरुष का तीन–चौथाई भाग है ।

२. ऊर्ध्वः उदैत्—उवट—ऊपर प्रकाशमान है। महो०—इस अज्ञान कार्य संसार से पृथक् इस संसार के गुण दोषों से अछूता उत्कर्ष से विद्यमान है। दया०—पालक परमेश्वर 'सब से उत्तम मुक्तिस्वरूप संसार से पृथक् उदय को प्राप्त होता है (य० भाष्य)। मै०—ऊपर अमरों के लोक में।

३ पादोऽस्येहाभवत् पुनः—उवट—एक भाग तीनों लोकों में बीजरूप हो गया। महो०—ज्ञान रूप ब्रह्म यहां माया में सृष्टि और संहार के द्वारा बार-बार आता है। दया०—इस पुरुष का एक भाग इस जगत् में बार-बार उत्पत्ति प्रलय के चक्र में होता है (य० भाष्य)। पूर्वोक्त संसाररूप एक अंश से पृथक् ही है। मै०—पुनः = अर्थात् अपने मूल रूप से।

४. विष्वङ्—उवट—भुवनकोश। महो०—विषु सर्वत्र अञ्चतीति विष्वङ्। देव, तिर्यक् आदि अनेक रूपों वाला। दया०—(जड़ और चेतन के प्रति) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (=व्यापक) (य० भाष्य)। विश्व = सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् (ऋभाभू० पृ० १५४)।

५ साशनानशने—उवट—साशन = स्वर्ग। अनशन = मोक्ष। महो०—खाने आदि व्यवहार वाले चेतन प्राणी और न खाने आदि व्यवहार से रहित जड़ पदार्थ। मै०—यह समास ऋग्वेद में द्वन्द्वसमासों की अर्वाचीनतम अवस्था का द्योतक है।

संहितापाठ	पदपाठ
२६. तस्माद्विराळजायत	तस्मात्। विऽराट्। अजायत।
विराजो अधि पूरुषः।	विऽराजः। अधि। पुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत	सः। जातः। अति। अरिच्यत।
पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥५॥	पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः॥५॥

यजुर्वेदे प्रथमः पादस्त्वेवम्—

'ततो विराडजायत'   ततः। विऽराट्। अजायत।

सायणभाष्यम्—विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते । तस्मात् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् । एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—"स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव" (नृता० २ । १ । ९) इति । स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत् । विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज । पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि ।५।

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस से [विराट्] विराट् [अजायत] उत्पन्न हुआ । [विराजः] विराट् से [अधि] श्रेष्ठ [पुरुषः] पुरुष (है) । [अथो] और [पुरः] पहले [जातः] उत्पन्न हुआ [सः] वह [पश्चात्] पीछे [भूमिम्] उत्पन्न पदार्थों से [अत्यरिच्यत] सर्वोपरि हो गया ॥

टिप्पणियां—१. तस्मात्[1]—तद् को उ० १ । १३२ में √तन् से निष्पन्न किया गया है । अतः उस विस्तृत सर्वव्यापक ऊपर वर्णित पुरुष से । मै०—पुरुष के अव्याकृत चतुर्थांश से । दस०—पूर्व आदि पुरुष से । (य० भाष्य) कला रूप परमेश्वर के सामर्थ्य से (ऋभाभू० पृ० १५६) ।

२. विराट्—मही०—विविधं राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । ब्रह्माण्डदेह । दस०—विविधैः पदार्थैः राजते प्रकाशते ■ विराट्—विविध प्रकार के पदार्थों से । प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप संसार (य० भाष्य) । इस भाव का विस्तार करते हुए ऋभाभू० पृ० १५५ पर लिखते हैं— जिस का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को 'मूल प्रकृति'

१. यजुर्वेद में इस के स्थान पर (ततः) पाठ है । दोनों का अर्थ एक ही है ।

कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग हैं, इत्यादि रूपरूप वाला [सब शरीरों का समष्टि देह (—संस्कृत मूल से)] जो यह आत्मा है सो 'विराट्' कहाता है।

(ii) डा० फतहसिंह ने वैदिक दर्शन पृ० २०६ पर इस स्थल में विराज् को परम पुरुष से उत्पन्न प्रकृतिपुरुष माना है जिस का होम हो जाने पर नानारूपात्मक विश्व उत्पन्न हुआ है। मै० ने आदि पुरुष और व्याकृत पुरुष के बीच की स्थिति को विराज् कहा है।

(iii) अथ० १०।७-८ में इस विराज् का विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋ० १०।१२१ में इसे हिरण्यगर्भ कहा है—हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः। यह तप से उत्पन्न होता है—अ. श्रमात् तपसो जातो लोकान्सर्वान्समानशे। यह उत्पन्न वस्तु अप्रकेत सलिल ही थे जो ब्रह्म के तप से उत्पन्न आदि सृष्टि कहे गए हैं। व्याकृत होने की स्थिति में वर्तमान ये अव्याकृत सलिल ही यहां विराज् नाम से कहे गये हैं। अथ० १०।७।४१, और ८।३९-४० भी देखा।

(iv) विराळजायत—सन्धि के कारण ट को 'ड्' हुआ। पहले और पीछे दो स्वरों के आने से इस ड् को 'ळ' हो गया है। तु. प्र—पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं बहृचा जगुः। पदमध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं बहृचा जगुः॥

१. विराजो अधि पूरुष—मै०—विराज में पञ्चमी को उत्पादकत्व का द्योतक मानते हैं—विराज् से पुरुष उत्पन्न हुआ। उव्वट—अधिपूरुष को एक मान कर 'प्रधान तेज सोऽवा ब्रह्मा सृष्टिकृत' अर्थ करते हैं तथा 'स जात.' में इसी का निर्देश मानते हैं। महीधर—विराज् के शरीर पर उसे अधिकरण बना कर उस शरीर का एक अभिमानी (=कल्पित चेतन!) पुरुष नामक पुमान् उत्पन्न हुआ। यह पुमान् अपनी माया से जीवरूप बना हुआ ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव रूप ब्रह्म ही था। दया० यजुर्भाष्य में इस में विराज् के उत्पत्तिकारण आदि पुरुष की उत्कृष्टता मानते हुए यह अर्थ देते हैं—"(विराज) विराट

संसार के (अधि) ऊपर अधिष्ठाता (पुरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है।' परन्तु ऋभाभू० पृ० १५५–१५६ पर भिन्न विचार रखते हैं और पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों के शरीर मानते हैं—'उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है।'

(ii) अवे० १०।७।८ तथा ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों में विराज् हिरण्यगर्भ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वेद में—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते[1] आदि सुप्रसिद्ध मन्त्र में तथा 'त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्'।[2] में ब्रह्म, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् माना गया है। अतः यहां विराजो अधि पूरुषः में जीव की उत्पत्ति की कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है। अधि 'अधिक, उत्कर्ष, स्वामित्व' का द्योतक भी है। विराजः में षष्ठी विभक्ति है, पञ्चमी नहीं। अतः यहां पर पूर्ण आदि पुरुष के विराज् से श्रेष्ठत्व का वर्णन मानना अनुचित न होगा।

४. स जातो अत्यरिच्यत०—मै०—जब वह पैदा हुआ तो वह पृथिवी से परे आगे और पीछे पहुँच गया। उवट–वह क्षेत्रज्ञ सृष्टिकृत् ब्रह्मा उत्पन्न होते ही प्रमुख हो गया। फिर इस के पहले पृथिवी और उस के बाद १४ प्रकार के भूतों के शरीर उत्पन्न हुए। महीο—वह विराट् पुरुष देव मनुष्य आदि रूप वाला हो गया। फिर देवादि के जीवभाव के उपरान्त भूमि और उस के पश्चात् शरीरों की सृष्टि की। दस०—'(पुरः) पहिले से (जातः) प्रसिद्ध हुआ (अति, अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिम्) पृथिवी को उत्पन्न करता है।' ऋभाभू० में प्रधान भाव तो यही लिया है, परन्तु

१. ऋ० १।१६४।२०

२. ऋ. १।१६४।४४–व्याख्या के लिए देखो बुद्धदेवविद्यालंकार—त्रैतवाद का महावाक्य, वेचा० ६।४।

'पश्चात्' का अर्थ संस्कृत मूल में 'फिर उस पुरुष के सामर्थ्य से जीव ने भी शरीर धारण किया और वह परमात्मा उस जीव से भी पृथक् है' है। हिन्दी अनुवाद में यथार्थ भाष्य के भाव को ही लिया गया है।

५ भूमिम्—समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि। भविष्य में होने वाले पदार्थ आदि पहले भी हो चुके हैं। अतः इस पद से तीनों कालों के पदार्थों आदि का बोध होता है।

संहितापाठ	पदपाठ
७७. यत्पुरुषेण हविषा	यत्। पुरुषेण। हविषा।
देवा यज्ञमतन्वत।	देवाः। यज्ञम्। अतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं	वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्।
ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥	ग्रीष्मः। इध्मः। शरत्। हविः ॥६॥

यजुर्वेदेऽयं मन्त्रश्चतुर्दश। तत्र तृतीयपाद एवमस्ति—

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं   वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्।

सायणभाष्यम्—यत् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञम् अतन्वत अन्वतिष्ठन् तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्त वसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीत् अभूत्। तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्म आसीत्। तमेवेध्मत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। तथा शरद्धविः आसीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। पूर्वं पुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन सङ्कल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जब [देवाः] देवताओं ने [पुरुषेण] पुरुष रूप [हविषा] हवि से [यज्ञम्] यज्ञ का [अतन्वत] विस्तार किया [अस्य]

उस यज्ञ (के लिए) [वसन्तः] वसन्त ऋतु [आज्यम्] तपा हुआ घी [आसीत्] थी, [ग्रीष्मः] गरमी [इध्मः] समिधाएँ (और) [शरद्] शरद् ऋतु [हविः] आहुतियां ॥ ६ ॥

टिप्पणियां—१. भाष्यकारों के विभिन्न भाव–भाष्यकारों ने इस मन्त्र में देवताओं द्वारा पुरुष को हविस् बना कर बाह्य द्रव्यों के अनुपलब्ध होने के कारण उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिए मानस यज्ञ का विस्तार माना है। मही० लिखते हैं कि पहले पुरुष का सामान्य हविः के रूप में संकल्प किया गया, फिर आज्य इध्म और हविः—इन विशेष अंगों की पूर्ति के लिए वसन्त आदि ऋतुओं का संकल्प किया गया। उवट ने इस में योगियों द्वारा अमृतभूत दीपित आत्मा से आत्मयज्ञ के विस्तार का भाव भी ग्रहण किया है। इस यज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् के अर्थ क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण किए हैं। द०द० ने भी घृत आदि सामग्री के अभाव में '(हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोगों का मानस यज्ञ' माना है जिस में '(वसन्तः) पूर्वाह्णकाल (ग्रीष्मः) मध्याह्न काल और (शरद्) आधी रात' को घी आदि माना है। भाव यह है कि इस यज्ञ में ये 'काल ही साधन रूप से कल्पना करने चाहियें।' ऋभाभू० पृ० १६१–१६२ पर भिन्न भाव लिया गया है—(देवाः) देव अर्थात् जो विज्ञानवान् लोग होते हैं उन को (पुरुषेण) ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के (हविषा) दिए पदार्थों का ग्रहण कर के (यद् यज्ञम्) पूर्वोक्त यज्ञ का (अतन्वत) विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यज्ञं यज्ञे प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च।' मन्त्र के उत्तरार्द्ध में ब्रह्माण्डयज्ञ से जगदुत्पत्ति के लिए वसन्त आदि को कालावयव माना है। आप ने इध्मः का अर्थ प्रदीप्त करने वाली या अग्नि किया है। मै० के विचार में यहां देवता व्याकृत पुरुष को हवि बना कर आदि पुरुष के लिए आदर्श पुरुष (मेध) यज्ञ करते हुए वर्णित किए गए हैं।

२. सम्भावित अर्थ—इस मन्त्र से यह लक्षित होता है कि भूमि आदि लोकों की रचना के पश्चात् प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति को सम्भव बनाने के लिए ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। ऋतुओं से ही उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय होते हैं। वसन्त में उत्पत्ति होती है, शरद् में वृद्धि, रस का विकास आदि और ग्रीष्म में पक कर तेजस्वी हो सकना क्रियाएं लक्षित होती हैं। आज्य को प्राण (तै० ३।८।१५।२३), हवि=को यज्ञ की आत्मा (श० १।६।३।३९) और इध्म को अग्नि का प्रदीपक (श० १।३।५।१) कहा है। अतः यहां पर ऋतुओं के द्वारा उत्पत्ति, विकास और पाक (=ह्रास)—इन तीन शक्तियों का वर्णन किया गया है।

(ii) पूर्वार्द्ध में पुरुष विराज का द्योतक है, आदि पूर्ण परमात्मा का नहीं यह विराज् ही जगत् की उत्पत्ति की सामग्री (=हवि) है।

३. देवा—ऊपर ऋ० २।१२।१ में देवो देवान् पर टिप्पणी देखें। ब्रह्माण्ड में प्रकाश आदि गुणों से युक्त समस्त पदार्थ मात्र और शक्तियां 'देव' हैं। अतः सृष्टि की रचना में लगी हुई समस्त शक्तियां भी देवता हैं। ये ही विराज् रूप सामग्री से सृष्टिरचना रूपी यज्ञ का विस्तार करती हैं।

(ii) अथ० १०।७।२४ में ब्रह्मवेत्ताओं को 'देव' कहा है—'यत्र देवा ब्रह्म ज्येष्ठमुपासत।' इस आधार पर यहां 'देवाः' का अर्थ वेदज्ञाता विद्वान् भी किया जा सकता है। इस में 'जब विद्वानों ने विराज् पुरुष रूप सामग्री से सम्पन्न सृष्टियज्ञ पर विचार किया तब उन्हों ने उस में वसन्त आदि के योग को जाना' ऐसा मान लेना होगा।

४. यज्ञम्—मै०—होम, बलि। सामान्यतः इस पद का यही अर्थ समझा जाता है। परन्तु वैदिक और संस्कृत वाङ्मय में इस का अर्थ बहुत विस्तृत है। यह पद देवपूजा संगतिकरण और दान अर्थ वाली √यज् से बनता है। अतः इस के अर्थों में ये तीनों भाव व्यष्टि या समष्टि रूप में पाए जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के अर्थ—याग, अध्वर, नमः, मख, बृहन् विपश्चित्, अर्यमा, सुम्न, श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, विष्णु, अन्न, अग्नि, वाक्,

वायु, संवत्सर आदि में, गीता के यज्ञवर्णन में जपयज्ञ, प्राणापानयज्ञ आदि में यह स्थिति नितान्त स्पष्ट हो रही है। अतः सृजन भी यज्ञ है, सृजक भी यज्ञ है और सृजन की सामग्री भी यज्ञ है। परन्तु यह स्थिति तब तक ही है जब तक ये कर्म, कर्त्ता और सामग्री आदि श्रेष्ठतम कर्म = परोपकार के साधक हैं अन्यथा नहीं। विद्वान् ऐसे ही अङ्गों से यज्ञ कर के शाश्वत नियमों और युग आदि की व्यवस्था करते हैं (देखो आगे मन्त्र १६)।

संहितापाठः	पदपाठः
२८. तं यज्ञं बुर्हिषि प्रौक्षुन्	तम्। यज्ञम्। बुर्हिषि। प्र। औक्षुन्।
पुरुषं जातमंग्रुतः।	पुरुषम्। जातम्। अग्रुतः।
तेनं देवा अयजन्त	तेनं। देवाः। अयजन्त।
साध्या ऋषंयश्च ये॥ ७॥	साध्याः। ऋषंयः। च। ये॥७॥

यजुर्वेदे मन्त्रोऽयं नवमः।

सायणभाष्यम्—यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तं "तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः" इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूलाः ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः॥ ७॥

हिन्दी अनुवाद—[अग्रतः] सब से पहले [जातम्] उत्पन्न हुए [तम्] उस [यज्ञम्] यज्ञ (= पूजनीय) [पुरुषम्] (विराज्—) पुरुष को [बर्हिषि] बर्हि (से आच्छादित यज्ञवेदी) पर [प्रौक्षन्] जल से छिड़का। [तेन] (उस यज्ञमय पुरुष से) [देवाः] देवता विद्वान्। [साध्याः] साध्य (च) और [ये] जो [ऋषयः] ऋषि थे (उन्हों ने) [अयजन्त] यज्ञ किया॥७॥

टिप्पणियां—१ तम्—उवट ने यहा पर योगियों के आत्मयज्ञ का ही वर्णन माना है। भाष्यकारों ने 'तम्' के भाव का व्याख्यान नहीं किया है। मै० ने जातमग्रतः का भाव विराज् से उत्पन्न आवृत पुरुष = और पुरुष (मन्त्र ५) लिया है। उवट ने 'उत्पन्न दिव्य ज्ञान' भाव लिया है। और दस० ने पूर्ण परमात्मा।

(ii) परन्तु यहाँ पर सृष्टिरचना चालू हो चुकी है। विराज् पुरुष को हवि॰ बनाया जा चुका है। सृजक शक्तियां उत्पन्न हो चुकी हैं। अतः यहां विराज् पुरुष का ही वर्णन चल रहा है।

२ यज्ञम्—विराज् पुरुष जीवों के कल्याण के लिए सृष्टि रचता है, अतः यह यज्ञ है। पिछले मन्त्र में 'यज्ञम्' पर टिप्पणी भी देखें।

३ बर्हिषि—उवट-तृतीयार्थ मान कर प्राणायाम से दीपित अर्थ लेते हैं। महीo—मानस [illegible]। दस०—मानस ज्ञान यज्ञ (य०भाष्य), हृदयान्तरिक्ष (ऋभाभू० पृ० १५८)। मै०—घास।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थों में प्रजा, पशु, ओषधियां, और भूमा भी दिए हैं। इस से अगले मन्त्र में प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है। अतः 'पशुओं की सृष्टि रूप महान् यज्ञ' अर्थ करना समीचीन होगा।

४ प्रौक्षन्—प्र + √उक्ष् + लङ् प्रथमपु० बहुवचन। मै०—छिड़का। महीo—संस्कारों से संस्कृत किया। दस०—सींचते हैं अर्थात् धारण करते हैं।

(ii) यहां पर 'लगाया, नियोजित किया' अर्थ अभिप्रेत है।

५ पुरुषं जातमग्रतः—ऊपर तम् पर टिप्पणी देखें। लोकों, कालविभाग आदि की रचना से पूर्व उत्पन्न विराज् पुरुष।

६ देवा—पिछले मन्त्र में देवाः पर टिप्पणी देखें।

७, साध्या ऋषयश्च ये—मै० ने साध्याः को एक पुरानी दिव्य योनि या जाति माना है और ऋषय को 'ऋषि, मन्त्ररचयिता कवि'। महीo ने साध्याः का अर्थ सृष्टिसाधनयोग्य प्रजापति आदि और दस० ने योगाभ्यासी ज्ञानी किया है।

ये दोनों ऋषि को मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थवित् मानते हैं। मै० का सुझाव है कि साध्याः को देवाः का विशेषण भी माना जा सकता है।

(ii) श० १० । २ । २ । ३ में मन्त्र १६ के साध्याः देवाः को विशेष्य-विशेषण मान कर 'प्राण' अर्थ किया है। ऐ० १ । १६ में इन्हें 'छन्दांसि' कहा गया है। ऋषयों को श० ६ । १ । १ । १ में तप से उत्पन्न बताया गया है—ते यत्पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः। यह पद गत्यर्थक√ऋष् धातु से बनता है। निघं० । २ । २ । १४ अ में ऋषयः को पदनाम माना गया है। अतः इस भाग का अर्थ—(देवाः) सृजक शक्तियां (साध्याः) प्राण (च) और (ये)[1] यज्ञशील (ऋषयः) तप और श्रम-हुआ। इस की योजना—ये साध्याः ऋषयः च देवाः सन्ति ते—जो प्राणरूप यज्ञशील तप और श्रम से युक्त सृजक शक्तियां—करने पर अर्थ सुसंगत हो जाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
✓२९. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः	तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः ।
संभृतं पृषदाज्यम् ।	सम्ऽभृतम् । पृषत्ऽआज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥	आरण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥ ८ ॥

यजुर्वेदेऽयं मन्त्रः पठः। तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्—

पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरण्या ग्राम्याश्च ये ॥	आरण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः। सर्वात्मकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्। तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं संभृतं संपादितम्। दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं

१. यद पद√यज् धातु से निष्पन्न है। देखो उ० ३।१३२।

सर्वं संपादितमित्यर्थः। तथा वायव्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान्। आरण्या हरिणादयः। तथा ये च ग्राम्याः गवाश्वादयः तानपि चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—"वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः। वायव एवैनान् परिददाति" (तै० ३।२।१।३) इति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुतः] अच्छी प्रकार होम किए गए [यज्ञात्] (हवि बनाए हुए विराज् पुरुष रूप) यज्ञ से [पृषदाज्यम्] पशु [सम्भृतम्] उत्पन्न हुए। [तान्] उन [पशून्] पशुओं को [वायव्यान्] वायु में निवास करने वाले [आरण्यान्] जंगल में रहने वाले [च] और [ये] जो [ग्राम्याः] गाँव (आदि) में रहने वाले (हैं उन को वैसा) [चक्रे] बनाया ॥

टिप्पणियाँ—१. यजुर्वेद के पाठ में अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा।

२ यज्ञात्—देखो ऊपर मन्त्र ६ में यज्ञम् पर टिप्पणी। यहाँ पर मन्त्र ७ में वर्णित 'पशुरचना रूप यज्ञ' का मान लेना अधिक सगत रहेगा। दया०—ने इस में पूजनीय पुरुष परमात्मा=आदि पुरुष का वर्णन माना है (य० भाष्य)। यह विचारणीय है।

३. सर्वहुतः—मही०—सर्वं हूयते यस्मिन् स सर्वहुत्। तस्मात्। सब कुछ की आहुति को प्राप्त करने वाला पुरुषमेधयज्ञ। दया०—सब से ग्रहण किये जाने वाला (पूजनीय परमात्मा)।

(ii) यज्ञ की सिद्धि तब ही होती है जब वह अच्छी प्रकार सम्पन्न हो। अग्नि में पदार्थों को डालने का एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्मतम बना कर वायु द्वारा सर्वत्र फैला देना है। यह तब ही सम्भव है जब अग्नि खूब प्रज्वलित हो। यह भाव यहाँ भी अभिप्रेत है। अतः इस का अर्थ—'सृजक शक्तियों के योग से विराज् रूप सामग्री से किए जा रहे प्राणिरचना रूप यज्ञ को अग्नि खूब प्रज्वलित थी। उस समय उस विराज् सामग्री के सूक्ष्म तत्त्वों से' अभिप्रेत है।

४. संभृतम्—सम् + √हृ + क्त। वेद में √हृ और √ग्रह् के ह् को भ् हो जाता है। अच्छी प्रकार सम्पन्न, सम्यक् सिद्ध, सम्यक् उत्पन्न। यहां क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

५. पृषदाज्यम्—मही०—दधि से युक्त आज्य अर्थात् दध्यादि भोग्य पदार्थों का समूह। मै०—घी। दस० भी मही० का ही भाव लेते हैं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ अन्न, प्राण, पयः और पशु मिलते हैं। यहां प्राणिरचना यज्ञ हो रहा है। उस से पहले प्राणी उत्पन्न होंगे, तब दधि आदि से उपलक्षित भोग्य पदार्थ उत्पन्न हो सकेंगे। यद्यपि यहां कार्य-कारण के पौर्वापर्य का व्यत्यास रूप अतिशयोक्ति अलंकार माना जा सकता है, परन्तु मन्त्र की रचना इस के विरुद्ध है। पाद ३ में 'तान्' 'पृषदाज्यम्' का निर्देश करता है और उस का अर्थ 'पशून्' देता है। इन पशुओं के तीन विभाग किए गए वायव्य, आरण्य और ग्राम्य।

६. तान्—मै०—तत् के स्थान पर पशून् के प्रभाव से 'तान्' का प्रयोग हुआ है।

७. ग्राम्यान्—यह उन विरल पदों में से है जहां उच्चारण काल में भी स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता बनी रहती है। इस के आन् को आगे आने वाले 'आ' के कारण आँ नहीं हुआ क्यों कि यह पाद के अन्त में है। इस से ऐसा आभास मिलता है कि पहले मन्त्रों का प्रत्येक पाद अन्य पादों से स्वतन्त्र समझा जाता था (मै०)।

संहितापाठः	पदपाठः
१०. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत	तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः ।
ऋचः सामानि जज्ञिरे ।	ऋचः । सामानि । जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्	छन्दांसि । जज्ञिरे । तस्मात् ।
यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥	यजुः । तस्मात् । अजायत ॥९॥

मन्त्रोऽयं यजुःसंहितायां सप्तमः। तत्र 'छन्दांसि'—इत्यत्र 'छन्दां ꣳसि'—इति पाठः।

सायणभाष्यम्—सर्वहुत: तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋच: सामानि च जज्ञिरे उत्पन्ना: । तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजुः अपि अजायत ॥ ९॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुत] अच्छा प्रकार निष्पन्न [यज्ञात्] (विराज् पुरुष रूप सामग्री वाले) सृष्टियज्ञ से [ऋच:] ऋचाएं (और) [सामानि] साम [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए। [तस्मात्] उस से (ही) [छन्दांसि] छन्द और [तस्मात्] उस से (ही) [यजुः] यजुष् [अजायत] उत्पन्न हुए ॥ ९॥

टिप्पणियां—१ यज्ञात् सर्वहुत:—स०—सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष (सर्वहुत) सब के पूजनीय, सब के उपास्य सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से। वे इसे ऋच आदि का विशेषण भी मानते हैं क्योंकि चारों वेद सब मनुष्यों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य हैं। उन के विचार में (१) प्रजापति (पुरुषयज्ञ) से देव ऋक्साम यजु और छन्दों को उत्पन्न करते हैं। (२ ग्रन्थ से आमयज्ञ के प्रशस्त हो जाने पर स्वयमेव अन्न स (अन्न आदि) अन्तस्थ हो जाते हैं।

२ ऋच:, सामानि, छन्दांसि, यजु:—स० ने क्रमश: आदि का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद लगाया है। उन का विचार है कि ऋच सामानि और यजु में ही समस्त छन्दों का अन्तर्भाव हो जाता है, अत: छन्दांसि का प्रयोग निरर्थक होने से वह अथर्ववेद का द्योतक है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोष में छन्दस् का अर्थ ऋक्, यजु और साम से भिन्न, सम्भवत: मूलत:, एक जादू टोने का वाक्य किया है। इस आधार पर पीटर्सन भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। मै० समझते हैं कि इस में केवल तीन वेदों का ही सीधा और साक्षात् वर्णन है, अथर्ववेद बहुत पीछे तक चतुर्थ वेद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

(ii) ऋ० १०।१४।१६ में त्रिष्टुभ्, गायत्री और छन्दांसि को यम में निहित बताया गया है। ऋ० १०।११४।६ में विप्र एक सुपर्ण को अक्षरों में छन्दों को युक्त करते हुए बहुधा कल्पित करते हैं। मन्त्र ६ में छन्दों को धारण

करते हुए विद्वान् ऋक् और सामन् से यज्ञ का सम्पादन करते हैं, मन्त्र ९ में प्रश्न है कि छन्दों के योग को कौन जानता है। ऋ० १०।१३०।३ में मन्त्रों को छन्द कहा है, मन्त्र ७ में इन के दो विभाग किए हैं—स्तोम और छन्द। अतः छन्द समस्त मन्त्रों का द्योतक पद है। यहां पर ऋक्, साम और यजुः से बचे हुए मन्त्रसमूह का अभिप्राय है, और वह अथर्ववेद ही है।

३. मन्त्र की समस्या—परन्तु अभी मानवसृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है। इस से पहले मन्त्र में पशु शब्द से मानव का भी ग्रहण तो किया जा सकता है, परन्तु अगले मन्त्र में पशुओं का पुनः विस्तार किया गया है। मानवों का वर्णन केवल मन्त्र १२ में आया माना जा सकता है, फिर ऋग्वेद आदि की उत्पत्ति कैसे हुई। क्या इस में नित्य वाणी के प्रकाश का भाव ले कर वाणी के अंग होने के कारण ही ऋग्वेद आदि का वर्णन किया गया है, अथवा अन्य किसी दृष्टि से यह विचारणीय है। उधर ब्राह्मणग्रन्थों में ऋक् आदि के कुछ अर्थ मिलते हैं, क्या उन में से भी कोई अर्थ यहां अभिप्रेत है!

संहितापाठः	पदपाठः
३१. तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त	तस्मा॑त् । अश्वाः॑ । अ॒जा॒य॒न्त॒ ।
ये के चो॑भ॒याद॑तः ।	ये । के । च॒ । उ॒भ॒याद॑तः ।
गावो॑ ह जज्ञि॒रे तस्मा॑त्	गावः॑ । ह॒ । ज॒ज्ञि॒रे॒ । तस्मा॑त् ।
तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑ ॥१०॥	तस्मा॑त् । जा॒ताः । अ॒जा॒वयः॑ ॥१०॥

यजुःसंहितायां मन्त्रो ऽयमष्टमः।

सायणभाष्यम्—तस्मात् पूर्वोक्तायज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरु र् + उभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्मात् यज्ञात् गावः च जज्ञिरे। किं च तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः ॥१८॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [ये] जो [के] कोई (भी) [उभयादतः] (ऊपर नीचे —) दोनों ओर दान्तों वाले (हैं वे) [अश्वाः] घोड़े

[तस्मात्] उसी (यज्ञ) से [अजायन्त] उत्पन्न हुए। [ह] निश्चय से [गावः] गौएं [तस्मात्] उसी (यज्ञ) से [जज्ञिरे] उत्पन्न हुईं [अजावय] बकरी और भेड़ [जाता] उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

टिप्पणियां—१. भाष्यकारों का अर्थ—भाष्यकारों ने पहले दो पादों को एक साथ ले कर घोड़ों और दोनों ओर दान्तों वाले गधे आदि की उत्पत्ति का वर्णन माना है। परन्तु गाय के ऊपर और नीचे तथा दोनों ओर दंष्ट्राएं होती हैं, तथा बकरियों के ऊपर और नीचे दान्त होते हैं, अतः ये सब ही 'उभयादत' हैं। ऐसी स्थिति में हि॰अ॰ की योजना उचित जान पड़ती है। भाष्यकारों का अर्थ यह है—

उस से घोड़े उत्पन्न हुए और ये जो कोई भी दोनों ओर दान्तों वाले हैं। उस से गाएं उत्पन्न हुईं। उस से बकरी और भेड़ें उत्पन्न हुईं।

२ अजावयः—द्वन्द्व समासों को पदपाठ में अवगृहीत नहीं किया जाता है।

संहितापाठ	पदपाठ
३२. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥	यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा। वि। अकल्पयन्। मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥ ११ ॥

यजु.संहितायामयं दशमो मन्त्र। तत्र तृतीयचतुर्थपादौ त्वेवं स्त.—

मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥	मुखम्। किम्। अस्य। आसीत्। किम्। बाहू इति। किम्। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥

सायणभाष्यम्—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यत् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ बाहू अभूताम्। का ऊरू। कौ च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जब (देवों ने) [पुरुषम्] विराज् पुरुष की [व्यदधुः] (सृष्टियज्ञ में) आहुति दी (तब उस को) [कतिधा] कितने प्रकार से [व्यकल्पयन्] वर्णन किया ? [अस्य] उस का [मुखम्] मुख [किम्] क्या (था) [बाहू] दो भुजाएं [कौ] कौन-कौन सी (थीं) [ऊरू] जंघाएं (और) [पादा] पैर [का] कौन-कौन [उच्येते] कहे जाते हैं ?

टिप्पणियाँ—१. अगले मन्त्र की भूमिका—यह मन्त्र अगले मन्त्र के वर्णन की प्रश्नात्मक पृष्ठभूमि है।

२. यत्—मही०—जब। दस०—क्यों कि (ऋभाभू०); उस (पुरुष) को (य०भाष्य)।

३. पुरुषम्—सा०—विराड् पुरुष। दस०—पूर्ण पुरुष।

४. वि अदधुः—मै०—जब देवों ने पुरुष को हवनीय पशु के रूप में काटा। मही०—काल से उत्पन्न किया। दस०—(य०भाष्य)—विविध प्रकार से धारण करते हैं। (ऋभाभू०)—विविध प्रकार से व्याख्यान करते हैं।

(ii) आश्रित वाक्य होने पर भी पदपाठ ने 'वि' को अदधुः से पृथक् किया है। इस से ज्ञात होता है कि 'वि' को पदकार उपसर्ग नहीं मान रहे हैं।

५. कतिधा—कितने प्रकार से। इस के उत्तर अगले मन्त्रों में पाए जाते हैं। मन्त्र १२-१४ में चार-चार प्रकारों का उल्लेख है और मन्त्र १५ में दो प्रकारों का।

६. वि अकल्पयन्—सै०—बांटा, उ०—विचार किया। मही०—(कितने प्रकार) कल्पना की। दया०—विशेष कर कहते हैं (य० भाष्य)। उस के सामर्थ्यगुणों की कल्पना करते हैं (ऋभाभू०)।

(ii) इस धातु का कल्पना करने, सोचने, विचारने, व्याख्यान करने के अर्थ में ऋ० १०।११४।५ में भी प्रयोग हुआ है—

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।' ऋ० १।१६४।४६—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' से तुलना करने पर उपरोक्त अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है। अतः—कितने रूपों में व्याख्यान किया—यह सार हुआ।

७. मुखम्—सा०—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सामान्य प्रश्न किया गया है और इस भाग में उस प्रश्न का विस्तार किया है। सा० आदि ने इस का अर्थ—पुरुष के मुख, बाहू, ऊरू और पैर क्या थे—लिया है। दया० ने य० भाष्य में "(मुखम्) के समान श्रेष्ठ, (बाहू) भुज बल को धारण करने वाला, (ऊरू) जांघ के कार्य करने हारे और (पादौ) पग के समान नीच कौन थे" और ऋभाभू० पृ० १९८ में (i) मुख्य गुणों से, (ii) बल, वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से, (iii) व्यापार आदि मध्यम गुणों से और (iv) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति हुई—अर्थ किया है।

(iii) इस मन्त्र के पूर्वार्ध में पूछा गया है कि विराट् का विद्वानों ने कितने प्रकार व्याख्यान किया। अतः उत्तरार्द्ध में मुख, बाहू, ऊरु और पाद की दृष्टि से विराज् के चार प्रकार से अर्थात् चार व्याख्यान अभिप्रेत हैं। ये चारों व्याख्यान और इन में प्राप्त नाम उसी प्रकार एक विराज् के द्योतक हैं जिस प्रकार 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' में अग्नि, यम और मातरिश्वा 'एकं सत्' के द्योतक हैं। विराज् के मुख आदि साक्षात् नहीं हैं। उस की शक्तियों को ही मुख आदि नाम दिया है। मुख=मुख के सदृश मुख-निरपेक्ष, ज्ञान प्रवचन और नेतृत्व आदि के गुण। बाहु—√बह् धारण करना से। धारक, शक्ति, बल, वीर्य, रक्षा, संहार आदि गुण। ऊरु—√ऊर्णु ढकना से। अतः आच्छादन, पालन, विस्तार करना आदि गुण। पद् (पाद)—

√पद् जाना से। अतः गति, प्राप्ति, ज्ञान, श्रम और तप आदि। भाव यह है कि इन शक्तियों की दृष्टि से विराज् के क्या-क्या नाम हुए। यजुर्वेद के पाठ में 'कौ' और 'का' के स्थान पर 'किम्' पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है। वहां अर्थ यह है--इस का मुख किस नाम का था, बाहू, ऊरू और पाद किस नाम के थे।

८. कौ--डा० मं० लिखते हैं कि व्यञ्जनों से पूर्व द्विवचन के 'औ' के स्थान पर ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में 'आ' का प्रयोग पाया जाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसीत्।
बाहू राजन्यः कृतः।	बाहू इति। राजन्यः। कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः	ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥	पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत॥१२॥

यजुःसंहितायामयं मन्त्र एकादशः। तत्र ब्राह्मणो, राजन्यः इत्युभयत्रापि ० णो, ०न्यः एवं पाठः। 'पद्भ्यामित्यस्य स्थाने 'पद्भ्यां'पाठो वर्तते।

सायणभाष्यम्—इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति।. अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः बाहू कृतः बाहुत्वेन निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् यौ ऊरू तद्रूपः वैश्यः संपन्नः ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे "स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत" (तैसं० ७। १। १। ४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ब्राह्मणः] ब्रह्मज्ञानी [अस्य] उस (विराज्-पुरुष) का [मुखम्] मुख [आसीत्] था। [राजन्यः] शासक [बाहू] दोनों

भुजाएं [कृतः] बनाया गया। [यत्] जो [वैश्यः] (सामान्य) प्रजाजन (था) [तत्] वह [अस्य] इस की [ऊरू] दोनों जंघाएं (कल्पित किए गए)। [पद्भ्याम्] पैरों से (वह) [शूद्रः] शूद्र (= तपस्वी) [अजायत] हो गया।

टिप्पणियां—१ वर्णों की उत्पत्ति—इस मन्त्र के आधार पर सब भाष्यकारों ने ब्रह्म के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जंघाओं से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है, और समाज में उन का स्थान भी उत्तरोत्तर अवर माना है। मध्यकालीन और उस विचार के अनुयायी पण्डित इन वर्णों को जन्मगत मानते हैं और दया० गुणकर्मस्वभाव के अनुसार वर्णव्यवस्था मान कर एक दूसरे वर्ण में परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

(ii) जैसा पहले मन्त्र (११) की टिप्पणियों में लिखा गया है यहां पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विराज् के ही विभिन्न दृष्टियों से अनेक नाम हैं। भाव यह है कि मुख्यतः ज्ञान और प्रवचन की दृष्टि से विराज् का नाम ब्राह्मण है, बल, वीर्य आदि की दृष्टि से क्षत्रिय वा राजन्य, विस्तार करने और सर्वत्र व्यापक होने की दृष्टि से वैश्य और गति, दान और प्राप्ति की दृष्टि से शूद्र नाम है। उपमा से लोक में इन गुणों के आधार पर विश० (= प्रजा) के भी पृथक्-पृथक् नाम कल्पित कर लिए गए। ऊपर मन्त्र ऋ० २।१२।६ (क्रमसंख्या १२) में भी टिप्पणियां देखें।

(iii) प्रचलित शैली के अर्थों के अनुसार भी चार वर्णों के प्रसिद्ध नाम ऋग्वेद में केवल इसी मन्त्र में आए हैं। यही नहीं, चारों संहिताओं में इस क्रम से चारों वर्णों के ये नाम इसी मन्त्र में मिलते हैं और किसी में नहीं। डा० आम्बेडकर इस मन्त्र को विशेष रूप से प्रक्षिप्त मानते हैं।

२. कृत—मै० ने इसे कृतां के स्थान पर राजन्य से प्रभावित प्रयोग माना है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं। कृतः और राजन्य समानाधिकरण हैं।

३ यद्वैश्य—मै० ने इस का अर्थ-उस की दो जंघाएं जो वैश्य था हो गई-किया है। ऊपर के व्याख्यान की दृष्टि में यह अर्थयोजना उलटी है।

४. पद्भ्याम्—में जनन की प्रकृति की द्योतक पञ्चमी मानी गई है। पिछले मन्त्र की दृष्टि में 'अजायत' का भाव 'उच्यते' है। अतः यहां पञ्चमी नहीं मानी जा सकती। जटाभिस्तापसः के समान इत्थंभूतलक्षण में तृतीया है—गतिशीलता, श्रम और तप के कारण विराड् शूद्र कहलाता है।

(ii) गति दो प्रकार की होती है—१. श्रेय की ओर और २. प्रेय की ओर। अतः पद्भ्याम् में द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

(iii) शक्ति भी दो प्रकार की होती है—१. पोषक और संहारक। संसार और राष्ट्र के धारण में दोनों प्रकार की शक्तियां काम आती हैं। अतः 'बाहू' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है।

(iv) विस्तार भी अपना और दूसरों का होने से दो प्रकार का है। अतः ऊरू में भी द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

संहितापाठः	पदपाठः
३४. चन्द्रमा मनसो जात- श्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥	चन्द्रमाः। मनसः। जातः। चक्षोः। सूर्यः। अजायत। मुखात्। इन्द्रः। च। अग्निः। च। प्राणात्। वायुः। अजायत ॥१३॥

अयं मन्त्रो यजुःसंहितायां द्वादशः। तत्र च तृतीयचतुर्थपादावित्थम्-

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥१२॥	श्रोत्रात्। वायुः। च। प्राणः। च। मुखात्। अग्निः। अजायत ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम्—यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादि वेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह। प्रजापतेः मनसः सकाशात् चन्द्रमाः जातः। चक्षोः च चक्षुषः सूर्यः अपि अजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणात् वायुरजायत ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—(उसके) [मनसः] मन से [चन्द्रमा] चन्द्रमा [जातः] बना। [चक्षोः] आँख से [सूर्यः] सूर्य [अजायत] उत्पन्न हुआ। [मुखात्] मुख से [इन्द्रः] इन्द्र [च] और [अग्निः] अग्नि [च] और [प्राणात्] प्राणों से [वायुः] वायु [अजायत] उत्पन्न हुए॥ १३॥

टिप्पणियाँ—१ चन्द्रमाः—चन्दति ह्लादयति दीपयति वा स चन्द्रः (उ० २।१३ दभा०)। चन्द्रं मिमीतेऽसौ चन्द्रमा (उ० ४।२२८)। आनन्दप्रद, प्रकाशक। चन्द्रमा को चन्द्रमा भी इन्हीं गुणों के कारण कहते हैं। इस की एक अन्य व्युत्पत्ति भी सम्भव है—चन्दति चन्दयति वा चन्द्रः। चन्दे आनन्दे प्रकाशे वा रमतेऽसौ चन्द्रमा। आनन्द और प्रकाश में रमण करने वाला, अतः आनन्दमय, प्रकाशस्वरूप। निघ० ५।१।१३ में इसे पदनामों में पढ़ा गया है। शाकल्य ने इसे पदपाठ में अवगृहीत नहीं किया है। सम्भवतः वे इस की दूसरी व्युत्पत्ति मानते हों जिस में पूर्वपद में विकार होने के कारण यह पद अवगृहीत नहीं हो सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे चन्द्र + मे से और नि० ११।५ में चाय + √द्रम् आदि से व्युत्पन्न किया गया है। इस के अर्थों में सोम, पुत्र, वरुण, सविता, मनस्, रेतस्, अन्न, प्राण, प्रजापति, ब्रह्मा, धाता, विधाता, राजा, उद्गान, मनुष्य लोक, वाक्, भर्ग, सब कुछ आदि निहित हैं।

२ मनसः—चन्द्रमा और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चन्द्रमा की किरणों के विशेष प्रकार से पड़ने पर मन में अनेकविध विचारों की उत्पत्ति बताई जाती है। शुक्ल पक्ष में कृष्ण पक्ष की अपेक्षा मानसिक गति अधिक तेज़ तीव्र होती है तु० क० तै० ३।१०।८।५—चन्द्रमा मे मनसि श्रितः। तथा जै० उप० १।२८।५ तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमास्सः। अतः यहाँ पर पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति कही गई है। मनस् शब्द √मन् जानना, मनन करना से बनता है। जानने का साधन, अतः ज्ञानशक्ति, अनुभवशक्ति आदि। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे सविता, इन्द्र, ब्रह्म, समुद्र, देव, वृषा, वाक्, प्राणों का अधिपति, यजु, अध्वर्यु आदि कहा गया है। बृहत्, पर ब्रह्म, होता, प्रजापति, सब कुछ, पितर, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि।

३. चक्षोः—डा० मै० लिखते हैं कि चक्षु का पञ्चम्यन्त यह रूप केवल इसी मन्त्र में आया है। सामान्यतः यह पद चक्षुष् है। सूर्य के कारण ही आलोक प्राप्त कर के मनुष्य देखने में समर्थ होता है। सूर्य स्वयं सब जगत् को अपने प्रकाश से देखता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ सत्य, निवित्, रुक्, बृहस्पति, जमदग्नि ऋषि, मैत्रावरुण, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, देव, आदित्य, अर्क, सूर्य, यश, त्रैष्टुभ, उष्णिक् आदि दिए गए हैं।

४. मुखात्—पिछले मन्त्र में मुख पर टिप्पणी देखें। श० १४।४।३।७ में मुख को 'प्रतीक' कहा है।

५. इन्द्रः—पीछे ऋ० २।१२।१ में इन्द्रः पर टिप्पणी देखें। पाउ० म. सं० ३१ में इन्द्रः पर भी टिप्पणी देखें।

६. अग्निः—डा० फतह सिंह ने वैप० ७ में इसे मूलतः अ—√ग्नृत् से व्युत्पन्न माना है। वैदिक वर्णनों में इस के अग्रणीत्व, प्रकाश और गतिशीलता गुण ही विशेष लक्षित होते हैं। मुख में भी अग्रणीत्व, प्रकाश और मानसिक गति सुविदित हैं। वे भाप० ४।१३; तथा परिशिष्ट २।१ भी देखें। पाउ० सूसं० ३१ में अग्नि पद पर टिप्पणी देखें।

७. प्राणात्—यह पद प्र + √अन् श्वास लेना से बनता है। श्वासक्रिया और उस में अन्दर आने और बाहर जाने वाली वायु ही प्राण है। प्राण शब्द से स्वयं प्राण का और प्राण, अपान, व्यान आदि दसों प्राणवायुओं का द्योतक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राणों को प्र, आदित्य, अर्क, सविता, सोम, चन्द्रमा, अग्नि, अमृत, वातंवद्स्, वायु, वात, मातरिश्वा, वनस्पति, वरुण, रुद्र, वसु, मित्र, साध्य देव, विश्वे देवाः, ऋषि, वसिष्ठ ऋषि, ऋक्, यजुः, रश्मि, होता, सत्य, संवत्सर, मधु, ज्योति, हिरण्मय, क, प्रजापति, तनूनपात्, पिता, अर्णव, अन्न, सामवेद, आपः आदि कहा गया है। देखो वैको०।

८. वायुः—√वा जाना, बहना से। गतिशील, ज्ञानवान्, प्राप्त वस्तु आदि वायु शब्दद्योत्य होते हैं। पिछले साहित्य में यह पद योगरूढ़ि हो कर

'हवा' का द्योतक बन गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क ७ में वायु के मार्गों का उल्लेख मिलता है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में वायु के अर्थों में हवा, मन को पृथक् पृथक् व्यक्त करने वाली, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पर्जन्य, प्रजापति, इन्द्र, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, सविता, विश्वकर्मा, पशुपति, उग्र, पुरोहित, वाक्, देवों की आत्मा, यज्ञ, अध्वर्यु, शान्ति आदि दिए हैं।

९. जैसा ऊपर मन्त्र ११ की टिप्पणियों में लिखा है वहां से आहुत पुरुष के नामों या व्याख्यानों का प्रकरण चल रहा है। वही विषय प्रकृत मन्त्र में तथा अगले मन्त्र में चल रहा है। इस प्रकरण का उपसंहार अगले मन्त्र (म० १४) के पाद ४ में—तथा लोकाँ अकल्पयन्—इस प्रकार लोकों = स्वरूपों का व्याख्यान किया—में किया है।

(ii) ऊपर टिप्पणियों में विभिन्न पदों के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थों के अध्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण से यह सुव्यक्त हो जाता है कि सब पदों के कतिपय अर्थ समान हैं। यह तब ही सम्भव है जब वे एक ही सत्ता के विभिन्न पक्षों के द्योतक हों। इस दृष्टि से भी यहां पुरुष के स्वरूपों का वर्णन ही अभिप्रेत है। इस की पुष्टि चन्द्रमा और मन के, सूर्य और चक्षु के, मुख तथा इन्द्र और अग्नि के तथा प्राण और वायु के घनिष्ठ सम्बन्ध से भी होती है।

(iii) परन्तु मनस., चक्षो, मुखात् और प्राणात् में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग विचारणीय है। पिछले मन्त्र १२ में पद्भ्याम् में इत्थंभूतलक्षण में तृतीया देने से समस्या हल हो गई है। परन्तु प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि से यहां हेतु में पञ्चमी माननी समीचीन रहेगा। मननशक्ति, दर्शनशक्ति, सहनशीलता और धारण करने की शक्ति के कारण उस के नाम क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और अग्नि तथा वायु पड़े। √जन् धातु का प्रयोग उत्पत्ति द्योतक ही नहीं है, प्रसिद्धि का द्योतक भी है।

१०. श्रोत्रात्—यजुर्वेद में प्राण और वायु को श्रोत्र से उत्पन्न कहा गया है। अत श्रवणशक्ति के कारण वह पुरुष वायु और प्राण कहलाया।

संहितापाठः	पदपाठः
३५. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं	नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् ।
शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।	शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् ।	पत्ऽभ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् ।
तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥	अकल्पयन् ॥ १४ ॥

यजुःसंहितायां त्रयोदशोऽयं मन्त्रः । तत्र 'अन्तरिक्षम्' इति 'लोकाँ', इति च स्थाने 'अन्तरिक्ष ँ' इति, 'लोकाँ २' इति च पाठौ । पदपाठस्तु ऋग्वेदवत् ।

सायणभाष्यम्—यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेः मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेः नाभ्यादिभ्यो देवाः अकल्पयन उत्पादितवन्तः । एतदेव दर्शयति । नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना । अस्य श्रोत्रात् दिशः उत्पन्नाः ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[नाभ्याः] (उस की) नाभि से [अन्तरिक्षम्] आकाश [आसीत्] हुआ [शीर्ष्णः] सिर से [द्यौः] द्युलोक [समवर्तत] बना । [पद्भ्याम्] पैरों से [भूमिः] पृथिवी [श्रोत्रात्] कानों से [दिशः] दिशाओं [तथा] और [लोकान्] (शेष सब) लोकों को [अकल्पयन्] कल्पित किया ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ—१. नाभ्याः—यह पद √नह् बांधना से बनता है। जो सब कुछ को बांधे हुए है, व्याप्त किए हुए है। ब्राह्मणग्रन्थों की दृष्टि में नाभि में प्राण, अन्न और रेतस् स्थित हैं। नाभि पदार्थों का मध्य भाग होती है, जो मंथरहित होता है। अन्तरिक्ष—आकाश सब को व्याप्त किए हुए है। इसे मध्य लोक भी कहते हैं। वायु और वृष्टिजल की स्थिति भी इसी में रहती है।

२. अन्तरिक्षम्—डा० फतहसिंह ने दो व्युत्पत्तियां (१. अन्तरा + √क्षि से २. अन्तर् + यक्षम् से) ब्राह्मणों से और तीन (—१. अन्तरा + क्षान्तम्

२ अन्तरा + √रि ३. अन्तर् + क्षयम्) निरुक्त से सबलित की हैं। आचार्य के अर्थ में व इसे अन्तर् + √ईश् से व्युत्पन्न करना उचित समझते हैं। ताण्ड्यमहाब्राह्मण में एक अन्य व्युत्पत्ति अन्तर् + रव का संकेत भी मिलता है (देखो वैद० ५६)। ऊपर टिप्पणी १ में वर्णित अन्तरिक्ष के रूप की दृष्टि में अन्तर् + √क्षि व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है। इसी से यह पुरुष या उस के मन कुछ को अपने अन्दर धारण करने और सब कुछ के अन्दर व्याप्त होने के कारण नाम बन जाता है।

३ शीर्ष्णो —इसे √श्रि से व्युत्पन्न किया गया है। मन का धारक, सब का शरणभूत, अत उन्नत, परम कमनीय। तु. क. अमीरी भाषा का सिरि। इस का सामान्य अर्थ शिरम् होता है। इसे प्राणों की योनि, प्राण, अग्नि, गायत्री छन्द, त्रिधातु, त्रिवृत् आदि कहा गया है (देखो वैको० पृ० ५४४)।

४ द्यौ —यह क्रीडा, विजिगीषा, कान्ति, गति, मोद, मद, स्वप्न, व्यवहार, द्युति, स्तुति अर्थों में प्रयुक्त √दिव् धातु से व्युत्पन्न किया गया है। ता० २०।१४।२ में इसे √द्युत् से व्युत्पन्न किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस प्रजापति द्वारा फैलाया हुआ, हरिणी (=सुवर्णमयी), प्राण, बृहत्, अपरपति छन्द, त्रिधर्मा, वरुण, वैश्वानर, वाक् आदि कहा है।

५ पद्भ्याम्—ऊपर मन्त्र १२ में पद्भ्याम् पर टिप्पणी देखें। यहा भी हेतु में पञ्चमी मानी जा सकती है।

६ भूमि —भवनीति भूमि.। सब कुछ का उत्पत्तिस्थान होने से पृथिवी भूमि कहलाती है। मन को जन्म और सुख आदि प्राप्त कराने वाला होने के कारण यह पुरुष भूमि कहलाया।

७. दिश —√दिश् से बनता है। प्रकाशक, निदेशक। ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर्गलोक, नाक, अग्नि, विश्वदेवा, ऋतुएँ, श्रोत, श्रद्धशक्ति, छन्दस्, परिधियां, प्राण, समान, वैरूप साम आदि को 'दिश' कहा गया है। अत प्रकरण में इस का तदुपयुक्त रूप कोई समस्या उत्पन्न नहीं करता है। वैदिक पदों की योजना परम कृत्रिम है। वे कवि के काव्य के पदों के समान नहीं हैं। उन की योजना अनेक दृष्टियों को ध्यान में रख कर की गई है।

८. तथा लोकाँ अकल्पयन्—√कल्प् का अर्थ ऊपर मन्त्र ११ में व्याख्यान करना, बताना, कल्पना करना निर्धारित किया जा चुका है। लोक पद √लोक् देखना, प्रकाशित होना से बनता है। अतः प्रकाशित, प्रकाशमय, प्रकाशप्रद। अतः ज्ञापक = स्वरूप = नाम। इसी आधार पर इस का अर्थ 'पक्ष' भी किया जा सकता है। पुरुष के विभिन्न नामों, पक्षों, स्वरूपों का व्याख्यान ऊपर वर्णित रूप में किया।

९. ऊपर मन्त्र ११-१४ में सुझाए गए अर्थों के साथ-साथ इन मन्त्रों से पशु आदि की सृष्टि के समान जगत् के पदार्थों की शक्तियों और कर्मों की सृष्टि का बोध भी आलंकारिक शैली में होता है। वर्णन के क्रम में अव्यवस्था होने से यहां सृष्टिरचना का प्रकरण संग्रहकर्त्ता का मूलतः अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता।

संहितापाठः	पदपाठः
३६, सुप्तास्यांसन् परिधयस्	सुप्त । अस्य । आसन् । परि॑ऽ-
त्रिः सुप्त सुमिधः कृताः ।	धयः । त्रिः । सुप्त । सुम्ऽ इधः ।
देवा यद्युज्ञं तन्वाना	कृताः । देवाः । यत् । युज्ञम् ।
अबध्नन् पुरुषं पुशुम् ॥ १५ ॥	तन्वाना । अबध्नन् । पुरुषम् ।
	पुशुम् ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधयः आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः। अत एवाम्नायते—"न तस्य पुरस्तात् परि दधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" (तैसं० २।६।६।३) इति। तत एत आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपाः। तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याकाः एकविंशतिः कृताः। "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" (तैसं० ५।१।१०.३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः। यत् यः

पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुम् अबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र "यत्पुरुषेण हविषा" इत्युक्तम् ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जब [देवाः] देवों ने [यज्ञम्] (सृष्टि-) यज्ञ का [तन्वानाः] विस्तार करते हुए [पुरुषम्] (विराट्) पुरुष को [पशुम्] (हवि रूप) पशु [अबध्नन्] बनाया (तब) [अस्य] इस यज्ञ की [परिधयः] सीमाएँ [सप्त] सात [आसन्] थीं, (और) [समिधः] समिधाएँ [त्रिः सप्त] इक्कीस [कृताः] बनाई गईं ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—१ सप्त परिधयः—परिधि—परि + √धा से। घेरा, अतः सीमा। ब्राह्मणग्रन्थों में दिशाओं और लोकों को परिधि कहा है। सा० ने १) गायत्री आदि सात छन्दों और २ आहवनीय की तीन परिधियों, तीन उत्तर वेदिकाओं और आदित्य को परिधि बताया है। ऋभाभू० में दय० ने ब्रह्माण्ड के एक के ऊपर एक के क्रम से स्थित १ समुद्र २ त्रसरेणु सहित वायु ३ मेघमण्डलस्थ वायु ४ वृष्टिजल ५ वृष्टिजल के ऊपर वायु ६ अत्यन्त सूक्ष्म धनञ्जय और ७. सूत्रात्मा—इन सात आवरणों को परिधि माना है। मै० ने यज्ञाग्नि के चारों ओर रक्खी जाने वाली तीन हरी समिधाओं को परिधि बताया है। सृष्टियज्ञ के वर्णन में दय० का अर्थ अधिक समीचीन है सात छन्दों का भाव याज्ञिक से सृष्टि की उत्पत्ति में अधिक संगत होता है। वेद के कतिपय मन्त्रों में सृष्टिरचना से छन्दों का सम्बन्ध बताया गया है। (यमाप्र० ४ । १६२ १७३, १७६ १८० देखें।)

२ त्रिः सप्त समिधः—इक्कीस समिधाएँ। सा०—१२ मास, ५ ऋतुएँ, ३ लोक और आदित्य। दय०—इक्कीस पदार्थों (१ प्रकृति, महत्, बुद्धि, अन्तःकरण और जीव का समुदाय, १० इन्द्रिय,—५ तन्मात्राएँ, और ५ भूत) रूप सामग्री। यमा० में यह परिगणन इस प्रकार दिया है—१ प्रकृति, १ महत् १ अहंकार, ५ सूक्ष्म भूत, ५ स्थूल भूत, ५ ज्ञानेन्द्रिय, और ३ गुण—सत्त्व, रजस् और तमस्। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणों, वसन्त, गर्भ और अस्थियों को समित् कहा गया है। तै० २।१।३।८ के अनुसार यह पद सम् + √दा (= यच्छ)

से बनता है। श० ९।२।३।४४ में इसे सम्+√इन्ध् से व्युत्पन्न किया गया है।

(ii) ऋ० १।१६४।२५ में गायत्र की तीन समिधाएं बताई हैं। ऋ० ३।२।९ में परिच्मन् वह्न अग्नि की तीन समिधाओं का वर्णन है। इन में से एक मृत्युलोक में स्थापित की गई है और दो ऊपर अन्तरिक्ष में। ऋ० १०।५१।२ में अग्नि की समिधाओं को देवयानी कहा है। अथ० ५।२६।१ में मधुप् ही समिधाएं हैं, ५।२९।१४ में अग्नि की समिधाएं पिशाचजम्भनी हैं, और १९।६४।४ में अग्नि समिधाओं से समित् बन कर अमर आयु देता है। अथ० ८।९।१८ में समिधाओं की संख्या सात बताई है।

(iii) त्रिः सप्त का प्रयोग भी एक समस्या है। ऋग्वेद में यह संख्या अग्नि के गुह्य पदों (१।७२।६), विस्फुलिंगको (१।१९१।१२), सात मोरनियों (१।१९१।१४), अघ्न्या के नामों (७।८७।४), सोमपा की उस्राओं (८।४६।२६), सखा के पद में सुखों (?) आदि (८।६९।७), गिरिओं की सानुओं (८।९६।२), पूर्व्य व्योम में सत्य आशिर की दोहक धेनुओं (९।७०।१; ८६।२१), नदियों (१०।६४।८) की संख्या की द्योतक है और अथ० १२।२।२९ में ऋषियों की संख्या की।

(iv) यहाँ पर सृष्टियज्ञ का वर्णन है। त्रिः सप्त और समिधः के ऊपर दिए गए वैदिक और ब्राह्मणों के वर्णनों की दृष्टि में इन का भाव 'सृष्टिरचना को सम्पन्न करने वाले २१ पदार्थ या शक्तियां या कारण' लेना उचित होगा। इस दृष्टि से दस० का व्याख्यान हमारी सहायता करता है।

३. देवाः—ऊपर मन्त्र ७ में देवाः पर टिप्पणी देखें।

४. यज्ञम्—ऊपर मन्त्र ६, ७ में यज्ञम् पर टिप्पणी देखें। यह यज्ञ मानस भी माना गया है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग परम पुरुष का चिन्तन करते हैं (देखो ऋभाभू० पृ० १६३)।

५. तन्वानाः—√तन्+शानच्। विस्तार करते हुए।

६ पशुम्—सा० आदि ने इस का अर्थ बलि का पशु ही समझा है, यह भिन्न बात है कि वह पशु 'पुरुष' है जो अस्थिमांस की देह वाला नहीं है। स्व० ने इसे √दृश धातु से मान कर इस का अर्थ 'सर्वद्रष्टा, सर्वपूजनीय और द्रष्टव्य' ग्रहण किया है। इस अर्थ की पुष्टि ब्राह्मणों के पशुपरक वे अर्थों से होती है जहां केवल गाय आदि को ही पशु नहीं कहा है प्रत्युत अग्नि, सविता, वैश्वदेव ग्रह, दैवी विश्, सोम, श्री, यश, शान्ति, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, अन्न, प्राण, मधु, धान, इडा, प्राण, आत्मा, यजमान, यम, प्रजनन, उक्थ, ऊर्जा, स्वर, यज्ञ आदि को भी पशु कहा है।

संहितापाठ	पदपाठ
३७. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्	यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त ।
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।	देवाः । तानि । धर्माणि ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त	प्रथमानि । आसन् । ते । ह ।
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः	नाकम् । महिमानः । सचन्त ।
॥ १६ ॥	यत्र । पूर्वे । साध्याः । सन्ति । देवाः ॥ १६ ॥

सायणभाष्यम्—पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन संकल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तत् नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[देवाः] देवों ने [यज्ञेन] (पुरुषरूप) यज्ञमय (हवि) से [यज्ञम्] (सृष्टि—) यज्ञ का [अयजन्त] सम्पादन किया।

[तानि] वे [धर्माणि] नियम [प्रथमानि] प्रमुख [आसन्] हो गए। [ह] निश्चय से [ते] वे [महिमानः] (प्रमुख धर्म रूप) कीर्तियां [नाकम्] (उस) सुखमय (मोक्षस्थान) में [सचन्त] विद्यमान हैं [यत्र] जहां [पूर्वे] पुराने [साध्याः] सृष्टि के साधक [देवाः] देव [सन्ति] विद्यमान हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणियां—१. देवाः—सृष्टि की उत्पादक शक्तियाँ—पुरुष के मन में कामनारूपी यज्ञमय बीज, अप्रकेत सलिल आदि। सा०—प्रजापति के प्राणरूप देव।

२. यज्ञेन—सा०—मानस यज्ञ। दस०—ज्ञान यज्ञ (यभा०); स्तुति प्रार्थना उपासना आदि पूजन से (ऋभाभू०)। सूक्त के वर्णन से यह पद 'पुरुष' का निर्देश करता प्रतीत होता है। परन्तु यह पुरुष विराज् है या अव्याकृत परम पुरुष। विराज् तो वह सृष्टि ही है। पहले परम पुरुष को ही यज्ञ की हवि = सामग्री बनाया गया है। उसी से सब उत्पत्ति बताई गई है। वह उत्पत्ति 'विराडजायत' का व्याख्यान कही जा सकती है। अतः अनुवाद में इस का अर्थ 'पुरुष रूप यज्ञमय हविस्' किया गया है। पाठ० सूसं० १४ में यज्ञपद पर टिप्पणी भी देखें।

३. यज्ञम्—मे०—जिस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में विष्णु को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है वैसे ही यहां पुरुष को भी यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है। सा०—यज्ञस्वरूप प्रजापति। दस०—यजनीय पूजनीय परमेश्वर। इन दोनों ने अयजन्त को देवपूजा के अर्थ में लिया है। यद्यपि ये अर्थ अनुचित नहीं, तो भी प्रकरण की दृष्टि में यहाँ हिन्दी अनुवाद का अर्थ—सृष्टियज्ञ अधिक उपयुक्त रहेगा। √यज् धातु का अर्थ संगतिकरण भी होता है अतः अयजन्त = किया।

४. तानि—इस में पूर्व पाद—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' में वर्णित धर्मों = नियमों की ओर ही निर्देश माना जा सकता है। सा० ने 'प्रसिद्ध जगद्रूप विकारों के धारक धर्म' लिख कर इस भाव का प्रकाशन किया है। पाद १ में

ये धर्म केवल 'देवाः' पद से ही निर्दिष्ट माने जा सकते हैं। दया० ने तानि में अयजन्त के भाव का निर्देश माना है।

५. धर्माणि—सा०—धारक। दया०—धारणात्मक (यभा०); करने योग्य (ऋभाभू० १६४)। यह पद √धृ से बनता है। अतः धारक नियम, शक्तिया आदि।

६. प्रथमानि—√प्रथ् से। अतः विस्तृत, प्रमुख। दया०—१. अनादिभूत मुख्य। २. सब कर्मों के आदि में करने योग्य (ऋभाभू०)। पहला अर्थ अधिक संगत है।

७. नाकम्—सा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग। दया०—१. दुःखविहीन मुक्तिसुख २. सर्वदुःखरहित परमेश्वर।

८. महिमानः—सा०—प्रजापति के उपासक महात्मा जन। दया०—महत्त्व से युक्त। विद्वान्, पूज्य। मै०—सम्भवतः यज्ञ में निहित शक्तियाँ।

(ii) यह पद √मह् से बनता है। अतः पूजनीय, महान्। इस का विशेषण पद 'ते' पूर्वपादस्थ तानि का ही निर्देशक हो सकता है। अतः हिन्दी अनुवाद में ऊपर वर्णित 'प्रमुख धर्म रूप कीर्तियाँ' अर्थ ग्रहण किया गया है।

९. सचन्त—√सच् से लङ् प्रथम पु० बहुवचन का अट् से हीन रूप। प्राप्त होती हैं, मिलती हैं, विद्यमान हैं।

१०. यत्र—सा०—विराट्प्राप्ति रूप स्वर्ग। दया०—मोक्ष। यह पूर्वपादस्थ 'नाकम्' की ओर संकेत करता है।

११. पूर्वे साध्याः देवाः—सा०—पुरातन विराट् की उपासना के साधक देवता। दया०—साधनों से युक्त (योग-) साधन कर लेने वाले प्राचीन देदीप्यमान विद्वान्। मै०—प्राचीन साध्य, देवता। ऊपर मन्त्र [illegible] में साध्याः पर टिप्पणी भी देखें। यह पद √साध् से बनता है। अतः साधक। इसे 'देवाः' से पृथक् लेने के लिए मन्त्र में कोई समुच्चय बोधक पद नहीं है। अतः इसे 'देवाः' का विशेषण बनाया गया है।

संहितापाठः

३८. ✓

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ य० ३१।१७ ॥

पदपाठः

अद्भ्यऽइत्यत्ऽभ्यः। सम्भृतऽइति सम्ऽभृतः। पृथिव्यै। रसात्। च। विश्वकर्मणऽ इति विश्वऽकर्मणः। सम्। अवर्त्तत। अग्रे। तस्य। त्वष्टा। विदधदिति विऽदधत्। रूपम्। एति। तत्। मर्त्यस्य। देवत्वमिति देवऽत्वम्। आजानमित्याऽजानम्। अग्रे ॥ य० ३१।१७ ॥

महीधरभाष्यम्—"अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थाय" (१।३।६।२।२०) इति षट् कण्डिका उत्तरनारायणम्। उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभौ शेषास्त्रिष्टुभ आदित्यदेवत्याः। पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः स्तूयते ॥ १ ॥

अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च। पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चकोपलक्षकम्। भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः। तथा विश्वं कर्म यस्य विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्तत समभवत्। भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्गशरीरे पञ्च भूतानि तुष्टानि कालश्च। ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलस्य उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः। तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयंस्त्वष्टादित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति। अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण। द्विविधा देवाः कर्मदेवा आजानदेवाश्च। कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादावुत्पन्ना आजानदेवाः। ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः—"ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः" (बृह० ४।३।३३) इति श्रुतेः सूर्यादय आजानदेवाः ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [पृथिव्यै] सुविस्तृत सृष्टि (रचना) के लिए [अद्भ्यः] (आदिकारण) जलों से [सम्भृतः] निकाले हुए [विश्वकर्मणः] समस्त (रचना रूप) कर्म में समर्थ [रसात्] सार से [अग्रे] सृष्टिरचना के समय [समवर्तत] (यह सृष्टि) उत्पन्न हुई। [त्वष्टा] सुन्दर पुरुष [तस्य] उस (दृश्यमान जगत्) को [रूपम्] रूप [विदधत्] देते हुए [एति] (सर्वत्र) पहुँचा हुआ है। [अग्रे] आरम्भ से [तत्] यह ही [मर्त्यस्य] मरणशील प्राणियों में [आजानम्] सब ओर से (समस्त कर्तव्य कर्मों आदि का) उत्पादक [देवत्वम्] दिव्य गुण (है) ॥ १७ ॥

टिप्पणियाँ—(i) अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै॰—भाष्यकारों का इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—दया॰—पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जलों से रस निकाल कर पृथिवी बनाई। इन्होंने इसे उपलक्षण मान कर जल आदि की सृष्टि का व्याख्यान किया है। विश्वकर्मा परमेश्वर है जिस के सामर्थ्य में कारण रूप जगत् कार्यरूप जगत् से भी पहले विद्यमान रहता है। उसी कारणरूप जगत् के अंशों से सृष्टिरचयिता इस जगत् को रचता है। सृष्टि के आदि में वह मनुष्यों को अपने कर्मों से सुख प्राप्त करने के लिए वेद की आज्ञा देता है (—देवत्वमाजानमग्रे) (ऋभा॰)।

(ii) उवट—जलों और पृथिवी के रस से उत्पन्न विश्वकर्मा से पूर्व परोक्ष रूप में विद्यमान प्रजापति अपने प्रत्यक्ष रूप मर्त्यलोक में प्राप्त मनुष्य है।
मही॰—जल और पृथिवी आदि पांच भूतों और काल के रस को धारण करता हुआ सूर्य प्रतिदिन उदय होता है। वह आजान देव = मुख्य देव है।

(iii) उवट और महीधर ने पृथिव्यै को पञ्चम्यर्थ में चतुर्थी माना है। हिन्दी अनुवाद के अनुसार ऐसा मानना अनावश्यक है। यहां पर तादर्थ्ये चतुर्थी का प्रयोग है। पृथिवी-पद √प्रथ् से बनता है। अद्भ्यः को सब भाष्यकारों ने पांच भूतों का द्योतक माना है। यदि इन जलों को आदिकारण 'सलिल' मान लें तो इसे उपलक्षण मानने की आवश्यकता न रहेगी। सम्भृत का रसात् से सम्बन्ध सीधा और स्वाभाविक है। अतः इसे पञ्चम्यन्त लिया गया है। इसे प्रथमान्त मान कर भाष्यकारों की योजना क्लिष्ट है।

२. विश्वकर्मणः—व्युत्पत्ति और मूल अर्थ में तो सब भाष्यकारों का एक मत है, परन्तु व्याख्यान में भेद है। वे सब इसे स्वतन्त्र विशेष्य पद मानते हैं। परन्तु प्रकरण और मन्त्र की रचना में यह रुजात् का विशेषण और पञ्चम्यन्त मालूम पड़ता है।

३. त्वष्टा—भाष्यकारों ने इस का अर्थ सूर्य किया है। परन्तु यहां पुरुष रूप सामग्री से सृष्टि की रचना का वर्णन किया गया है। अतः सूर्य अर्थ अप्रासंगिक है।

४. तत्—तु० क०—एकं सत् (ऋ० १।१६४।४६) और तदेकम् (ऋ० १०।१२९।२)।

५. आजानम्—महो०—आजान श्रेणी के अर्थात् प्रमुख श्रेष्ठ देवता। दस०—समन्ताज्जनानां मनुष्याणामिदं कर्त्तव्यं कर्म—आ+जन से। हिन्दी अनुवाद में इसे आ+√जन् (आ समन्तात् जनयति कारयति कर्माणि) से लिया गया है।

६. तस्य—√तन् से तद् शब्द का षष्ठयन्त रूप। सामान्यतः यह निर्देशक सर्वनाम के रूप में आता है। यहां यह 'पुरुष' पद से संकेतित सृष्टि-रचना का द्योतक है। इसे मर्त्यस्य के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

संहितापाठः	पदपाठः
३६. वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑- मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त्। तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑ मृ॒त्युमे॑ति नान्यः पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय ॥ य० ३१। १८॥	वेद॑ । अ॒हम् । ए॒तम् । पुरु॑षम् । म॒हान्त॑म् । आ॒दि॒त्यव॑र्ण॒मित्या॑दि॒त्यऽव॑र्णम् । तम॑सः । प॒रस्ता॑त् । तम् । ए॒व । वि॒दि॒त्वा । अति॑ । मृ॒त्युम् । ए॒ति॒ । न । अ॒न्यः । पन्था॑ः । वि॒द्य॒ते॒ । अय॑नाय ॥ य० ३१। १८॥

महीधरभाष्यम्—एतं महान्तं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं सूर्यमण्डलस्थमहं वेद जानामीति ऋषेर्वचनम्। कीदृशम्? आदित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो यस्य तम्। उपमान्तराभावात् स्वोपमम्। तथा तमसः परस्तात् दूरतरम्। तमोरहितमित्यर्थः। तमःशब्देनाविद्योच्यते। तमेवादित्यं विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युमत्येति अतिक्रामति परं ब्रह्म गच्छति। अयनायाश्रयायान्यः पन्था मार्गो न विद्यते। सूर्यमण्डलस्थ पुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मैं [एतम्] इस (ऊपर वर्णित) [महान्तम्] महान् [आदित्यवर्णम्] सूर्य के समान तेज वाले [तमसः] अन्धकार से [परस्तात्] परे [पुरुषम्] पुरुष को [वेद] जानता हूँ। [तम्] उसे [एव] ही [विदित्वा] जान कर [मृत्युम्] मृत्यु को [अति एति] पार कर जाते हैं। [अयनाय] मोक्ष के लिए [अन्यः] दूसरा कोई [पन्थाः] मार्ग [न विद्यते] नहीं है।

टिप्पणियाँ—१. एतं पुरुषम्—मही०—सूर्यमण्डलस्थ पुरुष। उव्व०, दया०—परमेश्वर। यह अर्थ ही प्रकरणान्वित है क्योंकि एतम् में पूर्व मन्त्रों में वर्णित पुरुष की ओर निर्देश है।

२. आदित्यवर्णम्—वर्ण—√वृ से व्युत्पन्न होने के कारण 'तेज' का पर्याय माना जा सकता है। रंग भी पदार्थों का स्वरूप=तेज ही है। ज्ञात पदार्थों में आदित्य का तेज ही सर्वाधिक होता है। यह पद अदिति (न+√दो अवखण्डने से) का तद्धितप्रत्ययान्त रूप है। अतः तेज की अविनाशिता, अनन्तता और सातत्य का भी द्योतक है। दया० ने इस का अर्थ 'स्वप्रकाश विज्ञानस्वरूप' किया है।

३. तमसः—यह अन्धकार, अज्ञान, सांसारिक बन्धन और दुःख आदि का है।

४. अयनाय—मही०—आश्रय, शरण के लिए। दया०—१ व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख के लिए (ऋभाभू०)। २ अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए।

संहितापाठः	पदपाठः
४०. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥	प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । चरति । गर्भे । अन्तः । अजायमानः । बहुधा । वि । जायते । तस्य । योनिम् । परि । पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् । ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥
य० ३१।१९ ॥	य० ३१।१९ ॥

महीधरभाष्यम्—यः सर्वात्मा प्रजापतिरन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति । "अहं ब्रह्मास्मि" इति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रजापतिः] पुरुष ही [गर्भे अन्तः] उत्पन्न वस्तुओं के अन्दर [चरति] विचरण करता है । [अजायमानः] उत्पन्न न होने पर (भी) [बहुधा] अनेक प्रकार से विविध रूपों में [जायते] उत्पन्न होता है । [धीराः] धैर्यशाली जन [तस्य] उस के [योनिम्] (जगत् के उपादक) स्वरूप को [परिपश्यन्ति] देखते हैं । [ह] अवश्यमेव [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] पदार्थ [तस्मिन्] उस में [तस्थुः] स्थित हैं ॥

टिप्पणियां—१. गर्भे अन्तः—मही० और दया० (यभा०) ने इस का अर्थ 'गर्भस्थ जीवों के अन्दर' लिया है । पिछले समस्त वर्णन में पुरुष को सर्वव्यापक और समस्त उत्पन्न पदार्थों की सामग्री बताया गया है । वही सर्वव्यापकता यहां अभिप्रेत प्रतीत होती है । ऋभामू० पृ० १६७ भी देखें ।

२ बहुधा विजायते—महीο—कार्य रूप में उत्पन्न होता है। दयाο—उस परमेश्वर की सामर्थ्य से अनेक प्रकार से विशेष रूप में उत्पन्न होता है। इन्हों ने इसे जगत् से सम्बद्ध किया है।

संहितापाठ	पदपाठ
४१. यो देवेभ्य॑ ऽ आतप॑ति	यः । देवेभ्यः॑ । आतपतीत्या-
यो देवानां॑ पुरोहि॑तः ।	ऽत॑पति । यः । देवाना॑म् ।
पूर्वो॑ यो देवेभ्यो॑ जातो	पुरोहि॑त ऽ इति॑ पुरः ऽ हि॑तः ।
नमो॑ रुचाय॒ ब्राह्म॑ये ॥	पूर्वः॑ । यः । देवेभ्यः॑ । जातः ।
	नमः॑ । रुचाय॑ । ब्राह्म॑ये ॥
यο ३१ । २० ॥	यο ३१ । २० ॥

महीधरभाष्यम्—य प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थायातपति प्रीतते। यश्च देवानां पुरोहित सर्वकार्येष्वग्रे नीत। यश्च देवेभ्य सकाशात् पूर्वो जात प्रथममुत्पन्नस्तस्मा आदित्याय नम। कीदृशाय? रोचते ऽसौ रुचस्तस्मै दीप्यमानाय। 'इगुपध'—(पाο ३। १। १३५) इति कप्रत्यय। तथा ब्राह्मये ब्राह्मणोऽपत्य ब्राह्मि। इति विशेष। ब्रह्मावयव भूताय वा ॥ २० ॥

हिन्दी अनुवाद—[य] जो [देवेभ्य] देवों के लिए [आ तपति] श्रम और तप करता है, [य] जो [देवानाम्] देवों में [पुरोहित] अग्र गण्य है, [य] जो [देवेभ्य] देवों से [पूर्व] पहले [जात] विद्यमान था, (उस) [रुचाय] तेजस्वी प्रकाशमय [ब्राह्मये] ब्रह्म के स्वरूप के लिये [नम] नमस्कार है ॥

टिप्पणियां—१ देवेभ्य —महीο—देवताओं के लिए। दयाο—विद्वानों के लिए। यदि इस का अर्थ 'समस्त प्रकाशमान पदार्थ' लिया जाए तो मूल भाव के अधिक समीप रहेगा। समस्त पदार्थों में प्रजापति की ही ज्योति है। यमाο में दयाο ने यही अर्थ लिया है।

२. पुरोहितः—महीं०—सब कामों में आगे किया हुआ। दस०—१. विद्वानों को मोक्ष में सर्वसुखों से युक्त करने वाला। २. पहले से ही हित के लिए (पदार्थों के) बीच में स्थित—सूर्य का विशेषण मानते हैं। उवट—इन्द्र रूप में देवों के आगे वर्तमान।

३. नमो रुचाय ब्राह्मये—महीं०—दीप्यमान ब्रह्म के पुत्र या अवयव आदित्य के लिए प्रणाम। दस०—१. रुचिकर ब्रह्म और ब्रह्मसेवक के लिए प्रणाम (ऋभाभू०); २. रुचि कराने वाले परमेश्वर की सन्तान के तुल्य सूर्य से अन्न (=नमः) उत्पन्न होता है।

(ii) मन्त्रस्थ 'यः' से पिछले मन्त्र के प्रजापतिः का परामर्श होता है। सूर्य का वर्णन अप्रासंगिक है। अतः हिन्दी अनुवाद। ब्रह्मणः स्वरूपमिति ब्राह्मि, तस्मै।

संहितापाठः	पदपाठः
४२. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	रुचम्। ब्राह्मम् जनयन्तः।
देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।	देवाः। अग्रे। तत्। अब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्	यः। त्वा। एवम्। ब्राह्मणः। विद्यात्।
तस्य देवाऽअसन्वशे॥	तस्य। देवाः। असन्। वशे।
य० ३१। २१॥	य० ३१। २१॥

महीधरभाष्यम्—देवा दीप्यमानाः प्राणा रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्तोऽग्रे प्रथमं तद् वचोऽब्रुवन् ऊचुः। "ब्राह्मोऽजातौ" (पा० ६।४।१७१) इति निपातः। तत्किमत आह। यो ब्राह्मणो, हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्नं विद्याज्जानीयात् तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन् वश्या भवन्ति। आदित्योपासिता जगत्पूज्यो भवतीत्यर्थः॥ २१॥

हिन्दी अनुवाद—[रुचम्] प्रकाशमान रुचिकर [ब्राह्मम्] ब्रह्म, जीव और प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान को [जनयन्तः] प्राप्त करने वाले [देवाः]

देव पुरुष [तत्] उस (ब्रह्म जीव प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान) को [अग्रे] श्रेष्ठ [देवाः] देवपुरुष [असृजन्] व्याख्यान करते आए हैं। [यः] जो [ब्राह्मणः] मनुष्य [त्वा] यजन करने वाला [एवम्] इस प्रकार प्राप्त ज्ञान को [विद्यात्] जान ले [देवाः] देवगण [तस्य] उस की [वशे] कामना में रहते हैं॥

टिप्पणियाँ—१ ब्राह्मम्—ब्रह्म रूप (स्वरूपम्)। ब्रह्म √बृंह् से बनता है। ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्म के वाक्, मन्त्र, सत्य, मन, हृदय, चक्षु श्रोत्र, प्रजा, प्रजापति, बृहस्पति, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण विद्युत्, पशु, पलाश, सव, अन्तरिक्ष आदि अर्थ किए हैं। अतः यह पद जीव प्रकृति और पुरुष तीनों का वाचक है। महो० ने इस का अर्थ आदित्य और दया० ने ब्रह्मोपासक किया है।

२ देवाः—मही०—दीप्यमान प्राण। उवट—तेजस्वा यागाः। दया०—विद्वान्।

३ तत्—यह ब्राह्मम् के लिए आया है। दया०—ब्रह्म, जीव और प्रकृति का स्वरूप।

४ अग्रे—पहले। उ० २।२८ में इस की व्युत्पत्ति-अङ्गति गच्छति इति अग्रम्—√अग् जाना से की गई है। अतः गतिशील, अग्रगामी, श्रेष्ठ। उ० २।२८ पर दया० भी देखें। दया० में '०अग्रे०' पाठ है। अन्यत्र '०अग्रे०' पाठ है।

५ ब्राह्मण—श० ३।२।१।४० में कहा है—तस्मादपि (दीक्षित) राजन्य वा वैश्य वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते। इस के अनुसार सारा वर्ण ब्राह्मण है। इस की पुष्टि शतपथब्राह्मण में उपनयनविधि के वर्णन में मनुष्य मात्र के लिए ब्राह्मण पद के प्रयोग से होता है। ऐ० ७।१९ में हृलाद् प्रजा को ब्राह्मण कहा गया है। श० १३।७।१।२ में प्रत्येक हवन करने वाला ब्राह्मण होता है। दया० ने ऋभाभू० में (हिन्दी) में ब्राह्मण का अर्थ 'मनुष्य' ही लिया है। सिद्धमाला में प० मधुसूदन शर्मा भी यही मानते हैं।

६ त्वा—यह युष्मद् का अन्वादेश रूप है। युष्मद् √युष् सेवा करना से बनता है। अतः सेवनीय।

७ देवा असन् वशे—मही०—देवता वश में हो जाते हैं, वह पूजनीय हो जाता है। दया०—इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। यमा० में 'देवा' का अर्थ विद्वान् लिया गया है।

८. 'वष्टि'—को √वश् कामना करना से । अतः कामनाओं के वशीभूत होना, अनुकूल होना । देखो संशकोको० ।

९. असन्—√अस् + लङ् प्रथम पु० बहुवचन । अडागम का लोप है ।

१०. एवम्—भाष्यकारों ने इस का अर्थ 'इस प्रकार' किया है । यह √इ जाना से बनता है । अतः गति, प्राप्ति और ज्ञान का द्योतक हो कर 'इस प्रकार प्राप्त ज्ञान' अर्थ को प्रकाशित कर रहा है ।

संहितापाठः	पदपाठः
४३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण ॥ य० ३१।२२ ॥	श्रीः । च । ते । लक्ष्मीः । च । पत्न्यौ । अहोरात्रेऽइत्यहःऽरात्रे । पार्श्वेऽइति पार्श्वे । नक्षत्राणि । रूपम् । अश्विनौ । व्यात्तमिति विऽआत्तम् । इष्णन् । इषाण । अमुम् । मे । इषाण । सर्वलोकमिति सर्वऽलोकम् । मे । इषाण ॥ य० ३१।२२ ॥

महीधरभाष्यम्—ऋषिरादित्यं स्तुत्वा प्रार्थयते । हे आदित्य, श्रीर्लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ जायास्थानीये, त्वद्वश्ये इत्यर्थः । यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः । श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः । यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः । सौन्दर्यमित्यर्थः । अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्थानीये । नक्षत्राणि गगनगास्तारास्तव रूपम् । तवैव तेजसा भासमानत्वात्—"तेजसां गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः" इति ज्योतिःशास्त्रोक्तेः । "अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ । इमे हीदꣳ सर्वमश्नुवाताम्" इति श्रुतेः । य ईदृशस्तं त्वां याचे इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन् । इषाणेच्छ । 'इषु इच्छायाम्' विकरणव्यत्ययः । यद्वा 'इष आभीक्ष्ण्ये' क्र्यादिः । अत्रेच्छार्थः । किमेषणीयं तत्राह । अमुं पर-

लोके मे मर्मेषाण मम परलोकः समीचीनोऽस्त्वितीच्छा । अमोघेच्छत्वादिष्टं भवतीत्यर्थः । सर्वं मे मर्मेषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितीच्छेत्यर्थः । मुक्तो भवेयमित्यर्थः । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्योप० ३।१४।१) इति श्रुतेः ॥

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे ।
नरमेधाध्याय एष एकत्रिंशोऽयमीरितः ॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [श्रीः] शोभा [च] और [लक्ष्मीः] सम्पन्नता [ते] तुम्हारी [पत्न्यौ] शक्तियाँ (हैं), [अहोरात्रे] दिन और रात [पार्श्वे] पकड़ने वाली (अर्थात्—नाशक शक्तियाँ) (हैं), [नक्षत्राणि] नक्षत्र [रूपम्] तेज (हैं), [अश्विनौ] अश्विदेवता (द्युलोक और पृथिवीलोक) [व्यात्तम्] विस्तार (हैं)। [इष्णन्] (कल्याण करने के) इच्छुक [इषाण] (मेरा कल्याण) चाहें। [मे] मेरे लिए [अमुम्] उस (नाशहीन परोक्ष सुख) को [इषाण] दें। [मे] मुझे [सर्वलोकम्] समस्त प्रकाश [इषाण] प्रदान करें ॥ २२ ॥

टिप्पणियाँ—१ पत्न्यौ—अग्नि, वरुण आदि की जो पत्नियाँ बताई गई हैं वे उन की शक्तियाँ हैं। लोक में भी अनुभव किया जाता है कि अनुकूल पत्नी सहायक, निस्तारक शक्ति होती है और प्रतिकूल पत्नी ह्रास, निराशा, अवनति आदि लाने वाली शक्ति होती है। यह शब्द यज्ञसंयोग में पति शब्द से नङ् लगा कर बनाया जाता है। अतः यहाँ 'यज्ञशील परोपकाररत रक्षक शक्तियाँ' भाव होता है।

२. पार्श्वे—यह पद √स्पृश् छूना से बनता है। छूने—पकड़ने वाली, रुकावट डालने वाली, अतः नाशक शक्तियाँ।

३. अश्विनौ—ब्राह्मणग्रन्थों में इस का अर्थ द्यावापृथिवी भी दिया गया है। पा०उ० में सू० ६१ में अश्विनौ पर टिप्पणी देखें।

४ व्यात्तम्—वि+आ+√दा+क्त। विशेष रूप से चारों ओर से ग्रहण करने वाला, अर्थात् सब ओर फैला हुआ, खुला हुआ।

श्रीयुत डा० रामस्वरूप गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र,
श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य, श्रीयुत डा०
फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार
गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री
प्रभाकर स्वर्णपदकी द्वारा सम्पादित,
संकलित और रचित वेदलावण्य
में विष्णु, इन्द्र और पुरुष
सूक्तों का शाब्दिक
हिन्दी अनुवाद और सुकाशिनी टिप्पणियां समाप्त हुईं।



परिशिष्ट १

संहितापाठ से पदपाठ

पदपाठ का स्वरूप

१. पदपाठ को वेदमन्त्रों का व्याख्यान कहा जा सकता है। इस के रचयिता शाकल्य की एक दृष्टि है जिस के अनुसार वे पदच्छेद करते हैं, इति और अवग्रह लगाते हैं। पदकार के अर्थों को जानना सम्भव नहीं है। वे अनुमान का विषय ही कहे जा सकते हैं। अतः पिछले भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदच्छेद को स्वीकार न कर के अपना पदच्छेद किया है[1]। अनेक बार 'इति' और 'अवग्रह' के प्रयोग में नियमों की उपेक्षा की जाती है[2]। ऐसे कतिपय स्थलों पर एक से अधिक पदच्छेद सम्भव हैं, यथा चन्द्रमाः[3]। शाकल्य के अतिरिक्त रावण और दयानन्द स्वामी के भी पदपाठ मिलते हैं।

संहितापाठ से पदपाठ लिखना

२. संहिता पदों से बनती है—पदप्रकृतिः संहिता। अतः पदों का ज्ञान परम आवश्यक है। इसी निमित्त पदपाठ किया जाता है। संहितापाठ में एक अर्धर्च में सब पद एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उन का एक दूसरे पर प्रभाव रहता है। उन में सन्धि के कारण स्वर और रूप में परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में इन सब पारस्परिक प्रभावों को दूर कर दिया जाता है। प्रत्येक पद को स्वतन्त्र रूप में दूसरे पदों से पृथक् पूर्ण विराम लगा कर अथवा पूर्ण विराम के बिना ही दिखाया जाता है।

---

१. वैभाप० ९।४–७, २९।४, ६–२५ और उन में निर्दिष्ट परिशिष्ट।

२. वही, ९।१२–१६।

३. मसं०–३४ में इस पद पर टिप्पणी देखें।

पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न स्वरों के परिवर्तन को दूर कर दिया जाता है, प्रगृह्यों के आगे 'इति' लगा दी जाती है और समासों, प्रकृति-प्रत्यय और उपसर्गों और क्रियाओं आदि के कतिपय स्थलों पर अवग्रह (ऽ) लगा दिया जाता है।

३. उदाहरण के लिए—

१. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि। (ऋ० २।१२।४)
२. श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमादत्। (ऋ० २।१२।४)
३. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते। (ऋ० २।१२।८)

इन तीन मन्त्रभागों को लें। इन का पदपाठ इस प्रकार है—

१. येन। इमा। विश्वा। च्यवना कृतानि।
२. श्वघ्नीऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्।
३. यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते।

४. इन में ये परिवर्तन किए गए हैं—

(१) 'येनेमा' में सन्धिच्छेद किया गया है। सन्धि के कारण यहां दो अनुदात्त वर्ण मिल गये थे। इन में से एक 'ये' उदात्त पहले आने के कारण स्वरित हो गया। अन्य पदों को भी पूर्णविराम लगा कर पृथक् कर दिया है। संहिता में 'श्वा' अनुदात्त दो उदात्तों के बीच में आने से स्वरित नहीं हुआ है। पदपाठ में अगला 'च्य' उदात्त सामने नहीं रहता है। अतः 'वि' उदात्त के कारण पदपाठ में यह 'श्वा' स्वरित के रूप में लिखा गया है

(२) इस में पदों को पृथक् करते हुए श्वघ्नी और इव के बीच में अवग्रह लगाया है। इस में तथा जिगीवाँ लक्षम् में सन्धि छिन्न कर दी गई है। घ्नीव में सन्धि से उदात्त और अनुदात्त मिल कर एक उदात्त हो गया था। अब ये पृथक् हो गए—(ई + इ = ई ई) श्वघ्नीऽइव। अतः 'इ' स्वरित हो गई है। संहिता में 'यो' उदात्त के कारण 'जि' अनुदात्त स्वरित हो गया था। पदपाठ में दोनों के पृथक् हो जाने से 'जि' अपने मूल अनुदात्त रूप में दिखाया गया है।

(३) इस में पदों को पृथक् करने के साथ-साथ द्विवचन के ई और ए के पश्चात् 'इति' लगाई है, तथा उस के पश्चात् पद को आवृत्त कर के अवग्रह

लगाया गया है। स्वर में ये परिवर्तन किए गए हैं—'सी' संहिता में स्वरित 'न्द' के पश्चात् आने से अचिह्नित था, पदपाठ में 'इति' का 'इ' उदात्त सामने आने से अपने चिह्न से चिह्नित कर दिया गया है। संहिता में 'सुम्' अनुदात्त 'न्द' स्वरित के पश्चात् आने से अचिह्नित था। पदपाठ में यह प्रभाव दूर हो जाने से यह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

पदपाठ लिखने के नियम

५. (१) संहिता पाठ की सन्धियां तोड़ते हुए प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम लगा-लगा कर उन्हें स्वर के चिह्नों के बिना पृथक्-पृथक् लिख लो। साथ ही जहां-जहां संहिता में दीर्घ हुआ है, वहां-वहां उसे ह्रस्व कर दो—जैसे, यं स्मा = यम्। स्म।

(२) इति और अवग्रह लगाने के आगे लिखे स्थलों पर इति और अवग्रह लगा दो।

(३) जिस पद में इति और अवग्रह दोनों को लगाने की आवश्यकता हो उस में पहले इति लगा दो, फिर उसे पुनः लिख कर अवग्रह लगा दो (ऊपर उदाहरण संख्या ३ देखें)।

(४) कुछ और अन्य स्थलों में भी इति लगा कर पद को पुनः लिखा[1] जाता है। जैसे अकुरित्यक (ऋ० २।१२।४) ऐसे स्थलों पर भी पद को पुन लिख लो। इस संग्रह में ऐसा स्थल केवल यही है।

(५) सब से पहले अपनी लगाई 'इति' पर स्वर का चिह्न लगाएं जो 'इति' है।

(६.) अब प्रत्येक पद में स्वर लगाएँ। उस में ये बातें ध्यान में रखें—

(i) पहले पद के उदात्त के कारण अगले पद में यदि स्वरित हुआ है तो स्वरित को अनुदात्त कर दो—यो जिगीवान् = यः। जिगीवान्।

---

१. कई बार इस प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं की जाती है।

(ii) पहले पद के स्वरित वर्ण के कारण यदि आगे के पद का अनुदात्त पद अचिह्नित हो तो उसे अनुदात्त चिह्न से चिह्नित कर दो—क्रन्दसी संयती = क्रन्दसी इति । संयती० । सुधस्थं विचक्रमाणः = सुध ऽ स्थम् । वि ऽ चुक्रमाणः ।

(iii) पहले पद में उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त यदि अगले पद के उदात्त के कारण स्वरित न हो कर अनुदात्त ही हो तो पदपाठ में उसे स्वरित कर दो—यत्र गावो भूरिशृङ्गाः = यत्र । गावः । भूरि ऽ शृङ्गाः ।

(iv) दो उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों की सन्धि में स्वर का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

(अ) उदात्त + उदात्त = उदात्त । सः + इति = सेति । दूरवा + अति = दूरवाति । महिमा + अतः = महिमातः ।

(आ) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त । परि + अभूयत् = पर्यभूयत् । अस्ति + इति = अस्तीति ।

(इ) स्वरित + उदात्त = उदात्त । एतानि + अक्षीयमाणा = एतान्यक्षीयमाणा । गुहा + अर्कः = गुहार्कः । अत्र + अह = अत्राह ।

(ई) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । वि + अक्रामत् = व्यक्रामत् । वि + अकल्पयत् = व्यकल्पयत् । ब्राह्मणः + अस्य = ब्राह्मणोऽस्य ।

(उ) उदात्त अ या आ + अनुदात्त स्वर = उदात्त । मेधा + उरुगायः = मेधोरुगायः । उत + इम् = उतेम् ।

(ऊ) अनुदात्त + अनुदात्त = अनुदात्त । वास्तानि + उश्मसि = वास्तान्युश्मसि ॐ । स्वरित पद मूलतः अनुदात्त ही होता है । अतः स्वरित + अनुदात्त = स्वरित होगा ।

अस्तीति + एनम् = अस्तीत्येनम् । किल + असि = किलासि ।

ॐ स्वरित के पश्चात् आने के कारण न्यु, श्म और सि अनुदात्त अचिह्नित हैं ।

यदि इस प्रकार के स्वरित के पश्चात् कोई उदात्त आया हो तो वह स्वरित न रह कर अनुदात्त हो जायगा—

येन॑+इमा=येने॒मा । यस्य॑+उ॒रुषु॑=यस्यो॒रुषु॑ ।

(iv)उदात्त को पहचानने की रीति—ऋग्वेद में उदात्त अचिह्नित रहता है । सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त होता है । स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त भी अचिह्नित रहते हैं । अतः पहले स्वरितों को देख कर उन के पश्चात् आने वाले वर्णों को अनुदात्त मान लो । जो अचिह्नित पद शेष बच रहें वह सब उदात्त होंगे । जिस स्वतन्त्र स्वरित के आगे १ या ३ का अङ्क हो उस से अगला अचिह्नित अक्षर भी उदात्त होता है ।

(vi) स्वरों के चिह्न लगाते समय स्वर के सामान्य नियमों—[(१) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । (२) उदात्त + अनुदात्त + उदात्त = ऐसे ही । (३) स्वरित + अनुदात्त = स्वरित + अचिह्नित वर्ण] का प्रयोग करें ।

(vii) 'इति' के पश्चात् आहूत पद में उस का मूल स्वर ही लगाएं, अर्थात् 'इति' के स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्तों को भी चिह्नित करें—सुयुजी इति॑ सुम्ऽयुजौ ।

(viii) 'इति' लगाने पर पद के अन्तिम वर्ण पर इस 'इति' के 'इ' उदात्त का प्रभाव पड़ता है । उसे व्यक्त करें । (१) क्रन्दसी इति॑ । गृह्णंत इति॑ । यहां 'सी' और 'तं' का अनुदात्त के चिह्न से चिह्नित किया गया है । (२) अकुरियक । यहां पहले 'क' को स्वरित नहीं किया गया है ।

(ix) जिन पदों में अवग्रह लगाया जाता है उन में सन्धि तोड़ दी जाती है । जैसे गिरिऽस्थाः ।

(x) बाह्य सन्धि के कारण उत्पन्न मूर्धन्य ष् और ण् को क्रमशः दन्त्य स् और न् में बदल दें । यथा मो षु वरुण = मो इति॑ । [illegible] । वरुण (ऋ० ७।८९।१) ॥

पदपाठ में इति लगाने के नियम

६. प्रगृह्य सञ्ज्ञकों के आगे इति—

(१) द्विवचन के ई, ऊ और ए के पश्चात् इति लगाई जाती है । जैसे क्रन्दसी इति । ऊरू इति । उच्येते इति ।

(२) 'उ' निपात के आगे 'इति' लगाई जाती है । इसे सानुनासिक और दीर्घ भी कर दिया जाता है—ऊँ इति ।*

(३) ओदन्त निपातों के आगे 'इति' का प्रयोग किया जाता है—अथो इति ।

(४) जिन पदों के अन्त में सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त ई और ऊ आए हों उन के आगे भी 'इति' लगाई जाती है—सरसी इति । शयानम् । (ऋ० ७।१०३।२) ।

(५) एकरान्त अस्मे, युष्मे आदि के आगे 'इति' लगाई जाती है—अस्मे इति । (ऋ० १ । ९ । ७) । युष्मे इति । (ऋ० ४ । १० । ८) ।

(६) ओकारान्त सम्बोधनों के आगे 'इति' लगाई जाती है—इन्द्रो इति (ऋ० १ । ४३ । ८) ।

७. अन्य पदों के आगे इति—

(७) यदि पद के अन्त में 'र्' को विसर्ग बने हों और संहिता में उन के आगे किसी वर्ण के आने से सन्धि से 'र्' न हुआ हो तो पदपाठ में इन विसर्गों के आगे 'इति' लगा कर विसर्गों को 'र्' कर दिया जाता है ।—अन्तरिति (ऋ० १ । ६२ । ९) । पुनरिति (मंत्र० २५) । परन्तु तु० क० अन्तरग्निम् = अन्तः । अग्निम् । । यहां पर संहिता में ही विसर्गों को 'र्' हो गया है । अतः पदपाठ में इति नहीं लगाई गई है ।

८. अवग्रह लगाने के नियम

१. यदि पूर्व पद में कोई विकार न हुआ हो तो दो पदों के समास वाले पद के पूर्व पद और उत्तर पद के बीच में अवग्रह लगाया जाता है । जैसे गिरिऽस्थाः । भूरिऽश्रृङ्गाः । सुधऽस्थम् । युक्तऽग्राव्णः । परन्तु तु०-क०-उभयार्दतः ।

२. द्वन्द्व समासों को अवग्रहीत नहीं किया जाता है । जैसे, सावानानशाने इति । अजावयः ।

३. 'इव' को उस से पहले आने वाले पद से अवग्रहीत किया जाता है ।—अग्नीऽइव । विद्यःऽइव ।

* कुछ संस्करणों में ऊँ इति, ऊम् इति लिखा मिलता है । पा० १ । १ । १८—'ऊँ' देखें ।

४ उपसर्गों को संज्ञाओं और कृदन्त पदों से अवगृहीत किया जाता है। विऽप्रमर्णेषु। प्रऽपर्वतम्। प्र ऽ कुपितान्। अपऽधा। समऽसृक्। सु ऽ शिप्र। प्र ऽ दिशि। आऽरोहन्तम् निऽचित। विऽराट्। सम्ऽभृतम्। परि ऽ घर्य। सम् ऽ इध्य।

५ प्रधान वाक्य में उपसर्गों को क्रियाओं से पृथक् रखा जाता है—अति। अतिष्ठत् (मस० २२)। वि। अक्रामत् (मस० २५)। अति। अरिच्यत (मस०–२६)।

६ आश्रित (या गौण) वाक्यों में उपसर्गों को क्रियाओं से अवगृहीत किया जाता है।—वि ऽ मुमे (मस० १)। अधि ऽ क्षियन्ति (मस० २) परि ऽ अभूषत् (मस० ७)। उत् ऽ आर्तत् (मस० ९)। अति ऽ रोहति (मस० २३)। परन्तु वि। अदधुः (मस० ३१) में अवगृहीत नहीं है। इस पर टिप्पणी देखें।

७ अवग्रह के स्थलों पर एक से अधिक उपसर्ग इकट्ठे आ जाएँ तो प्रथम या अन्तिम उपसर्ग को ही अवगृहीत किया जाता है। सम्प्र ऽ अध्यम् (ऋ० १। ६०। १)। उप ऽ प्रयन्त (ऋ० १। ७४। १)।

८ यदि प्रकृति में कोई विकार न हुआ हो तो सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, वसु, तर, तरप्, तमप्, मत् और वत् आदि प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है।—

उदऽतरम्। निऽभिः (परन्तु तु० क० पुरुभिः। सुमनःऽसु। भ्रातृव्यः ऽवासाः। परन्तु हविष्मान्। अमृतऽत्वस्य। पुत्रऽस्यराम्।

९ अकारान्त नामधातुओं के अ को दीर्घ हो जाने पर भी 'य' और 'यु' प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है—देवऽयवः।

१० जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों में अवग्रह प्राप्त है वहाँ सामान्यतः प्रत्यय को ही अवगृहीत किया जाता है। आतस्थिवऽवांसः।

११ अवग्रह लगाने के सामान्य नियम ऊपर दिए गए हैं। अनेक बार इनके अपवाद भी मिलते हैं। यथा कुचर (मस० २)। निर्भद् (मंस० २०)। चन्द्रमा (मस० ३४)।

१२ एक पद में एक से अधिक अवग्रह नहीं लगाया जाता है। (देखो ऊपर नियम ७, १०)।

परिशिष्ट २

वैदिक स्वर

(कोष्ठकों में इस संग्रह के मन्त्रों की क्रमसंख्या दी है ।)

१. मूल वेदसंहिताओं, शाखासंहिताओं और ब्राह्मणों में स्वरांकन की चार रीतियाँ प्रचलित हैं । यहाँ केवल ऋग्वेद में स्वरांकन की रीति पर सामान्य प्रकाश डाला जाता है ।*

२. ऋग्वेद में तीन स्वर हैं— उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । उच्च ध्वनि से बोले जाने वाला स्वर उदात्त होता है—(उच्चैरुदात्तः—पा०) । नीची ध्वनि में बोले जाने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है—(नीचैरनुदात्तः—पा०) । जिस स्वर पर उदात्त और अनुदात्त का क्रम से उच्चारण केन्द्रित हो जाए वह स्वरित होता है । (समाहारः स्वरितः—पा०) । इस में उच्चारण ऊँचा चढ़ कर नीचे उतरता है । इस प्रकार उदात्त में आयाम (= गात्रों को ऊपर की ओर खींचना), अनुदात्त में विश्रम्भ (गात्रों की शिथिलता) और स्वरित में आक्षेप (गात्रों का तिर्यग् गमन) होता है । वैदिक स्वर संगीतात्मक हैं, लौकिक भारात्मक । तीनों ही स्वर अच्-युक्त व्यञ्जन या अच् पर ही रह सकते हैं । एक वर्ण पर एक ही स्वर रहता है ।

३. ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है । अनुदात्त के नीचे पड़ी हुई रेखा (—) और स्वरित के ऊपर एक खड़ी रेखा (।) लगाई जाती है ।

स्वर के उपयोगी नियम

४. सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त स्वर रहता है—(तु.क.–अनुदात्तं पदमेकवर्जम्—पा०) ।

---

* अन्य स्वरांकन रीतियों के लिए देखो युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक स्वर मीमांसा और वैग्रास० ।

५ कुछ देवताद्वन्द्व समासों आदि में दोनों पदों में अपने-अपने स्थान पर उदात्त स्वर बना रहता है। जैसे—मित्रावरु॑णौ। इन्द्राबृह॒स्पती॑। बृह॒स्पतिः। पन॑वै।

६ उदात्त के तुरन्त पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है।—(उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। पा०) जैसे—भूरिस्थणा (६)। घृतप्रतीकम् (१२)। यहाँ भू और स्थ उदात्तों के पश्चात् रि और णा अनुदात्तों को स्वरित हो गया है।

७ यदि उदात्त के पश्चात् आने के कारण स्वरित बने हुए अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् उदात्त या स्वरित आ जाए तो स्वरित न रह कर वह अपार अनुदात्त ही रहता है। अतः दो उदात्तों के मध्य में अथवा उदात्त या स्वरित से पूर्व आये हुए अनुदात्त में कोई विकार नहीं आता है। जैसे—य सुन्वन्तु मवति य पर्चन्तम् (४०) में 'सु' 'न्तु' और 'ति' (—स्वरित और उदात्त के बीच में स्थित) की स्थिति है।

८ स्वरित के तुरन्त पश्चात् आने वाले सब अनुदात्त अचिह्नित रहते हैं। परन्तु जब ऐसे अचिह्नित किसी अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त या स्वरित आ जाए तो वह अनुदात्त अपने चिह्न से चिह्नित हो जाता है। ऐसे अचिह्नित अनुदात्तों को एकश्रुति या प्रचय कहते हैं। जैसे—द्यावा चिदस्मै पृथिवी में 'वा' स्वरित के पश्चात् आने वाले चि, द, स्मै और पृ अनुदात्त अचिह्नित हैं। परन्तु 'थि' अनुदात्त के आगे 'वी' उदात्त आने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

स्वतन्त्र स्वरित

९. कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि उदात्त के पहले आए बिना ही अनुदात्त स्वरित बन जाता है। इस प्रकार के स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है। जैसे—वी॒र्यै॑णि (१)। वी॒र्यै॑ण (२)। रा॒ज॒न्यै॑ (३३)।

१० जिन स्थलों में यह स्वरित मिलता है उन में बहुधा पादपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद कर के अक्षर की संख्या बढ़ाई जाती है। इस सन्धिच्छेद में पहला

अक्षर उदात्त और दूसरा अक्षर अनुदात्त पाया जाता है। इस प्रकार इन स्थलों में मूलतः सामान्य स्वरित ही होता है, सन्धि के कारण ही स्वतन्त्र स्वरित का रूप लक्षित होता है। ऊपर के तीनों उदाहरणों को पादपूर्ति के लिए वीरि आँणि, वीरि र्यम और राजुनि अः पढ़ा जाता है।

११. कई बार संहितापाठ में सन्धि के कारण स्वतन्त्र स्वरित का रूप दिखाई पड़ता है। पदपाठ में सन्धिच्छेद हो कर पदों के अलग हो जाने से यह समाप्त हो जाता है। यथा प्राणुणों ऽस्य (३३)। पदपाठ—प्राणुणः। अस्य।

१२. जब स्वतन्त्र स्वरित के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त आ जाए तो स्वतन्त्र स्वरित के ह्रस्व होने पर उस के आगे १ का अंक लिख कर उस के ऊपर स्वरित का और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है, स्वतन्त्र स्वरित स्वयं अचिह्नित रहता है। जैसे—स्य १ स्मत्। कुर्व्यं १ नभः। स्व १ र्जनन्ती।

१३. जब स्वन्त्र स्वरित दीर्घ हो और उस के तुरन्त आगे उदात्त आ जाए तो इस के आगे ऊपर स्वरित के और नीचे अनुदात्त के चिह्नों से युक्त ३ का अंक लिखा जाता है और स्वतन्त्र स्वरित के अपने नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। जैसे—यचे ३ दानीम्। वुप्ये ३ न। वुप्यों ३ अहं।

१४. कुछ पदों 'क्व' आदि में नित्य स्वतन्त्र मिलता है।

१५. प्रातिशाख्य ने इस के कई रूप माने हैं और उन के जात्य, अभिनिहित, प्रश्लिष्ट और क्षैप्र नाम दिए हैं। इन सब भेदों का पर्यवसान एक में ही हो जाता है।

नित्य निघात (= अनुदात्त) पद

१६. इव, उ, चित, स्म, स्विद्, ह, घ, च, और वा निपात (२) कुछ एकाच् व्यक्तिवाचक सर्वनाम, मे, ते आदि और (३) निर्देशक सर्वनाम एन तथा ईम्, सीम्, तथा (४) अनिश्चयात्मक सर्वनाम 'त्व' और 'सम' आदि सदैव अनुदात्त रहते हैं।

उदात्त का अभाव

१७. कुछ अवस्थाओं में सम्बोधनों और क्रियापदों आदि में उदात्त स्वर का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे पूर्णतया निघात (=अनुदात्त) ही रहते हैं। ऐसे स्थलों का विवरण नीचे दिया जाता है।

१८. निर्देशक सर्वनाम इदम् के आदेश 'अ' के रूप जब किसी संज्ञा के लिए प्रयुक्त हुए हों और उन का अर्थ गौण हो तब ये निघात हो जाते हैं। जैसे—अस्य जनिमानि।

सम्बोधन पदों का स्वर

१९. सम्बोधन पद, चाहे एक पद का हो, चाहे कई पदों का, यदि वाक्य के प्रारम्भ में आया हो तो उस का प्रथम वर्ण उदात्त होता है, शेष अनुदात्त। जैसे—एवेदनु प्र णो ब्रूहि में पर्वन्। वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् में वास्तोष्पते। इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति में इन्द्रावरुणा। उप आ भाहि भानुना में उर्पः पद।

२० परन्तु यदि सम्बोधन वाक्य के मध्य में अन्य पदों के पश्चात् आया हो तो वह निघात (=उदात्त स्वर से हीन) हो जाता है। यथा स जनास इन्द्रः में जनासः। मरुद्भिरग्न आ गहि में 'अग्ने'।

क्रियापदों का स्वर

२१ यदि वाक्य के मध्य में आई हो तो प्रधान वाक्य की क्रिया निघात (उदात्त स्वर से हीन) होती है। जैसे—विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् (१) में वोचम्। प्र तद् विष्णुं स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूषम् एतु (३)। भूमि पार्थो अश्याम् (५)। आदि।

२२. प्रधान वाक्य की क्रिया यदि वाक्य के प्रारम्भ में आई हो तो वह उदात्त स्वर से युक्त होती है। यथा—वेद मासो धृतव्रतो में 'वेद'। अभूद्देव सविता वन्द्यो नु नः में 'अभूत्'। अर्चपोविपंसुद पूर्गुमाय में 'अर्चपी' अकृधेन्द्राति में 'अर्क'।

२३. क्यों कि सम्बोधनपद वाक्य में नहीं गिना जाता है, अतः यदि प्रधान वाक्य की क्रिया ऐसे सम्बोधन के पश्चात् आई हो तो वह वाक्य के प्रारम्भ में आई हुई मानी जायगी और उदात्त स्वर से युक्त होगी। जैसे—आश्रुत्कर्ण श्रुधि हवम् । 'हे सुनने वाले कानों वाले' हमारी पुकार सुनो'। बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् । 'हे बृहस्पति' इस के घर की रक्षा करो'। इन में श्रुधि और रक्षतात् उदात्त स्वर से युक्त हो गए हैं।

२४. एक वाक्य में एक ही क्रिया हो सकती है। अतः जब पहली क्रिया के समान एक ही कर्त्ता से सम्बद्ध एक से अधिक क्रियाएं एक वाक्य में आ जाएं तो प्रत्येक क्रिया नए वाक्य के आरम्भ में आई हुई मानी जाती है और इस कारण उन में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अपामीवां बाधते वेति सूर्यम् में 'वेति' क्रिया। तुरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति 'सफल वह जीतता है, शासन करता है और पुष्ट होता है' में क्षेति और पुष्यति क्रियाएं।

२५. यत्, या, इस के रूपों, च, हि, चेत्, नेत् निपातों से प्रारम्भ होने वाले आश्रित वाक्यों की क्रिया में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—यो विममे (१)। यो अस्कभायत् (१)। यस्य······अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (२)। यो द्यामस्तभ्नात् (८)। यो गा उदाजदपधा (९)।

२६. जब दो प्रधान वाक्य प्रतिपक्षी हों तो प्रथम को आश्रित वाक्य के समान समझा जाता है और उस की क्रिया उदात्त स्वर से युक्त होती है। जैसे—अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् 'क्या नीचे था अथवा ऊपर था'। इन में दोनों वाक्य प्रतिपक्षी हैं। अतः पहले वाक्य को गौण मान कर 'आसी ३ त्' में 'सी' उदात्त है।

उपसर्गों का स्वर

२७. प्रधान वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् रक्खा जाता है और वह उदात्त-स्वर से युक्त होता है। जैसे—प्र तद् विष्णुः स्तवते (२) और अभि पार्थो अद्याम् (५) में प्र और अभि को पृथक् किया गया है।

२८ आश्रित वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया के साथ समस्त माना जाता है और वह निघात हो जाता है। इसी लिए पदपाठ में उसे अवगृहीत करते हैं जैसे—यो देवान् ऋतुना पर्यंभूषत् (७)। यो वा उदाजंदपधा बलस्यं (९)। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (२)।

समासों का स्वर

२९ आम्रेडित (पुनरुक्त) पदों व समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अहरहः। यथायथा। प्रप्र। इन का पदपाठ में अवगृहीत किया जाता है।

३०. बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—विश्वतो-मुखः। सूरिश्चक्षा (६)। युक्तग्रावाण, सुतसोमस्य (१२)। बहुल से बहुव्रीहि समासों में उदात्त स्वर अन्तिम पद में होता है, विशेषतः जब पूर्वपद बहु, पुरु, नञ् (अ या अन्) और सु हो। जैसे—सुशिप्र (१२)। उरुगायाय (१)। उरुक्रमस्य (५)। कुचर (२)।

३१. कर्मधारय में अन्तिम पद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—प्रथमजा प्रातर्युजा। महाधन। परन्तु जब पूर्वपद नञ् में (अ या अन्) हो तो उदात्त पूर्वपद में होता है। जैसे—अनभिद्रुग्धा। अर्वस्वरा।

३२ तत्पुरुषों में उत्तरपद में अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—गोत्र-भिद्। मधु वादिन्। वृत्रघ्न। परन्तु षष्ठ्यन्त पूर्वपद वाले समासों में दोनों पदों में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—बृहस्पतिः। अपां नपात्। शुनःशेप।

३३ द्वन्द्व समासों में समास करने पर बने प्रातिपदिक का अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—अजावयः (३१)। यहां अजावि प्रातिपदिक है)। सायन्तनप्रातने (२५)।

३४. देवताद्वन्द्व समासों के दोनों पदों में उदात्त स्वर होता है। जैसे—इन्द्रावरुणा। सूर्यामासा। द्यावा···पृथिवी (१३)। इस पद में दोनों भागों को पृथक्-पृथक् प्रयुक्त किया गया है। इन के बीच में 'चिदस्मै' पद भी आ गए हैं।

परिशिष्ट ३

वैदिक व्याकरण

वर्णमाला

१. ऋग्वेद में वे सभी स्वर और व्यञ्जन तथा उन की ध्वनियां मिलते हैं जो लौकिक संस्कृत में पाए जाते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार तीन स्थलों—अधः स्विदासी ३ त्, उपरि स्विदासी ३ त् और भौरिव विन्दती ३ँ—में ही प्लुत का उच्चारण होता है।

२. इस के अतिरिक्त ऋग्वेद में दो और व्यञ्जन—ळ् और ळ्ह्—का प्रचुर प्रयोग किया गया है। ये स्वतन्त्र वर्ण नहीं माने जा सकते क्यों कि एक ही पद में दो स्वरों के बीच में आने पर ड् को ळ् और ढ् को ळ्ह् हो जाता है।

'पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः।
पदमध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं बह्वृचा जगुः॥'

यथा तस्माद्विराळजायत में आ और अ के बीच में आने से ड् को ळ् और दूळ्हा में ऊ और आ के बीच में आने से 'ढ्' को 'ळ्ह्' हो गया है।

३. सन्धि—ऋग्वेद में लौकिक सन्धि के लगभग सभी नियम प्रयोग में आते हैं। कुछ नियम नए भी हैं।

४. स्वरसन्धि—कई बार एक ही पद में या समास के विभिन्न पदों में, अथवा एक वाक्य के विभिन्न पदों में सन्धि का अभाव पाया जाता है। इन में पदान्त 'ए' और 'ओ' के पश्चात् 'अ' का पूर्व रूप बहुत कम होता है❋। (तु. क. प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे—पा०)। यथा—यो अस्कभायत् (१)।

❋ इस संग्रह में पूर्वरूप वाली सन्धियां ये मिलती हैं—योऽविता (१२)। परेऽवरे (१४)। पादोऽस्य (२४)। ब्राह्मणोऽस्य (२३)। ऐसी सन्धियों को अर्वाचीनता का द्योतक माना जाता है। परन्तु वंशमण्डलों में भी ये पर्याप्त मिलती हैं।

पार्यो अश्याम् (५)। यो अन्तरिक्षम् (८)। नैपो अस्ति (११)। सो अयं (११)। विराजो अधि (२६)। ‡ सूरिभ्य। सु अधिअम्। वरुणस्य अग्ने। अभि एति।

५. इतिकरण के जो स्थल पूर्व परिशिष्ट में दिखाए गए हैं वहाँ सन्धि नहीं होती है। 'अ' और उ—निपात की सन्धि से उत्पन्न 'ओ' की भी सन्धि नहीं की जाती है, जैसे अथो (अथ+उ), मो (मा+उ) आदि।

६. व्यञ्जनसन्धि—पदान्त आन् को आँ हो जाता है। यथा—लोकाँ अकल्पयन् (३५) जिगीवाँ लक्षम् (१०)। प्रतुंपिताँ अरंभ्णात् (८)। परन्तु लेट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में 'आन्' में कोई परिवर्तन नहीं होता है, यथा आ गच्छान् उत्तरा युगानि। इसी प्रकार पदान्त ईन्, ऊन् और ऋन् को ईँर्, ऊँर् और ऋँर् हो जाता है, जैसे—रश्मीँरिव। इस नियम का अपवाद भी मिलता है। यथा—सुतावानस्य (२७)। † दधानान् अर्मन्यमानान्छर्वा (१६)।

७. बाह्यसन्धि—कई बार अन्त सन्धि में लागू होने वाले नियम बाह्य सन्धि में भी लगाए जाते हैं। यथा—मो षु वरुण। इस में 'सु' का 'षु' मो के कारण हुआ है।

८. लोप होने पर सन्धि—कई बार पादपूर्ति के लिए लोप हो जाने पर भी सन्धि मिलती है। जैसे—य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् (११) में सेति (स+इति) में विसर्ग का लोप हो जाने पर भी सन्धि की गई है।

शब्दरूप

१ वैदिक भाषा लौकिक भाषा की अपेक्षा शब्दरूपों में अधिक समृद्ध है। यहाँ लौकिक भाषा में प्रयुक्त विभक्ति प्रत्ययों के अतिरिक्त और भी विभक्ति-प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार से बहुधा लौकिक भाषा के एक रूप के

---

‡ इन दोनों उदाहरणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। पादपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद पर ये रूप होते हैं। ये उदाहरण डा० मैक्डोनल्ड ने दिये हैं।

† मै०—दो पादों के बीच में 'आन्' की सन्धि नहीं होती है। पाणिनि भी ऐसा ही मानते हैं। तु० क० दीर्घादटि समानपादे। आतोऽटि नित्यम्।

स्थान पर दो या अधिक रूपों का प्रयोग पाया जाता है। इन अतिरिक्त रूपों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है।

एकवचन

१०. तृतीया विभक्ति—अकारान्त पदों में 'आ' का प्रयोग भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दों में भी 'आ' मिलता है। यथा—यज्ञ के यज्ञेन और यज्ञा। मनीषा के मनीषया और मनीषा।

११. एन का 'अ' भी बहुधा दीर्घ पाया जाता है—एना। ऋग्वेद में एनेन रूप उपलब्ध नहीं होता है।

१२. कभी-कभी ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया एक वचन के रूप 'ई'—अन्त वाले भी होते हैं। यथा—शमी के शम्या और शमी।

१३. महिमन् का एक रूप 'मह्ना' (७) भी होता है।

१४. चतुर्थी—कभी-कभी इकारान्त स्त्रीलिंग पदों के रूप 'ई' अन्त वाले होते हैं—ऊति का ऊती (२०) †।

१५. पञ्चमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' अन्त वाले भी होते हैं—अपधा (९)—'बाड़े से'।

१६. चक्षुष् का रूप 'चक्षोः' (२४) भी एक बार आया है।

१७. षष्ठी—पुंलिंग इकारान्त और नपुंसक लिंग उकारान्त पदों के रूप 'अस्' से भी बनते हैं। यथा—मधु का मध्वः (५) और अरि का अर्यः (४)।

१८. सप्तमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' में भी मिलते हैं। यथा—गुहा से गुहा (१०)। इकारान्त पदों के सप्तमी एक वचन में 'औ' के साथ साथ 'आ' और 'इ' का भी प्रयोग पाया जाता है, यथा अग्नौ—अग्ना (अग्नि में); वेदी (वेदि में)।

१९. 'अन्' अन्त वाले पदों की 'इ' का बहुधा लोप हो जाता है—परमे व्योमन्। शर्मन् और शर्मणि। ब्रह्मन् और ब्रह्मणि। इन पदों में उपधा

† इसे तृतीया का रूप भी माना गया है। सा० ने चतुर्थी का माना है।

के 'अ' का लोप कभी नहीं होता है। अत: केवल अह्नि, राजनि ही मिलते हैं, अह्नि और राज्ञि नहीं पाए जाते।

२० अन्य पदों में भी विभक्ति चिह्न का अभाव देखा जाता है। यथा—विश्वह (२१)—'सब दिनों में'।

२१. सम्बोधन—मत्, वत् और वस् प्रत्ययान्त पदों के सम्बोधन में 'अस्' आता है (तु० क० मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि। पा०।)—भानुमत् से भानुमः (प्रथमा में—भानुमान्), हरिवत् से हरिवः (प्रथमा में हरिवान्), चकृवस् से चकृवः (प्रथमा में चकृवान्)।

द्विवचन

२२. 'औ' की अपेक्षा प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'आ' का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है*—आतस्थिवांसा (१४)—'बैठे हुए दो बन'। अश्विना—'दो अश्विन् देव'। द्यावा (१३)—'दो द्युलोक'। राजाना—'दो राजा'। द्वारा—'दो द्वार'। नद्या 'दो नदियां'।

२३ ईकारान्त स्त्रीलिंग पदों के रूपों में 'ई' पाई जाती है—रोदसी—'दो लोक—पृथिवी और आकाश' (७)। क्रन्दसी संयती (१४)—'दो चिल्लाती हुई सेनाएँ'। देवी—'दो देवियां'।

२४. अस्मद् और युष्मद् के द्विवचन में पांच विभक्तियों में रूप मिलते हैं।

१	२	३
अस्मद्—वाम्, आवाम् (श०)	आवाम् (श०)	×
युष्मद्—युवम्	युवाम्	युवाभ्याम् युवभ्याम्
	५	६-७
अस्मद्—	आवाभ्याम् (काठ०)	आवयोः (श०)
	आवद् (तैत्ति०)	

---

* तु० क० सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः / वाच्छन्दसि (पा०)।

युष्मद्— युवत् युवोः,
युवयोः (तैसं०)

२५. इन के साथ ही २री, ४थी और ६ठी विभक्तियों में नौ और वाम् के प्रयोग भी मिलते हैं।

बहुवचन

२६. प्रथमा विभक्ति—अदन्त पुल्लिंग शब्दों के रूप बहुधा और स्त्रीलिंग शब्दों के कभी-कभी 'आसस्' में मिलते हैं (तु० क०—आज्जसेरसुक्—पा०)। यथा—अप्रासः (६); अश्वासः, रथासः, जनासः (१३), प्रियासः; सुवीरासः (२१)। इन के साथ 'आस्' के रूप भी मिलते हैं, यथा—ग्रामाः (१३), युध्यमानाः (१५)।

२७. ईकारान्त स्त्रीलिंग पदों के अन्त में 'ईस्' होता है। यथा देवीः—'देवियाँ'। (तिस्रः) पृथिवीः—'तीन भूमियाँ'।

२८. नपुंसक लिंग पदों के रूपों में आनि, ईनि और ऊनि की अपेक्षा आ, ई, ऊ (कभी-कभी अ, इ, उ) का प्रयोग अधिक मिलता है। तु० क० शेश्छन्दसि बहुलम्—पा०)। यथा—भुवनानि विश्वा (२)। त्री पूर्णा पृदानि (४)। अक्षीयमाणा (४)। ता वास्तूनि (६)। इमा विश्वा च्यवना कृतानि (१०)।

२९. तृतीया—अकारान्त पदों में 'ऐस्' के साथ-साथ 'एभिस्' का प्रयोग भी खूब मिलता है। यथा—पदेभिः (३)। देवेभिः और देवैः।

३०. शब्दरूपों की रचना—शब्द रूपों की रचना में प्रमुख अन्तर ईकारान्त और ऊकारान्त अनेकाच् शब्दों के रूपों में पाया जाता है। ऐसे पदों में अधिकांश स्त्रीलिंग और कुछ पुल्लिंग हैं। इन में से अधिकांश के रूप एकाच् शब्दों—धी और भू के समान चलते हैं। भेद इतना ही है कि इन पदों में षष्ठी के बहुवचन में 'नाम्' लगाया जाता है, और धी, भू में 'आम्'। स्त्री प्रत्यय की 'ई' वाले शब्द अधिकतर नदी और वधू के लौकिक रूपों के समान बनते हैं। उदाहरण के लिए रथी (पु०), नदी (स्त्री०) और तनू (स्त्री०) के रूप इस प्रकार होते हैं—

३१. रथी

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
१	रथी	रथ्या	रथ्या
सम्बोधन		रथ्या	
२	रथ्यम्	रथ्या	रथ्या
३	रथ्या		
४	रथ्यै		
५	रथ्यै		
६	रथ्यै		रथीनाम्

३२. नदी (स्त्री०)

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
१	नदी	नद्या	नद्यः
८		नद्या	
२	नद्यम्	नद्या	नद्यः
३	नद्या		
४	नद्यै		
५	नद्यः		
६	नद्यः		नदीनाम्
७			

३३. तनू (स्त्री०)

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
१	तनू	तन्वा	तन्वः
सम्बोधन		तन्वा	
२	तन्वम्	तन्वा	तन्वः
३	तन्वा		
४	तन्वै		
५	तन्वः		तनूनाम्
६			
७	तन्वि		

३४. पाणिनि ने शब्दरूपों के अन्य विकारों को 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' में संगृहीत किया है। इस के अनुसार विभक्तियों का लोप, उन के स्थान पर पूर्व सवर्ण, आ, ए, आत्, या हो जाते हैं। कात्यायन ने इन में इया, ई (सुरसी–७ मी) और अया का भी कथन किया है।

धातुप्रक्रिया

३५. आगम—धातुओं के लङ् और लुङ् में अट् का आगम कुछ रूपों में निरन्तर और कुछ में छन्दःपूर्ति के लिए दीर्घ पाया जाता है। जैसे—आवर्—√वृ लुङ् प्रथम पु० एक व०—'उस ने ढका हुआ है। आरैक् (या अरैक्) √रिच् प्रथम पुरुष एक व० लुङ्—'उस ने रिक्त कर दिया है'।

३६. बहुधा अर्थ में भेद किए बिना ही इस अट् आगम का लोप कर दिया जाता है (तु–क–बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि। पा०)। इस प्रकार के अट् से रहित रूप अंग्रेजी के इञ्जङ्क्टिव के रूप में प्रयुक्त होते हैं (यथा प्र वोचम्) और आधुनिक अध्ययन में इसी नाम से पुकारे जाते हैं। 'मा' के योग में लौकिक संस्कृत में भी अट्हीन रूपों का प्रयोग मिलता है।

३७. उपसर्ग—सामान्यतः क्रिया से सम्बद्ध उपसर्ग उस से पहले आते हैं, परन्तु कई बार क्रिया के पीछे भी प्रयुक्त हुए हैं। उपसर्ग और क्रिया के इन दोनों ही क्रमों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् भी रक्खा जाता है और उन के बीच में अन्य पद भी आ जाते हैं। (तु० क० उपसर्गाः क्रियायोगे। ते प्राग्धातोः। छन्दसि परे ऽपि। व्यवहिताश्च। पा०।) जैसे प्र तद् विष्णुः स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूषम् एतु (३)। अर्व भाति भूरि (६)। गमद् वाजेभिरा स नः। परन्तु आश्रित वाक्यों में उपसर्ग सदैव क्रिया से पहले आते हैं और उस के साथ समस्त होते हैं। जैसे विमुसे (१)। पर्यभूषत् (७)। उदार्जत् (९)।

तिङ् प्रत्यय

३८. लट्लकार में उत्तम पुरुष बहुवचन (कर्तृवाच्य) में 'मस्' की अपेक्षा 'मसि' प्रत्यय का प्रयोग प्रचुर है। (तु० क० इदन्तो मसि। पा०।)

जैसे—उश्मसि (१)—इच्छा करते हैं (√वश् से)। उश्मसि और उश्म।

३९. मध्यम पुरुष बहुवचन में 'थ' और 'त' के अतिरिक्त 'थन' और 'तन' भी बहुधा मिलते हैं। (तु० क०—तप्तनप्तनथनाश्च–पा० ।) जैसे—याथ और याथन (तुम जाओ)। यात और यातन (तुम जाओ)।

४०. लोट् लकार में मध्यम पुरुष एक वचन में 'तात्' के रूप बहुधा मिलते हैं। इन रूपों में भविष्य के लिए आने के लिए किसी काम की आज्ञा अभिप्रेत होती है। जैसे—रक्षतात्। धत्तात्। कभी कभी यह मध्यम पुरुष द्विवचन और बहुवचन तथा उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के एक वचन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

४१. श्रु, शृणु, पृ, कृ और वृ धातुओं से लोट् मध्यम पुरुष एक वचन में 'धि' लगाया जाता है। (तु. क. श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि-पा०)। जैसे—श्रुधि (हवम्)। शृणुधि।

४२. कुछ धातुओं के लट् प्रथम पुरुष एक वचन के रूप उत्तम पुरुष के रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे—शेते के स्थान पर शये का प्रयोग।

४३ द्वित्व—लिट् लकार में कुछ धातुओं के द्वित्व में अभ्यास में स्वर को दीर्घ हो जाता है। (तु० क० तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य)। जैसे—दाधार (४) (√धृ से)। तूतुजान। तूताव।

४४. गण—वेद में गणों के प्रयोग में बहुधा व्यत्यय पाया जाता है। एक गण के धातु का रूप दूसरे गण के रूपों के तुल्य पाया जाता है। जैसे—कृणोमि। करमि। भेदति। हुवेत (१४)।

४५. लकार—वेद में लुङ्, लङ् और लिट् के प्रयोग सब कालों में पाए जाते हैं। (तु० क० छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। पा०)। लिट् का प्रयोग भूतसामान्य में भी होता है (तु. क. छन्दसि लिट्–पा०)। जैसे—स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् में दाधार पद। डा० मैकडोनल का विचार है कि लङ् लकार सदा वर्णनात्मक भूतकाल का द्योतक है, परन्तु यह ठीक नहीं। (देखो वेभाप० ४।५४।१२)। लिट् का वर्तमान में प्रयोग—अमन्यमानाञ्छर्वा जघान

(१६)। लङ् का—अर्वतिष्ठद् दशांगुलम् (२२)। लुङ् का—एते त्ये भानवो दर्शतायश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः।

४६. काल—द्वित्व की हुई धातु से पहले अट् का आगम कर के आर्धधातुक प्रत्यय लगा कर बने रूप भी प्रयुक्त हुए हैं। मै० ने इन्हें 'प्लूपरफैक्ट' नाम दिया है। उदाहरण के लिए—√ चित् से—उत्तम पु० एक व०—अचिकेतम्। प्रथम पु० एक व०—अचिकेत्। प्रथम पु० बहु व०—अचिकितुः।

४७. डा० मैक्डोनल के मत में संहिताओं में लुट् का कोई निर्विवाद रूप नहीं मिलता है। तृच्–अन्तवाली संज्ञाओं से ही इस लकार के रूपों का ब्राह्मणकाल में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा।

४८. भाव (मूड)—लौकिक भाषा में लोट्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ् और लङ् का प्रयोग होता है। वेद में आशीर्लिङ् का प्रयोग अल्प मात्रा में पाया जाता है। लङ् भविष्यत् काल का भूतकालिक रूप है और भविष्य का द्योतक है।

४९. परन्तु यहां एक और नये भाव—लेट् का प्रचुर प्रयोग होता है। इस भाव का प्रयोग विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न, प्रार्थना, आशीः हेतुहेतुमद्भूत, इच्छा, कामप्रवेदन और संभावना–इन लोट् और विधिलिङ् के अर्थों, उपसंवाद और आशंका में होता है। (तु० क०—लिङर्थे लेट्। उपसंवादाशंकयोश्च। पा०)। विधिलिङ् का मूल लक्ष्य इच्छा और संभावना का प्रकाशन है और लेट् का 'निश्चय, प्रतिज्ञा'। विभिन्न पुरुषों में इस का अर्थ भिन्न-भिन्न भी लक्षित होता है। यथा उत्तम पुरुष में वह 'प्रतिज्ञा, निश्चय' का द्योतक है

५०. वाक्यों में इस का प्रयोग सामान्यतः दो प्रकार का है—प्रधान वाक्य में यह प्रश्नात्मक पदों के साथ आता है, जैसे—कदा नः शुश्रवद् गिरः। गौणवाक्यों में यह निषेधात्मक या सम्बन्ध–द्योतक पदों के साथ आता है। जैसे—यो नः पृतन्यात्।

५१. लेट् में धातु के आगे अ या आ लगाया जाता है (लेटो ऽडाटौ–पा०)। जैसे—भवाति में अनेक बार सिप् का प्रयोग भी देखने में आता है

(—सिब्बहुलं लेटि—पा०)। यथा तारिषत् में। परस्मैपद धातुओं के 'ति' आदि प्रत्ययों की 'इ' का लोप भी बहुधा हो जाता है (—इतश्च लोपः परस्मैपदेषु—पा०)। जैसे—तारिषत् में।

५२ लेट् में सार्वधातुक और आर्धधातुक—दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है। √भू और √सु के लेट् के रूप इस प्रकार हैं—

५३ √भू—

परस्मैपद

प्रथम पु०	भवाति, भवात्	भवातः	भवान्
मध्यम पु०	भवासि, भवाः	भवाथः	भवाथ
उत्तम पु०	भवानि	भवाव	भवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	भवाते	भवैते	भवन्त
म०पु०	भवासे	भवैथे	भवाध्वै
उ०पु०	भवै	भवावहै	भवामहै।

५४ √सु—

परस्मैपद

प्र०पु०	सुनवत्	सुनवतः	सुनवन्
म०पु०	सुनवः	सुनवथः	सुनवथ
उ०पु०	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	सुनवते	सुनवैते	सुनवन्त*
म०पु०	सुनवसे	सुनवैथे	सुनवध्वै
उ०पु०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै

लेट् के रूपों का वर्गीकरण

५५ आधुनिक वैदिक वैयाकरणों ने लेट् के रूपों को विश्लेषण करके बताया है कि इन के रूप केवल वर्तमानकाल के द्योतक ही नहीं हैं, प्रत्युत

* तु के सचन्त (३७)।

उन का प्रयोग लिट् और लुङ् में भी होता है। उन के अनुसार लोट् और विधि लिङ् के भी लुङ् और लिट् में प्रयोग होते हैं। इन के कतिपय उदाहरण ये हैं—

लिट् लकारीय

लेट्	विधिलिङ्	लोट्
√तुद् से—तुतोदत्	√वृत् से—ववृत्यात्	मुच् से—मुमुग्धि
		√भू से—बभूतु
		√वृत् से—म० पु०
		आत्मनेपद एकव०—ववृत्स्व

लुङ् लकारीय

√नी से—प्र०पु०	√विद् से—विदेत्	√अव् से—
		म०पु० एक व० अविड्ढि
एक व०—	√अश् से—अश्यात्	द्विव०—अविष्टम्
नेति, नेषत्	√भज् से—भक्षीष्ट	बहु व०—अविष्टन
√बुध् से—बोधिषत्		प्र०पु० एक व०—अविष्टु
		√सद् से—प्र०पु०
√विद् से—विदत्		एक व०—सदतु
√कृ से—करति, करत्		द्वि व०—सदताम्
		बहु व०—सदन्तु
		√श्रु से—म०पु०
		श्रुधि श्रुतम् श्रुत
		प्र०पु० श्रोतु
		श्रुताम् श्रुवन्तु

५६. इंजंक्टिव—यह परिभाषा आधुनिकों की है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अट् आगम से हीन लुङ् और लङ् के रूपों को इंजंक्टिव कहते हैं। इस के प्रयोग लेट् के अन्तर्गत आ जाते हैं। उत्तम पुरुष में यह इच्छा को प्रकट

करता है। यथा—विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् (१)। मध्यम और प्रथम पुरुषों में यह प्रेरणा और उत्साह को व्यक्त करता है और बहुधा लोट् के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे—सुगा न सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विद में 'विद' इत्यादि है। इस भाव का प्रयोग ऋग्वेद में बहुलता से हुआ है।

५६. सातत्यद्योतक कृदन्त पद—लौकिक साहित्य में उपलब्ध सातत्यद्योतक कृदन्त पदों (शतृ, शानच आदि) के अतिरिक्त लुङ् लकार में भी परस्मै और आत्मने दोनों में सातत्य द्योतक कृदन्त रूप भिन्न हैं। जैसे परस्मैपद—√कृ से—करन्त। √गम् से—गमन्त। √स्था से स्थान्त। आत्मनेपद—√कृ से—क्राण। √युध् से—युधान।

५८ लिट् लकार में क्वसु और कानच् प्रत्ययान्त रूप भी भिन्न हैं (तु० क० लिटः कानज् वा। क्वसुश्च। पा०।)। यथा √शस् से शाशमान। √क्षम् से चिक्षमाण (कानच्) (२०)। √स्था से तस्थिवांसौ (द्विवचन—क्वसु) (१४)। √जि से—जिगीवान् (१०) (क्वसु)।

५८ ऋग्वेद में क्तवतु प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग नहीं किया गया है।

५९ क्त्वा-अर्थ के रूप—वेद में क्त्वा के साथ-साथ त्वी और त्वाय के रूप भी मिलते हैं। (तु० क० स्नात्व्यादयश्च। स्नात्व्यादयश्च। क्त्वो यक्। पा०)। त्वाय के प्रयोग अल्प हैं। जैसे—दिवं सुपर्णो गत्वाय। हत्वान देवान्। पिबा सोमस्य वावृधे। य और त्व प्रत्ययान्त पदों का अन्तिम स्वर बहुधा दीर्घ मिलता है।

तुमर्थ के रूप

६० तुमर्थ के रूप लौकिक संस्कृत में 'के लिए' के भाव के प्रकाशन के लिए केवल एक ही प्रत्यय—तुमुन् का प्रयोग होता है, परन्तु वेद में इस के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्ययों का प्रयोग होता है। पाणिनि मुनि ने इन का अधोलिखित सूत्रों में सकलित किया है—

१ तुमर्थे से—सेन्—असे—असेन्—क्से—कसेन्—अध्यै—अध्यैन्—कध्यै—कध्यैन्—शध्यै—शध्यैन्—तवै—तवेङ्—तवेन्।

२ प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै।

३. दृशे विख्ये च ।
४. शकि णमुल्कमुलौ ।
५. ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ।

६१. आधुनिक दृष्टि से इन का वर्गीकरण द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के रूपों से साम्य के आधार पर किया जाता है। इन में से पिछले तीन वर्गों के रूप अल्प हैं। शेष में से अधिकांश चतुर्थ्यन्त हैं जो द्वितीयान्तों से लगभग १२ गुना अधिक हैं।

६२. द्वितीयान्त तुमर्थ रूप धातु से अथवा कभी-कभी तु-प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं। जैसे—सुमिधम्—'प्रदीप्त करने के लिए'। प्रुतिधाम्—'रखने के लिए'। प्रुतिरम्—'बढ़ाने के लिए'। कर्तुम्—'करने, बनाने के लिए'। भेत्तुम्—'फाड़ने के लिए'। विभाजं (नाशकत्)। अपलुपं (नाशकत्)।

६३. चतुर्थ्यन्त तुमर्थरूप धातु से और अस्, मन्, वन्, तु, धि प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं। यथा—गमध्यै (६)—'जाने के लिए'। अवसे (१५)—'रक्षा के लिए'। सुवधे (१२)—'बहने के लिए'। दृशे—'देखने के लिए'। श्रुद्धे—'सच्चा विश्वास करने के लिए'। जीवसे—'जीने के लिए'। विद्मने—दावने, दातवे—'देने के लिए'। कर्त्तवैक्ष—'करने के लिए।

६४. पञ्चमी और षष्ठी के रूप एक समान होते हैं। ये रूप अस् और तोस् में मिलते हैं। जैसे—अवपदः—'गिरने के लिए'। नेतोः—'ले जाने के लिए'। विचरितोः—'विचरण के लिए'।

६५. सप्तमी विभक्ति में केवल 'मनि' प्रत्ययान्त रूप ही निश्चयात्मक विशुद्ध रूप हैं। जैसे—नेषणि—'ले जाने के लिए'। धर्त्तरि—'देने के लिए'।

६६. कृत्यप्रत्यय—कृत्य-अर्थ में तवै, केन्, केन्य और त्वन् का प्रयोग होता है (तु० क० कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः—पा०)। जैसे—दिदृक्षेण्यः।

क्ष इस में दो उदात्त स्वर हैं, क और वै।

कर्मप्रवचनीय निपात—

६७. वेद के मूल कर्मप्रवचनीय निपात द्वितीया, पञ्चमी और सप्तमी के साथ और कुछ स्थलों पर तृतीया के साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये इस प्रकार हैं—

६८. द्वितीया के साथ—अति—'परे'। अधि—'ऊपर से'। अनु—'पीछे'। अन्तर्—'में'। अभि, आ उप, प्रति—'की ओर'। परि—'चारों ओर'। पुर—'सामने'।

६९. पञ्चमी के साथ—अधि—'ऊपर से'। अन्तर्—'अन्दर से'। आ—'दूर से, 'तक'। परि—'(चारों) ओर से'।

७०. सप्तमी के साथ—अधि—'ऊपर'। अन्तर्—'अन्दर'। अपि, आ और उप—'समीप'।

वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ

कारक—७१ कई बार एक विभक्ति के स्थान पर दूसरी विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। जैसे—चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी, षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी और सप्तमी के अर्थ में चतुर्थी। यथा—अस्मै क्षत्र (११) में सप्तमी के लिए अस्मै में चतुर्थी का प्रयोग किया गया है।

७२ वर्णविकार—कई पदों में वर्णों में विकार पाया जाता है। जैसे—सधस्थम् (१) [तु. क. सधमादस्थयोश्छन्दसि।] गृभ्णामि। सम्भृतम् (२९)। [तु. क.—हग्रहोर्भश्छन्दसि। वा०।]

७३. साहितिक दीर्घ—अनेक बार संहिता में स्वरों को दीर्घ कर दिया जाता है। पदपाठ में इन्हें ह्रस्व कर दिया जाता है। जैसे—स्मा (११)। पूर्व्य. (२४)।

७४. प्रत्ययों का प्रयोग—बहुत से प्रत्यय विहित स्थलों से अन्यत्र भी हो जाते हैं। जैसे—अघायुरराती्वा मर्त्ययवि। इस में अघायु में क्यच् और उ प्रत्यय परेच्छा में हुए हैं।

७५. व्यत्यय—पाणिनि ने वैदिक भाषा के लौकिक संस्कृत से भेदों को 'व्यत्ययो बहुलम्' कह कर वर्णित किया है। इस सूत्र का विस्तार इस कारिका में दिया गया है—

सुप्—तिङ्—उपग्रह—लिङ्ग—नराणां
काल—हल्—अच्—स्वर—कर्त्तृ—यङाञ्च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां
सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

भाव यह है कि वैदिक भाषा में अनेक स्थानों पर विभक्तियों, क्रिया के तिप् आदि प्रत्ययों, आत्मने—परस्मै पदों, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग, उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुषों, लट् आदि लकारों, व्यञ्जनों, अ, आ आदि स्वरों, उदात्त आदि स्वरों, कारकों और यङों के प्रयोगों में लौकिक भाषा के नियमों की उपेक्षा पाई जाती है।



वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

मन्त्र	क्रमसंख्या	सङ्केत
अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च	३८	य० ३१।१७
एतावानस्य महिमा	२४	ऋ० १०।९०।३, य० ३१।३
चन्द्रमा मनसो जातः	३४	ऋ० १०।९०।१३, य० ३१।१२
ततो विराडजायत	२६	य० ३१।५
तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्	५	ऋ० १।१५४।५
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्	२८	ऋ० १०।९०।७, य० ३१।९
तस्मादश्वा अजायन्त	३१	ऋ० १०।९०।१०, य० ३१।८
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत	३०	ऋ० १०।९०।९, य० ३१।७
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः	२९	ऋ० १०।९०।८, य० ३१।६
तस्माद्विराळजायत	२६	ऋ० १०।९०।५
ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै	६	ऋ० १।१५४।६
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः	२५	ऋ० १०।९०।४, य० ३१।४
द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते	१९	ऋ० २।१२।१३
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं	३५	ऋ० १०।९०।१४, य० ३१।१३
पुरुष एवेदं सर्वं	२३	ऋ० १०।९०।२, य० ३१।२
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तर	४०	य० ३१।१९
प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण	२	ऋ० १।१५४।२
प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म	३	ऋ० १।१५४।३
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्	३३	ऋ० १०।९०।१२, य० ३१।११
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः	३७	ऋ० १०।९०।१६, य० ३१।१६
यत्पुरुषं व्यदधुः	३२	ऋ० १०।९०।११, य० ३१।१०

मन्त्र	क्रमसंख्या	संकेत
यः पुरुषेण हविषा	२७	ऋ० १०।९०।६; य० ३१।१४
यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते	१४	ऋ० २।१२।८
यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्	११	ऋ० २।१२।५
यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो	१५	ऋ० २।१२।९
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि	४	ऋ० १।१५४।४
यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो	१३	ऋ० २।१२।७
येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि	१०	ऋ० २।१२।४
यो जात एव प्रथमो मनस्वान्	[illegible]	ऋ० २।१२।१
यो देवेभ्यो आतपति	४१	य० ३१।२०
यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य	१२	ऋ० २।१२।६
यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून्	९	ऋ० २।१२।३
यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्	८	ऋ० २।१२।२
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम्	१७	ऋ० २।१२।११
यः शश्वतो मह्येनो दधानान्	१६	ऋ० २।१२।१०
यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्	१८	ऋ० २।१२।१२
यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्	२१	ऋ० २।१२।१५
यः सुन्वन्तमवति यःपचन्तम्	२०	ऋ० २।१२।१४
रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	४२	य० ३१।२१
विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम्	१	ऋ० १।१५४।१
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्	३९	य० ३१।१८
श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे	४३	य० ३१।२२
सप्तास्यासन् परिधयः	३६	ऋ० १०।९०।१५; य० ३१।१५
सहस्रशीर्षा पुरुषः	२२	ऋ० १०।९०।१; य० ३१।१

वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

तत्र

अकारादिवर्णानुक्रमेण

टिप्पणीषु व्याख्यातानां पदानामनुक्रमणिका

वेदलावण्यम्

संक्षेप विवरण

+ जोड़ का चिह्न

= बराबर है, समान है

√ धातु का द्योतक चिह्न

अकोसु०—अमरकोष सुधाटीका, भानुजिदीक्षित, बम्बई १९२८

अवे—अथर्ववेद, अजमेर वैदिक यन्त्रालय, २००१ वि

अवै—अवेस्ता भाषा

आइओका—प्रोसीडिंग्ज औफ दी आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस

आइओका० (स)—समरीज औफ पेपर्ज सब्मिटिड टू दी आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस

आप्टे का कोष—वी० एस० आप्टे स्टूडेण्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, द्वितीय संस्करण

आश्व० गृ०—आश्वलायन गृह्यसूत्र

उ०—पञ्चपादुणादि, सभाष्य, दयानन्द सरस्वती सं० १९८९

ऋ०—ऋग्वेद—सातवलेकर द्वारा सम्पादित मूल संहिता

ऋभाभू०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका दयानन्द सरस्वती आर्य साहित्य मण्डल अजमेर १९९१ वि०

ऐ०—ऐतरेय ब्राह्मण, मूल बम्बई

एया०—ऐटिमौलौजीज औफ यास्क, डा० सिद्धेश्वर वर्मा

कठोप०—कठोपनिषद्

का० य०—काण्व यजुर्वेद संहिता, प सातवलेकर द्वारा संपादित

का० श्रौ०—कात्यायन श्रौत सूत्र

कास०—काठकसंहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी

कौ०—कौषीतकि ब्राह्मण

गी०—भगवद् गीता

गो०—गोपथ ब्राह्मण

ग्रा० ग्रास०—ग्रासमैन

छाउ०—छान्दोग्योपनिषद्

जैउ० जैउब्रा०—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण

तां—ताण्ड्यमहाब्राह्मण

तु० क०—तुलना करो

तै०—तैत्तिरीय ब्राह्मण

तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता, स्वाध्यायमण्डल, पारडी

दपाउ०—दशपादुणादि वृत्ति पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित

दस०—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उन का ऋग्वेद भाष्य, ९ भाग, अजमेर

नपुं०—नपुंसक लिंग

नि०—निरुक्त, डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित, मूल, १९२७

निघं —निघण्टु—दयानन्द सरस्वती स्वामी द्वारा सम्पादित, अजमेर, १९८९ वि०

नेवैशा०—नेचर ऑफ वैदिक शाखाज़ एस० के० गुप्त

पं० उ०; पपाउ०—पञ्चपादुणादिसूत्र, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित

पा०—पाणिनिमुनि रचित अष्टाध्यायी और उस की काशिकावृत्ति, बनारस

पाउ०—पारस्करीयोपनयन सूत्रों का प्रस्तुत संस्करण

पाटि०—पादटिप्पणी

पा० भे०—पाठभेद

पीटर्सन—हिम्ज़ ऑफ दी ऋग्वेद प्रथम भाग

पु०—पुरुष; पुल्लिंग

पृ०—पृष्ठ

प्र०—प्रथम पुरुष

वधसू०—वसिष्ठ धर्मसूत्र

बृउप०—बृहदारण्यकोपनिषद्

भायो०—भारत-योरोपीय काल्पनिक भाषा का कल्पित पद

मनु०—मनुस्मृति, बम्बई

मन्त्रसं०, ससं०—इस संस्करण में स्वीकृत क्रमसंख्या और यजु० ३१ के मन्त्रों की बाईं ओर दी गई अविकल संख्या। प्रमाणों में इस संख्या के आगे टिप्पणी की संख्या है।

मही०—महीधर, यजुर्वेद भाष्य

मु० उ०—मुण्डकोपनिषद्

मेघ०—मेघदूत, सुधीर कुमार गुप्त द्वारा सम्पादित, तीसरा संस्करण।

मै०—मैकडोनल, ए० ए० और उनकी वैदिक रीडर

मैमू०—मैक्स मूलर

य०—यजुर्वेद संहिता, अजमेर, १९९९ वि०

यभा०, य० भा०, य० भाष्य—यजुर्वेदभाष्य, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ४ भाग, अजमेर

व०—वचन

वि०—विशेष्य

विको०—सर मोनियर मोनियर-विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, १८९९

वे० भा०—वेदभाष्य

वेभाप०—सुधीर कुमार गुप्त, वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन

वेमा०—वेंकट माधव

वैइ०—वैदिक इण्डैक्स, दो भाग, मैक्डोनल और कीथ

वैए०—दी वैदिक एटिमोलोजी, डा० फतह सिंह

वैको०—वैदिक कोष, हंसराज।

वैग्राम०—वैदिक ग्रामर फॉर स्टुडेण्ट्स, मैक्डोनल, ए० ए०।

वैरी०—मैक्डोनल, ए०ए०, वैदिक रीडर

वैसा०—वैदिक साहित्य, राम गोविन्द त्रिवेदी, बनारस

श०—शतपथ ब्राह्मण, दो भाग, बनारस

शकौ०—[illegible]

श्वे० उ०—श्वेताश्वतरोपनिषद्

सप्र०—सत्यार्थ प्रकाश, कलकत्ता, सं० १९८१

सं०—संस्कृत

संचं०—संस्कारचन्द्रिका, आत्माराम, बड़ौदा

संप०—दयानन्दभाष्यों में संस्कृत पदार्थ

संवि०—संस्कारविधि, स्वा० दयानन्द सरस्वती, अजमेर

संशकौको०—संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ कोष, द्वारकाप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी, इलाहाबाद १९५७

सा०—सायणभाष्य (ऋग्वेद), पूना ४ भाग।

सा० ला०—साइक्लेन्जिग लाइडर

सिकौ०—सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमा, मद्रास

सीएसडी०—सुधीर कुमार गुप्ता, ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दी कमेण्टरी ऑन दी ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द

सूसं०—इस संस्करण में सम्पादित पारस्करीयोपनयन सूत्रों की क्रमिक संख्या और उन पर टिप्पणियां

स्त्री०—स्त्रीलिंग

हिअ०—हिन्दी अनुवाद

छ आना भारती मन्दिर पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प

सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, शास्त्री, प्रभाकर, एम० डी० एच०,

मेघदूत की वैदिक पृष्ठ भूमि और उसका सांस्कृतिक सन्देश



यह लेख विद्वान लेखक ने अखिल भारतीय प्राच्य महा सम्मेलन के अहमदाबाद अधिवेशन में पढ़ा था। इस में लेखक ने अपने मेघदूत के द्वितीय संस्करण में व्याख्यात पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल का सप्रमाण विस्तार कर उनसे प्राप्त सन्देश को व्यक्त किया है। साथ ही अनेक शब्दों के विश्लेषण से यह दिखाया है कि कालिदास की व्यञ्जना को समझने के लिए यौगिक वैदिक व्याख्यान शैली का ज्ञान आवश्यक है।

व्याख्यात कथाएँ—रन्तिदेव, बलराम का सूतवध और सारस्वत जलों का सेवन, त्रिपुरविजय, क्रौञ्चभेदन, देवताओं की याचनावस्था, स्कन्द और अप्सराएँ, शिव और कुबेर की मैत्री।

व्याख्यातपद—मेघ, यक्ष, कामरूप, पयोद, अट्टहास, अतिथि, ग्रामणीम्, मणि, सुरपति, नाग, पावन, जल, अनिल, मरुत्।

परिशिष्ट—१ लेख में आए मेघदूत के श्लोकों और मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद। २ चित्र विवरण

प्रकाशक—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुर्जा (उ० प्र०)

पुस्तक विक्रेता, विज्ञापक और प्रापक

लेखक की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ—

१. *मेघदूत*—द्वितीय संस्करण। इस में विस्तृत भूमिका मूलपाठ, मल्लिनाथ की संस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियां, परिशिष्ट आदि हैं। लगभग सभी पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल को दर्शाया गया है। अनुपम कृति। सुन्दर छपाई और कागज। मूल्य ५/८/-

२. *संक्षिप्त दशकुमारचरित*—पूर्वपीठिका के प्रथम तीन उच्छ्वासों और उत्तर पीठिका का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित उत्तम, और वैज्ञानिक सम्पादन।
कागज २० × ३०/१६ सजिल्द ३/४/- अजिल्द २/१२/-

३. *विश्रुतचरित*—मूलपाठ, संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियों और परिशिष्टों से विभूषित। मूल्य १/४/-

४. *अर्थव्यञ्जकताचित्र*—चित्र रूप में अर्थव्यञ्जना का स्पष्टीकरण -/४/-

5 Nature of Vedic shakhas and Authorship of the Phonetic Sutras edited by Dayananda Sarasvati. -/12/-

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (उ० प्र०)
पुस्तक विज्ञापक, प्रापक, प्रकाशक और विक्रेता

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम.ए. पीएच.डी., शास्त्री, प्रभाकर

शुकनासोपदेशः



डा० सुधीर कुमार गुप्त मेघदूत, संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, दशकुमारचरित, वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख, नेचर और वैदिक शालाज आदि उच्च कोटि के विद्वत्ता पूर्ण आलोचनात्मक और अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वानों, अध्यापकों और विद्यार्थियों की समाज में सुप्रसिद्ध ही हैं। आप ने आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शैली अपनाई है जिस में आधुनिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टियों का सुन्दर और प्रभावोत्पादक समन्वय पाया जाता है।

इन्हीं लब्धप्रतिष्ठ लेखक की बुद्धि और लेखनी से प्रादुर्भूत यह रचना बाणभट्ट की अमर कृति कादम्बरी में उपलब्ध व्यावहारिक ज्ञान के गम्भीर समुद्र शुकनासोपदेश का विस्तृत भूमिका, अभिनव अभिधानात्मक संस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, भाव, सांस्कृतिक और दार्शनिक भावों की प्रकाशिका व्याख्यात्मक तथा व्याकरणादि की टिप्पणियों अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक परिचय और शब्दानुक्रमणिका से युक्त एकमात्र प्रामाणिक तथा सर्वाङ्गसुन्दर आलोचनात्मक संस्करण है। यह परीक्षार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक, विद्वानों, आलोचकों और अध्यापकों के लिए मननीय और संग्रहणीय तथा जनसाधारण की ज्ञानवर्धक रचना है। इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि यह पाठकों में आगे विस्तृत अध्ययन और मनन की प्रवृत्ति

उत्पन्न करता है। इस में ऋग्वेद से ले कर आज तक रचे गये वाङ्मय के अनेकों ग्रन्थरत्नों का प्रयोग किया गया है।

आकार २०×३०/१६ पृ० १२० मूल्य अजिल्द २) सजिल्द २।।)

विषय-सूची

सूचना—दाईं ओर कोष्ठकों में संदर्भों की संख्या दिखाई गई है।

विशेष सुविधा—प्रकाशक से डाक द्वारा मँगाई हुई पुस्तक पसन्द न आने पर पुस्तक प्राप्ति की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय पर रजिस्ट्री द्वारा विक्रय योग्य टकसाली अवस्था में लौटाने पर ग्राहक को उस से लिया हुआ मूल्यमात्र मनीआर्डर से लौटा दिया जायगा।

गद्यपारिजातविवरण

इस ग्रन्थ में संस्कृत गद्य और गद्य काव्यों से चुने हुए अधोलिखित स्थलों का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद किया गया है। अनुवाद में यथा आवश्यक पदों पर मौलिक व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। पाठ के आरम्भ में उसका सार भी दिया गया है।

१—शतपथ ब्राह्मणे मत्स्यावतारेतिहास।

२—तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षावल्ली, भृगुवल्ली च।

३—बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवाद (२/४)।

४—महाभाष्ये व्याकरणाध्ययनप्रयोजनानि।

५—समुद्रगुप्तप्रशस्ति।

६—दशकुमारचरिते अष्टम उच्छ्वास।

७—कादम्बर्याम्— जाबाल्याश्रमवर्णनम्, जाबालिवर्णनम्, मुनिविषयको विचार, पतिविषये तापसानां जिज्ञासा तन्निवारणं च, शुकनासोपदेश।

८—हर्षचरिते सप्तम उच्छ्वास—(आदितः कुमारस्य यशोदिग्विजय यावत्)

इस विषयसूची से ही पुस्तक की उपादेयता का अनुमान किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का सा शाब्दिक, मौलिक और प्रामाणिक अनुवाद अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

पृष्ठ संख्या ३०० मूल्य ६)

सूचना—प्रत्येक प्रामाणिक प्रति पर लेखक के हस्ताक्षर अंग्रेजी में (S K Gupta) अंकित मिलेंगे।

विद्यार्थियों के लिये सहायक पुस्तकें—

प्रो० सुधीर कुमार गुप्त के आगामी प्रकाशन—

अगस्त-सितम्बर १९५४

(१) रघुवंश—दूसरा और तेरहवाँ सर्ग, प्रत्येक लगभग २)

(२) कुमारसम्भव—५ वां सर्ग, लगभग २)

(इन में विस्तृत भूमिका, मूलपाठ, संजीवनी टीका हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ, परिशिष्ट और अनुक्रमणिकाएं हैं)। अनुपम संस्करण।

दिसम्बर, १९५४

(३) संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास (प्रश्नोत्तर रूप में) द्वितीय परिवर्धित और संशोधित संस्करण, लगभग ३॥)

फरवरी, १९५५

(४) अभिज्ञान शाकुन्तल और उसका एक अध्ययन—इसमें सभेद मूल पाठ, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ, विस्तृत भूमिका, परिशिष्ट, अनुक्रमणिकाएं तथा प्रश्नोत्तर होगें।

लगभग १०)

प्रो० गुप्त के ये विद्वत्तापूर्ण, सरल, स्पष्ट, संक्षिप्त और पूर्ण संस्करण अन्यत्र अप्राप्य हैं। इनके मेघदूत आदि ग्रन्थ हाथों हाथ बिकते रहे हैं। उनसे इन प्रकाशनों की उपादेयता का अनुमान कर सकते हैं।

मूल्य अग्राऊ भेज कर प्रति सुरक्षित कर ने वाले छात्रों और अध्यापकों को मूल्य का ¼ कमीशन और फ्री डाक व्यय दिया जायगा। यह सुविधा केवल उन्हें ही दी जायगी जो अपनी प्रतियां क्रमशः १५ अगस्त, ३० सितम्बर और ३१ अक्तूबर १९५४ से पूर्व सुरक्षित करायेंगे। इसी प्रकार पुस्तक-विक्रेताओं को भी विशेष अतिरिक्त सुविधा दी जायगी।

भारती मन्दिर,
नई बस्ती,
खुरजा (उ० प्र०)

अर्थव्यञ्जकताचित्रम्

इसमें चित्र के आकार में काव्य प्रकाश और साहित्यदर्पण के अर्थव्यञ्जकता के प्रकरणों का सरल संस्कृत में संक्षिप्त और मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है। यह एम० ए०, शास्त्री और विशारद के परीक्षार्थियों के लिए अनुपम वस्तु है। इस चित्र को दीवार पर भी लटकाया जा सकता है। कागज और छपाई बढ़िया है।

मूल्य -/४/

कुछ सम्मतियां—

1 *Pt Gauri Shankar, M A, B Litt, P E S, Govt College Hoshiarpur (formerly at Lahore) and Member Board of Studies in Sanskrit Punjab University*

It is very instructive and at the same time lucid and comparative"

2 *Prof M K Sircar, M A (Calc & Dac), Formerly Head of the Sanskrit Deptt D A V College, Lahore and Lecturer Punjab University Lahore now Head of the Sanskrit Deptt Hamsa Raj College, Delhi*

"I have recommended it to the M A students of the Pub I find the chart very useful for the students of Sahitya in M A and Shastri and Vishārada Examinations"

3 *Prof N N Chaudhuri, M A, K T, V T Shastri formerly Senior Lecturer in Sanskrit, Ramjas College, Delhi Now Reader in Sanskrit, Delhi University, Delhi*

" It is admirably fitted to serve the purpose for which it is published. I have already recommended your 'citram' to my M. A. students

4. *Pt. Vana Mali Sharma Chaturveda, Sahityacharya, Kavya-Tirtha etc., Shri Mathur Chatur Veda Vidyalaya, Dempier Park, Mathura.*

"श्रीयुत श्री सुधीर कुमार गुप्त ..... के काव्यप्रकाश तथा साहित्य दर्पण के यथार्थ अर्थानुसार अर्थव्यञ्जकताचित्र को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। परिश्रम सराहनीय है। उनके इस कार्य से न केवल छात्रों को ही अपितु अध्यापकों को भी सरलता होती है।

इस की प्रति सभी साहित्याध्यापकों के पास अवश्य रहनी चाहिए।"

5. *Pt. Brahmananda Sukla Vyakaranalankara Shastri, Shri Radha-Krishna Sanskrit College, Khurja (U. P.)*

"प्राच्य प्रतीच्य-विद्याविनोदनिपुणानां श्रीमतां मतिमतां सुधीर-गुप्तमहोदयानामभिनवां कृतिमर्थव्यञ्जनां विशदतया पद्धत्या चित्र-समवलोक्य परां मुदमवाप्तवानस्मि। मातुः शारदायाः सेवायाः प्रसारप्रकारोऽयमिति विनेयानां महान्तमुपकारं करिष्यति इति च सर्वथा प्रचारमस्य कामये।"

भारती मन्दिर
नई बस्ती
खुरजा (उ० प्र०)

कामायनी सौन्दर्य

डा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

(वैदिक एटीमालोजी, वैदिक दर्शन, भारतीय समाजशास्त्र; मूलाधार, साहित्य और सौंदर्य आदि प्रख्यात, मौलिक, मसार और अनुपम कृतियों के रचयिता)

आपने साहित्यक्षेत्र में भारतीय ढंग पर सांस्कृतिक तत्त्वों की परिचायका विवेचना का सूत्रपात कर एक नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया है। अपने साहित्य को यथार्थ रूप में समझने, उस से उचित अनुभूति प्राप्त करने तथा साहित्य की अविच्छिन्न निरन्तर धारा की सतता के ज्ञान के लिए हमें इस प्रकार के मार्ग की नितान्त आवश्यकता थी।

कामायनी सौंदर्य का पहला संस्करण अगस्त १९४८ में निकला था। उस में २+४+१६० पृष्ठ थे। उस की प्रशंसा विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की। एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए इसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया।

अब उसका नया संस्करण इस वर्ष नई सजधज के साथ प्रकाशित हुआ है। इस में पुस्तक का आकार पहले से दुगने से भी अधिक हो गया है। इस में २६+४२४ पृष्ठ हैं। विषयक्रम में परिवर्धन, परिवर्तन और संशोधन कर दिया गया है जिससे पुस्तक का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

नवीन शीर्षकों में खण्डानुसार कामायनी की कथा, दार्शनिक आधार-शिला और विश्व साहित्य में कामायनी उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक न केवल परीक्षार्थियों के लिए ही पढ़ने योग्य है प्रत्युत समस्त हिन्दी और संस्कृत के विद्वानों, समालोचकों, भारतीय संस्कृति के प्रेमियों, भारतीय साहित्य-सेवियों और जनसाधारण के

लिए पढ़ने योग्य है। विषयसूची साथ दी है जिस से पुस्तक की सामग्रियों का ज्ञान सहज में ही आता है।

विषय सूची

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्यात्मा)

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्य शरीर)

दार्शनिक आधार-शिला

२६६ [३] शैवागम का प्रभाव ३०० [४] 'लहर' से त्रिपुर सुन्दरी-कामकला-३२४ महात्रिपुरसुन्दरी-३२८, त्रिपुर-३३०, शक्तिशक्तिमान-३३०, [५] समाज-समीक्षण की समृद्धि-३४६।

विश्व साहित्य में कामायनी—

आदि-मानव या मानव सामान्य

(क) मन्वन्तर-३६८, मन्वन्तरों का रहस्य-३७३, (ख) विश्व साहित्य में मन्वन्तर-३८४।

आदि मानव—(ग) आदि मानव का रूपान्तर ३९१ प्रमुख महाकाव्य ४०० उपसंहार ४०३।

कुछ सम्मतियाँ

'यह गम्भीर लेखक के पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम है।'

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्

'डा० द्वारिकाप्रसाद जी ने 'कामायनी' का विवेचन दार्शनिक, सांस्कृतिक और प्राचीन परम्परा के दृष्टिकोण से किया है। यह पुस्तक हिन्दी के गौरव को बढ़ाने वाली है।' देशदूत।

'प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य का वास्तविक अनुशीलन करके विशुद्ध भारतीय परम्परा और कामायनी की आधार-भूत बातों को विस्तार के साथ समझाया है।' वीणा

'मनु, श्रद्धा, इडा, कुमार और जलप्लावन का शृंखलाबद्ध इतिहास पहली बार कामायनी सौन्दर्य में मिलता है। महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण भी हिन्दी में पहली बार इतनी गम्भीरता से हुआ है। यों 'कामायनी-सौन्दर्य' कामायनी पर लिखी सभी पुस्तकों में निराली और अनुपम पुस्तक है।' साहित्य सन्देश

डा० फतहसिंह एम० ए०, डी० लिट्

साहित्य और सौन्दर्य

कामायनी सौन्दर्य के प्रख्यात लेखक की दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि ने इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों को परम देदीप्यमान कर दिया है। लेखक का प्रकाण्ड वैदिक ज्ञान शास्त्रीय विषय के मूल सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में एक प्रभावशाली और रोचक तथा युक्तियुक्त साधन बन पड़ा है। इससे वे इन विषयों को जीवन और उसकी संस्कृति का अंग बनाकर काव्य के चतुर्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य को सम्भव कर पाए हैं। पुस्तक में छै निबन्ध हैं, जिनके विषय तो पुराने ही हैं, परन्तु दृष्टि और प्रतिपादनशैली एक दम नई और वास्तविक है।

निबन्धों के शीर्षक—

[१] कवि और काव्य—१-५४, [२] भारतीय महाकाव्य—५५-६२, [३] मेघदूत का काव्यत्व—६३-७६, [४] साहित्य और संस्कृति—७७-८८, [५] सौन्दर्य और उसका शास्त्र—८९-११४, [६] पूर्व की ओर—११५-१३८, अन्त में पद सूची है।

छपाई और गेटअप आदि आकर्षक हैं। मूल्य १-१४-० डाक व्यय (साधारण बुक पोस्ट) ०-६-६

कुछ सम्मतियाँ—

'कवि और काव्य में लेखक ने विशेषतः 'रस' और 'काव्य' पर अपूर्व विचार सामने रखे हैं। लेखक का गंभीर मनन, मनन तथा निदिध्यासन, इस निबन्ध की पंक्ति-पंक्ति में बोल रहा है। मैं तो इसे हिन्दी साहित्य की संपत्ति मानता हूं। और सब से बढ़िया बात यह है कि सर्वज्ञता होते हुये भी लेखक की दृष्टि और आस्था

पूर्णतः भारतीय है। लेखक न पुरानी परम्परा को अस्वीकृत करते कुंठित हुआ है, न अभारतीय दृष्टि को ठुकराने में झिझका है। आदि रुचि व सम्बन्ध की उनकी युक्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं, बहुत तर्कपूर्ण हैं।

स्वतन्त्र भारत

'यह पुस्तक बहुत मनोयोग से मनन करने योग्य है। 'रस वाद' से ऊबे या उसकी उपेक्षा करने वाले (रसवाद को सस्ता, बिना जाने भी!) इस पुस्तक में बहुत सी विचारोत्तेजक सामग्री पायेंगे और पढ़ने का श्रम व्यर्थ न जायगा।

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने भारतीय और पाश्चात्य सभी दृष्टिकोणों से साहित्य और सौन्दर्य की विवेचना की है। . . . इस (सौन्दर्य और अलंकार शास्त्र) प्रकरण में लेखक ने इस विवेचन की एक नींव डाली है जो कि भविष्य के विवेचकों के लिये बहुत काम की सिद्ध हो सकती है।

हरिवल्लभ बी० ए०, साहित्य रत्न

गंगा किनारे

प्रभात, गंगा किनारे, सुख की नींद, सुनीता, पहाड़ी, वीरांगना, पत्नी का पाप, न माया मन का मीत, प्रायश्चित-इन नौ कहानियों का २०×३०/१६ के आकार का १००पृष्ठ का यह संग्रह मन को मुग्ध और प्रभावित करने वाला है। इसकी कहानियाँ देव विश्वासी करुण रस प्रधान, सरस, सामाजिक, क्रियाकल्प की दृष्टि से पूर्ण सफल, नारी जीवन, उसकी करुणा और उसके अनेक रूपों और विविध स्तरों की प्रकाशिका, ग्रामीण जीवन की पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित, वस्तुविन्यास में नाटकीयता पूर्ण, विदग्ध

व्यंजनाओं और कलात्मक स्फुरणाओं से युक्त हैं। लेखक का यह प्रयास परम सफल और रोचक बन पड़ा है।

मूल्य १-४-० डाक व्यय (साधारण बुक पोस्ट से) ०-२-०

भीमसेन शास्त्री, विद्याभूषण, एम० ए०, एम० ओ० एल०

अलंकार दीपिका—

शास्त्री जी ने इसमें आगरा, राजपूताना आदि विश्वविद्यालयों में बी० ए० संस्कृत के पाठ्य-क्रम में निर्धारित काव्यदीपिका की अष्टम शिखा का विस्तृत उपोद्घात, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या तथा परिशिष्टों और अनुक्रमणिकाओं से विभूषित सम्पादन किया है।

प्रथम परिशिष्ट में उदाहरणप्रतीक सहित समस्त कारिकाएं दी गई हैं। उन से विषय को स्मरण कर परिशिष्ट २, ३ और अनुक्रमणिका २ की सहायता से विद्यार्थी अपनी परीक्षा स्वयं ले सकता है।

पृष्ठ संख्या—१०० आकार २०×३०/१६

मूल्य १-१२-० डाकव्यय =)

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर, खुर्जा (उ० प्र०)

पुस्तक विक्रेता, प्रकाशक व विक्रेता

डा० फतहसिंह एम० ए०, डी० लिट

वैदिक दर्शन

(दार्शनिक डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत और राजपूताना विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त)

कामायनी सौन्दर्य आदि के प्रख्यात रचयिता की यह कृति अपनी अलग ही विशेषता रखती है। वैदिक दर्शन का इतना गम्भीर, विस्तृत, वैज्ञानिक, तात्त्विक और विशद व्याख्यान अन्यत्र उपलब्ध नहीं। मैक्समूलर हाउमन, कीथ, डा० राधाकृष्णन आदि की कृतियों में वैदिक दर्शन की गूढ़ और वास्तविक विचारधारा का परिचय प्राप्त नहीं होता। भ्रान्तिवश ऋषियों के दर्शन को प्रायः प्राय प्राकृतिक देवी-देवताओं, जड़ वस्तुओं आदि की स्तुति तक सीमित रखना ही इतर कृतियों में पाया जाता है। यह कृति इन दोषों से मुक्त है। लेखक की दृष्टि बड़ी व्यापक है। उसका क्षेत्र ऋग्वेद से उपनिषदों तक फैला हुआ है। सर्वत्र वह एक ही दर्शन, एक ही भाव, एक ही विचारधारा को पाता है। संक्षेप में इस कृति ने वैदिक दर्शन के विभिन्न तथ्यों का समन्वय कर उन्हें एक सूत्र में पिरो सुन्दर मुक्ताहार का रूप दे दिया है। आकार २०×३०/१६ पृष्ठ २७४ मूल्य अजिल्द ४) सजिल्द ६) डाकव्यय ।|||, ।=)

विषय सूची

नामरूप जगत्——१ उत्पत्ति – [क] सृष्टि–१९९, [ख] प्रजनन–२०७ मिथुनत्वप्रक्रिया–२०८, [ग] साम सृष्टि–२१० ।

२ सृष्टि प्रक्रिया—अशुद्ध और शुद्ध सृष्टि—[क] सर्ग–२१७, [ख] संवत्सर और उसकी प्रतिमा–२०६ [ग] संवत्सर की याव् २२४ [घ] संवत्सर की सृष्टि––२४ ।

३ दोहन प्रक्रिया—[क] पञ्च धाम और पञ्च क्रम–२३८, [ख] दोहन का विवरण –२३४ असुरधाम का दोहन–२३५ पितृलोक का दोहन २३८ मनुष्यलोक का दोहन––२४, ऋषिलोक का दोहन २३५ देवलोक का दोहन–२३५ गन्धर्वाप्सरसों के लोक का दोहन २-५, सर्पलोक का दोहन–२३४ इतर-जन लोक का दोहन–२३६ ।

४ कल्पप्रक्रिया—[क] हृदय और सृष्टि २३८, [ख] यज्ञ और कल्प २४० ।

५ ऋतु प्रक्रिया—[क] ऋतु–२४१ [ख] ऋत और ऋतु –२४८ [ग] वैराजिक सृष्टि पर सिंहावलोकन–२४२ ।

कुछ सम्मतियां

Dr Sunti Kumar Chatterji Cu utta University

I admire the wide range of reading and thought you manifest in your work You have sought to give the esoteric, philosophical background of the Vedas as forming the basis of Hindu phil sophy, ritual and mythology This is a most fascinating topic and naturally those who believe in the unity of Indian culture and in the ideology behind the Veda to be identical with those behind the Purana and the Jantra will find your work to be stimulating and full of new ideas =

His Excellency R. R. Diwakar, The Governor of Bihar.

"I am glad that you have upheld the view that the Vedas are not merely a collection of the babblings of infant humanity but are full of guidance to spiritual aspirants."

Dr. C. K. Raja, The Iranological Institute, Tehran (Iran)

"I find that you have given some new interpretation and that it is very deep and comprehensive."

मुख्य वितरकः—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (उ० प्र०)
पुस्तक विज्ञापक, प्रापक, प्रकाशक और विक्रेता

डा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

भारतीय समाज शास्त्रः मूलाधार

मूल्य सजिल्द ४॥) अजिल्द ४) डाकव्यय ।)॥

डा० फतहसिंह कामायनी सौन्दर्य, वैदिक दर्शन, साहित्य और सौन्दर्य तथा वैदिक एटिमोलौजी आदि उच्च कोटि के विद्वत्ता-पूर्ण अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध हो हैं। उनकी आध्यात्मिक, और सांस्कृतिक शैली ने अध्ययन की एक नई परम्परा चलाई है जिसमें आधुनिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टियों का सुन्दर और प्रभावोत्पादक समन्वय किया है।

इन्हीं प्रख्यात लेखक की लेखनी से यह पुस्तक प्रकट हुई है। 'प्रस्तुत पुस्तक समाजशास्त्र पर लिखी गई अब तक की सभी

पुस्तकों से अलग-सी जान पड़ेगी। अब तक जो पुस्तकें इस विषय पर लिखी गई हैं उनका दृष्टिकोण प्रायः भौतिकवादी ही रहा है, परन्तु यहाँ पर समाजशास्त्र को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया है। दूसरी विशेषता यह है कि उसमें उन समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी यथासम्भव समावेश किया गया है जो भारतीय ऋषियों एवं मुनियों के मस्तिष्क में उद्भूत हुए थे। यथासम्भव इन सिद्धान्तों के क्रियात्मक रूप तथा उस पर आश्रित एवं उससे अनुप्राणित समाज के क्रमिक विकास को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है।

विषय सूची

द्वितीय खण्ड में भारतीय समाजशास्त्र के क्रियात्मक रूप और तृतीय खण्ड में वर्तमान समाज और उसकी समस्याओं का विवेचन होगा।

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (उ० प्र०)

पुस्तक विज्ञापक, प्रापक, प्रकाशक और विक्रेता



ANNOUNCEMENT—

The research department attached to the Bharati Mandira proposes to issue the following books in 1955. Orders can be booked in advance on payment of prices indicated against each.

१. सूर्यदैवज्ञपण्डितवैदिकभाष्यम्—The work will contain all the comments of the author on Vedic Mantras found scattered in his commentary on the Gita. The book will also contain footnotes giving interpretations of other commetators & scholars. Rs. 10/-/-

२. निघण्टुनिरुक्तनिर्वचनादिकोषः (यास्क-कोषः):—

The work will contain all the etymologies, interpretation and discussions found in the Nighantu and the Nirukta. New light is also thrown on some readings of the two works, not noticed by Dr. L. Sarup. Rs. 20/-/-

३. दयानन्दीयनिघण्टुनिरुक्तभाष्यम्.—The work will contain all the interpretations of Nighantu words and Nirukta passages found in the works of Dayananda Sarasvati.

Rs. 5/-/-

4. Etymologies in the work of Dayananda. It is proposed to evaluate critically all the etymologies found in the works of Dayananda. Rs. 20/-/-

Issued by:—

The Research Department.

BHARATI MANDIRA, Nai Basti,

KHURJA. (U. P.)

आचार्य अभयदेव जी

१ *वैदिक उपदेशमाला*—इस लघु कृति में बारह वैदिक उपदेशों का व्याख्यान और प्रतिपादन किया गया है। इनके प्रयोग से प्रत्येक मानव अपने, कुल, समाज और राष्ट्र के जीवन को उन्नत बना सकता है। लेखक की इच्छा है कि प्रत्येक मानव एक मास में एक उपदेश पर आचरण करे और इस प्रकार एक वर्ष में समस्त उपदेशों का अपने जीवन का अंग बना ले। उपदेशों के शीर्षक ये हैं—

[१] उपदेश ग्रहण करना-१, [२] एकान्त विचार-८, [३] प्रातःकाल उठना-१६; [४] प्रलोभन को जीतना-२३, [५] वीर्यरक्षा-३१, [६] त्याग-४०, [७] देशभक्ति-५४, [८] सुशासन-६१; [९] श्रद्धा-६७, [१०] सत्य-७६, [११] अहिंसा-८३, [१२] विश्वप्रेम-९१। तीसरा संस्करण मूल्य अजिल्द ०-१२-०

डाकव्यय ०-१६

२ वैदिक *विनय—प्रथम खण्ड*—यह इस ग्रन्थ का पाँचवा संस्करण है। पूर्व संस्करणों में मासिक प्रारम्भदायक व्याख्यानों का अभाव था, वह इसमें दूर कर दिया गया है। चित्र आर्टपेपर पर एक रंग में छपे हैं। प्रतिदिन के पाठ के लिये एक वेद मन्त्र भावात्मक व्याख्या और शब्दार्थ सहित रक्खा गया है। पुस्तक स्वाध्याय और प्रार्थना के लिये उत्तम और उपयोगी है। प्रथम खण्ड में चार मास के स्वाध्याय के निमित्त १२४ मन्त्र हैं। मूल्य २-०-०

डाकव्यय ०-५-६

३ *तरंगित हृदय*—इस कृति में लेखक ने अपने मानस-सर में उठने वाली विचारतरंगों के २१ शब्द चित्र संकलित किये हैं। स्वर्गीय स्वा० श्रद्धानन्द जी का कथन है—'तरंगित हृदय से निकली

हुई विचार तरंग माला को हृदय का हार बना कर जो शुद्ध हृदय सज्जन पहिरेंगे, मस्तिष्क को शान्त करने वाली सुगन्धी उन्हें अवश्य मिलेगी।

संगृहीत शब्द चित्र—

[१] नमस्कार–१; [२] तेरा कौन है?–४; [३] चातक का वैराग्य–८; [४] थीहड़ मार्ग–११; [५] सताने वाला कौन है?–१५; [६] प्रतिष्ठा–२०; [७] 'थोड़ा सा'–२३; [८] हंसता हूँ–४१; [९] सन्ध्या–४६; [१०] उद्बोधन–५०; [११] भयंकर–अग्निकाण्ड –५४; [१२] तेरी धोखेबाजी–६७; [१३] नग्नता–७४; [१४] मेरी यात्रा–७६; [१५] अदूरदृष्टि–८५; [१६] निराले आदमी–६३; [१७] ज्ञान की प्राप्ति–१००; [१८] घर का स्वामी–१०५; [१९] योगमय–१०८; [२०] चले चल–११३; [२१] ओह वह प्रार्थना –११७। छपाई आदि उत्तम। पाँचवा संस्करण। मूल्य १-४-० डाकव्यय ०-२-६

४ *मन नहीं टिकता क्या करें?*—इस जिज्ञासा पर आचार्य जी ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को समय-समय पर जो उत्तर दिये हैं वे यहाँ पर सुचारु रूप से संगृहीत हैं। इनमें मन को एकाग्र करने के उपायों का विवेचन किया गया है। पृष्ठ संख्या ७१।

मूल्य ०-३-० डाकव्यय ०-१-६

५–वेदरहस्य—३ खण्ड

इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने श्री अरविन्द की अनुमति से उनके 'The Secret of the Veda' का हिन्दी अनुवाद किया है। आवश्यक स्थल पर संक्षिप्त कथन को कुछ समझा कर लिखा गया है तथा अन्य परिवर्तन भी किए गये हैं जिससे यह पुस्तक उपयोगी हो गई है वहां अनुवाद होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बन पड़ी है।

प्रथम खण्ड में वेद का प्रतिपाद्य विषय, द्वितीय में चुने हुए सूक्तों [illegible] अनुवाद और तीसरे में देवताओं के स्वरूप का विवेचन है।

खण्डशः विषय सूची—

विश्वव्यापी देव–१४५; [१३] सोम, आनन्द व अमरता का अधिपति–१५६।

तृतीय खण्ड—[१] (श्री अरविंद का) प्राक्कथन–६; [२] वैदिक यज्ञ और देवताओं के रूपक–३६; [३] पराशर ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल-१)–५०; [४] परुच्छेप ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल-१)–७६; [५] गृत्समद ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल २)–८४; [६] भरद्वाज ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल-६)–१२२।

छपाई आदि सुन्दर और आकर्षक।

मूल्य अजिल्द क्रमशः ८), ३), ४);

सजिल्द क्रमशः ६), ४), ५)।

डाक व्यय (साधारण) क्रमशः—

अजिल्द—०-६-०; ०-५-६; ०-५-६

सजिल्द—०-६-६; ०-६-०, ०-५-६

विज्ञापक और प्रापक

भारती मन्दिर, नईबस्ती, खुर्जा (उ०प्र०)

पुस्तक विक्रेता व प्रकाशक

कंसल प्रेस नई बस्ती, खुर्जा

पं० उदयवीर शास्त्री,

सांख्य दर्शन का इतिहास—

(सांख्य विषयक बहिरंगपरीक्षात्मक मौलिक ग्रन्थ)

सुन्दर छपाई और कागज – कपड़े की जिल्द पृष्ठ ३२ + ६०६ आकार २०×३०=८   ३०) डाकव्यय (साधारण १=)

लेखक की विद्वत्ता उनकी उपाधियों से ही आँकी जा सकती है। आप विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्यायतीर्थ, सांख्य-योग तीर्थ और वेदान्ताचार्य हैं। अपनी भूमिका में श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं—'सांख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन एक प्रकार से प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारों के सर्वाङ्गीण इतिहास से सम्बन्धित है। श्री उदयवीर जी ने अत्यन्त श्रम, धैर्य, विस्तृत अध्ययन और सूक्ष्म विवेचनात्मक प्रणाली से सांख्यदर्शन के इतिहास—विकास की सभी प्रधान समस्याओं पर प्रकाश डाला है, उन्होंने अपने ग्रन्थ के दो भाग किये हैं। प्रस्तुत भाग जो स्वयं काफी विस्तृत है, सांख्य शास्त्र की एक प्रकार से बहिरंग परीक्षा है। '

श्रीयुत शास्त्री जी की जो स्थापना सब से अधिक माननीय महत्त्वपूर्ण और स्थायी मूल्य की कही जायगी, वह यह है कि षडध्यायात्मक सूत्रों के रूप में निर्मित जो शास्त्र है, जिसका प्राचीन नाम 'षष्टितन्त्र' था, उसके कर्त्ता कपिल थे। · षष्टितन्त्र को मूल ग्रन्थ मानने के विरोध में तीन युक्तियाँ दी जा रही हैं। शास्त्री जी ने बहुत ही प्रामाणिक ढंग से सम्भवतः पहली बार ही इन युक्तियों का आमूल निराकरण किया है। ... ... · · ..

डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने अपने प्राक्कथन में लिखा है—प्रसन्नता की बात है कि हमारे प्राचीन मित्र श्री प० उदयवीर शास्त्री जी ने जो

साँख्य दर्शन के गिने चुने विद्वानों में हैं, सांख्यदर्शन का दार्शनिक तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से वर्षों तक गम्भीर अनुशीलन करने के पश्चात् अपने विचारों को लेखबद्ध किया है। प्रस्तुत पुस्तक में सांख्यसाहित्य के क्रमिक इतिहास की दृष्टि से अपने विचारों का विद्वत्तापूर्ण शैली से निरूपण किया है। ग्रन्थ आपके गम्भीर अध्ययन और अध्यवसाय का ज्वलन्त प्रमाण है! आपके विचारों से सर्वत्र सहमति हो या न हो, पर ग्रन्थ की उपयोगिता और उपादेयता में सन्देह हो ही नहीं सकता। हमें पूर्ण आशा है कि विद्वन्मण्डली उत्साह के साथ हृदय से इस ग्रन्थ का अभिनन्दन और स्वागत करेगी।

पुस्तक आठ प्रकरणों में समाप्त हुई है जिनके नाम हैं—(१) महर्षि कपिल-१-६६; (२) कपिल प्रणीत षष्टितन्त्र-७०-१०३; (३) षष्टितन्त्र अथवा साँख्यषडध्यायी-१०४-१७३; (४) वर्तमान साँख्यसूत्रों के उद्धरण-१७४-२२२; (५) साँख्यषडध्यायी की रचना-२२३-२७६, (६) सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार-२८०-३३७, (७) सांख्यसप्तति व्याख्याकार-३३८-४७३, (७) अन्य प्राचीन सांख्याचार्य-४७४-५६६।

भारती मन्दिर, खुर्जा (उ० प्र०)
पुस्तक विज्ञापक, प्रापक, प्रकाशक व विक्रेता

संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदकी

(वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, मेघदूत और उस की वैदिक पृष्ठभूमि, दशकुमारचरित, शुकनासोपदेश, गद्यपारिजातविवरण, संस्कृत व्याकरण, अर्थव्यञ्जकतांचित्र, नेचर श्रीफ वैदिक शास्त्राज़ और ऋग्वेद का धर्म, पारस्कर गृह्यसूत्रस्थ उपनयन सूत्र और वैदिक सूक्तसंग्रह आदि के प्रख्यात, मौलिक और ससार लेखक तथा सम्पादक)

डा० सुधीर कुमार गुप्त एक प्रसिद्ध और अनुभवी विद्वान् हैं। आप की लेखनी में शक्ति है, भाषा में ओज और बल हैं। विषयवर्णन में गाम्भीर्य सरलता, स्पष्टता, विशदता और नई दृष्टि हैं। आप की शैली युक्तियुक्त और प्रवाहशील हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य के विकास का एक सुगम, संश्लिष्ट अनति संक्षिप्त और क्रमिक परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। इस का पहला संस्करण १९५१ में रोहतक से एक सहायक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था। उस में लगभग १६० पृष्ठ थे। अध्यापकों ने उस की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की। विद्यार्थियों में वह इतना प्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही वह संस्करण समाप्त हो गया।

अब यह दूसरा संस्करण नई सजधज के साथ प्रकाशित किया गया है। इस में ग्रन्थ की काया ही पलट गई है। इस का आकार पहले से कई गुना बढ़ गया है। इस में कुल ६१० पृष्ठ हैं।

इस संस्करण में अनेकों नये विषय सम्मिलित कर दिये गए हैं। पहले से विद्यमान विषयों में आवश्यक परिवर्तन और संशोधन भी कर दिये गये हैं, यथा नाटककार और काव्यकार कालिदास के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व का सम्पादन

और उन की तिथि, उपमा कालिदासस्य, भास और शूद्रक की तिथि और व्यक्तित्व तथा नाटक की उत्पत्ति के वादों के स्थल।

इस संस्करण में कवियों के गुण दोषों के साथ उन के ग्रन्थों के सार और अन्य कवियों से तुलना भी दिए गए हैं। पादटिप्पणियों में B. A., B. A. Hons., M. A., I. C. S., I. A. S., P. C. S. आदि परीक्षाओं से प्रत्येक विषय से सम्बन्धित प्रश्न संगृहीत किए गये हैं। इस से पुस्तक पाठ्यपुस्तक होते हुए सहायक पुस्तक का भी काम करती है।

इस प्रकार इस पुस्तक का क्षेत्र विस्तृत हो जाने और स्तर के ऊँचा हो जाने से यह न केवल समस्त विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं और प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए परम उपयुक्त है, प्रत्युत समस्त संस्कृत, हिन्दी और भारतीय इतिहास के विद्वानों, समालोचकों, भारतीय-साहित्य-सेवियों और जनसाधारण के लिए पठनीय है।

आगे दी हुई विषय-सूची से ग्रन्थ के स्तर और क्षेत्र का अनुमान सहज में ही किया जा सकेगा।

विषय-सूची

८. औपदेशिक जन्तुकथायें (नीतिकथायें) और लोकप्रिय कथायें १८२ अ—२१६ अ

१:

डा० सुधीर कुमार गुप्त-का

१ दशकुमारचरिते प्रथमोच्छ्वासः

२ दशकुमारचरितम् (पू० पी० १–२, उ० पी०)

३ शुकनासोपदेशः

४ Nature of Vedic Shakhas

५ Authorshit of Some of the Hymns
of the Rigveda

६ वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन का सार

७ ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख
विस्तृत सूची पत्र मगांएं।

सूचना—डाक द्वारा मन्दिर से मंगाई हुई स्वप्रकाशित सभी पुस्तकें नापसन्द होने पर पहुंच की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय। रजिष्ट्री द्वारा विक्रेय योग्य टकसाली अवस्था में लौटाने पर ग्राहक को उस से लिया हुआ मूल्य मात्र मनी आर्डर से लौटा दिया जायगा।

भारती मंदिर, अनुसन्धान शाला,
8 हीरापुरी, गोरखपुर।

भारत प्रेस, गोरखपुर।